फकीरमोहन सेनापति

आत्मजीवनचरित

भारतीय साहित्य निधि

फकीरमोहन सेनापति

आत्मजीवनचरित

अनुवादक

श्रीनिवास उद्गाता

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

अनुक्रम

	भूमिका	सात
1.	वंशलता	1
2.	शैशव की बातें	3
3.	विद्यारंभ—1852	5
4.	अज्ञाल की सिलाई	9
5.	कचहरी में कार्य-शिक्षा	10
6.	कचहरी के चक्कर काटना	13
7.	बाराबाटी स्कूल में अध्ययन	14
8.	मेरी नौकरी (चाकरी)	18
9.	बाराबाटी स्कूल की उन्नति	21
10.	बालेश्वर मिशनरी स्कूल में काम	25
11.	कटक नार्मल स्कूल में पंडिताई	31
12.	अंग्रेजी सीखने की इच्छा और शिक्षारंभ	32
13.	ओड़िसा में अकाल	37
14.	ठाकुरमां की परलोक-यात्रा	42
15.	बालेश्वर में प्रेस कंपनी की स्थापना	44
16.	देहात में स्कूल खोलने की चेष्टा	54
17.	ओड़िआ भाषा का संकट	55
18.	साधारण शिक्षा और उच्च शिक्षा	58
19.	स्कूल कमेटी की सदस्यता	60
20.	समाज की रीति-नीति में परिवर्तन	62
21.	ब्राह्म-धर्म ग्रहण	65
22.	द्वितीय विवाह	69
23.	नीलगिरि में दीवानी	72
24.	कटक-यात्रा	78
25.	डोमपड़ा में दीवानी	80
26.	ढेंकानाल में असिस्टेंट मैनेजरी	104
27.	दशपल्ला में दीवानी	126
28.	पाललहड़ा में दीवानी	150

29.	केऊंझर में मैनेजरी	154
30.	केऊंझर में प्रजा-विद्रोह	159
31.	विद्रोह के बाद की स्थिति	181
32.	डोमपड़ा में दूसरी बार दीवानी	185
33.	कटक में स्थायी आवास	191
34.	बालेश्वर-निवास	197

भूमिका

"पिछले चार-पांच साल से मेरे कुछ मित्र और कुछ युवा, जो कि मेरे बेटे जैसे हैं, मुझसे बार-बार अनुरोध करते आ रहे हैं कि मैं अपना आत्मचरित लिखूं। मेरे लिए उनके अनुरोध की उपेक्षा करना सरल नहीं है। वैसे भी ओड़िआ भाषा में आत्मकथापरक साहित्य का एकांत अभाव है। मेरे क्षुद्र जीवन में इस प्रयोजन के लिए आवश्यक सामग्री कहां? न ही मेरे पास इतना लेखन-कौशल ही है कि मैं पाठक की जिज्ञासा जागृत कर सकूं। अगर मेरे पास ऐसे किसी दुस्साहस के लिए कोई औचित्य है भी तो वह यही कि आसन्न भविष्य में हमारी इस पुण्य भूमि में आत्मकथा लिखने वाले अनेक लोग होंगे। मैं वैसे ही लोगों के लिए आत्मकथा लेखन का श्रीगणेश भर कर रहा हूं।...." ('आत्मजीवनचरित' 1917 की प्रस्तावना में)

फकीरमोहन ने अपनी आत्मकथा अपने जीवन के अंतिम वर्षों में लिखी, जो इस लघु टिप्पणी के साथ 1917 में प्रकाशित हुई। यह उनकी अंतिम रूग्णावस्था से ठीक एक वर्ष पहले की बात है। आज जब हम मुड़ कर अतीत की ओर देखते हैं तो यह पाते हैं कि उनके शब्द कितने सत्य और अर्थपूर्ण थे। सच पूछिए तो तब तक ओड़िआ में आत्मकथा की विधा में कोई रचना नहीं थी। आज जब हम अपने इर्द-गिर्द नजर डालते हैं तो उस समय के बाद से ही आत्मकथाओं की एक भव्य शृंखला नजर आती है। आत्मकथा लिखने वालों में लेखक भी हैं और कलाशिल्पी भी हैं। इन्हें सार्वजनिक जीवन में अग्रणी व्यक्तियों ने भी लिखा और राजनीतिज्ञों ने भी। इनमें कालिंदी चरण पाणिग्रही, कुंज बिहारी दास, कालिचरण पटनायक, सुरेंद्र मोहंती, रमा देवी, हरिहर महापात्र, हरेकृष्ण महताब, पवित्र प्रधान, नीलमणि राउतराय और गोपीनाथ मोहंती आदि अनेक उल्लेखनीय व्यक्ति हैं।

शची राउतराय की आत्मकथा के पहले कुछ अध्याय एक साहित्यिक पत्रिका में अभी-अभी प्रकाशित हुए हैं। ये सब समवेत रूप में आत्मकथा लेखन-कौशल के विस्तार और वैविध्य को अभिव्यक्त करते हैं --- घटनापरक ऐतिहासिक आत्मकथाओं से लेकर रागात्मक आत्मनिरीक्षणपरक आत्मकथाओं तक, समकालिक व्यक्तियों और घटनाओं के आख्यान से लेकर विशुद्ध आत्मस्वीकृतिपरक वृतांत तक। सब मिलकर हमारे युग के जीवन को उद्घाटित करते हैं --- हमारा सामाजिक ताना-बाना, हमारा राजनैतिक अभ्युदय, हमारे गणमान्य व्यक्तियों के जीवन के घात-प्रतिघात। संक्षेप में व्यक्ति और उसके युग के अंतर्द्वंद्वों का रूपांकन।

कैसी है यह सच्ची आत्मकथापरक सामग्री, जिसके अभाव की चर्चा फकीरमोहन ने अपने आत्मचरित में की है। क्या वे महत्वपूर्ण युगांतरकारी घटनाएं हैं, जो अंततः इतिहास लेखन के लिए आधार-सामग्री प्रदान करती हैं और यथार्थ में ऐतिहासिक शोध और अध्ययन का

विषय हैं? क्या वे रचनाकार के जीवन की अंतरंग झांकी हैं; उसके कल्पनालोक का अंतर्दृश्य है, जो घटना-चक्र पर अवलंबित है और उसके जीवन के कालखंड को चित्रित करता है : जो रूपायित करता है उसका सुख और दुख तथा उसका उल्लास और उसके आंसू। निश्चय ही आत्मकथा के विषय--अपने रंग, अपने प्रकार तथा अपनी शैली में परस्पर भिन्न हैं और विविधता लिये हुए हैं। अक्सर सार्वजनिक घटनाएं और रचनाकार का अपना संसार एकाकार हो जाते हैं। प्राय: आत्मकथाकार सामाजिक और राजनैतिक विकास में भाग लेने वाला एक पात्र होता है। बहुधा वह एक तटस्थ दर्शक है, जो अपने आस-पास के जीवन से संपृक्त होता हुआ भी विवेकपूर्ण संस्कारशील तटस्थता की सीमा तक उससे अलग रहता है। यही नहीं, कुछ आत्मकथाएं अधिक आत्मस्वीकृति-मूलक होती हैं, कम से कम रचयिता के जीवन को अनावृत करने के लिए कृतसंकल्प होती हैं तथा उनमें रचनाकार को महान सिद्ध करने की कोशिश नहीं होती। एक मोहनदास करमचंद गांधी हमारे देखते-देखते महापुरुष का रूप धारण कर लेता है-- पग-पग पर भूल करने वाले एक औसत नवयुवा की परिणति महात्मा के रूप में हो जाती है। हम उसके जीवन के विकास, सत्य की उसकी खोज तथा चरम प्रामाणिकता के लिए उसके संघर्ष में अपने आपको भागीदार अनुभव करने लगते हैं। सच्चे अर्थों में वह सत्य का प्रयोग बन जाता है। औरों में हम प्रधानत: सार्वजनिक मुखौटा देखते हैं, जिसकी ओट में वास्तविक व्यक्ति पूरी तरह से छुप-सा जाता है।

क्या फकीरमोहन का जीवन महत्वपूर्ण घटनाओं से नितांत शून्य था? वस्तुत: कोई भी यह सवाल कर सकता है कि आखिर महत्वपूर्ण है क्या? दीखने में एक लघु घटना अंतर्मन में भावनाओं का उद्दाम ज्वार पैदा कर सकती है, उसी तरह से जैसे कि कोई दर्दनाक सार्वजनिक घटना। उदाहरण के लिए एक तरफ उड़ीसा का 1866 ईस्वी में पड़ा दारुण अकाल और दूसरी तरफ उसके एक वर्ष बाद फकीरमोहन की दादी की मृत्यु। दोनों ही घटनाओं ने उनके अंतस्तल को गहराई तक झकझोर दिया। उनकी आत्मकथा में दोनों करुण अध्याय हैं। उनके लेखन में गहराते हुए अकाल का एक दूसरा ही चित्र उभरता है। उड़ीसा के तटवर्ती क्षेत्रों के ग्रामीण अंचल में विनाश और मृत्यु के तांडव का, एक ऐसी विभीषिका का, जिसका ज्ञान अकाल के किसी भी सरकारी अभिलेख से अथवा अकाल के संबंध में नियुक्त आयोग की रिपोर्ट से (जिसका उल्लेख बकलेंड प्रणीत 'बंगाल अंडर दि लेफ्टिनेंट गवर्नर्ज़' में मिलता है) होता है। फकीरमोहन के चित्रण में हम लोगों को क्रूर काल का ग्रास बनता हुआ देखते हैं न कि उसमें पाते हैं नीरस आंकड़ों का घटाटोप या अंबार। एक और दिन के लिए अथवा चंद घंटों के लिए मृत्यु को टालने के लिए अन्न की खोज में लोगों की लंबी कष्टमय यात्रा पल भर में हमारी नजरों के आगे से गुजर जाती है। हम पाते हैं भूख से बेहाल लोगों को इमली के पेड़ों पर, जहां-तहां चढ़े बंदरों की तरह उनकी कोंपलों को चबा कर अपनी भूख मिटाते हुए। गहरी धंसी आंखें, मुट्ठी भर हड्डियों का एक ढांचा भर रह गये लोग : एक जवान मां के रस्सी की तरह झूलते हुए सूखे स्तनों से लगे होंठ : देखते हैं बालासोर की

एक मरियम को, सूली पर चढ़ा दिये गये ईसा को अपनी बांहों में लिये डोलते हुए। गलियों में, जंगल के टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर, नदियों के तट पर, चावल के खेतों की मेढ़ों पर–सर्वत्र छितरी पड़ी अनगिनत लाशें: मौत और तबाही का विवरण समान रूप से करुण और हृदयविदारक है। दृष्टिगोचर होती हैं बर्बाद हो रही फसलें तथा मेघशून्य आकाश। एक एक कर निरंतर कई महीने गुजरने के बावजूद आशा की कोई भी किरण दूर-दूर तक नजर नहीं आती। गांवों को छोड़-छोड़ कर भागते हुए लोगों का एक अंतहीन सिलसिला, मौन खड़े सूने-उजड़े घर, जिनमें रहने वाले लोग बाहर अन्न की भीख मांगते नजर आते हैं अथवा दीखते हैं अपना सब कुछ गिरवी रखकर या बेचकर मुट्ठी भर अनाज जुटाने की कोशिश करते हुए। सुनाई पड़ती है पानी के लिए रोंगटे खड़े करने वाली चीख-पुकार। ये हैं नग्न, निर्मम और निष्ठुर चित्र जो आत्मा को गहराई तक चीर देते हैं। हम लेखक को अपने प्रातःकालीन स्नान-ध्यान के बाद चावल के नष्टप्राय खेतों के बीच बैठकर एक अदृश्य सत्ता के सम्मुख सिर झुकाये हुए प्रार्थनालीन पाते हैं। इस दारुण अकाल को लेखक ने बहुत ही निकट से देखा और स्वयं भोगा था जिससे उसका विवरण आयोग और अन्य सरकारी आंकड़ों से अधिक सुस्पष्ट और विश्वसनीय बन गया है।

फकीरमोहन के बचपन में ही उनके माता-पिता का देहावसान हो गया था। उनके पिता पुरी की रथ-यात्रा पर गये और वहीं हैजे का शिकार हो गये। उस समय फकीरमोहन की आयु केवल सत्रह महीने थी। इस मौत से उसकी मां इतनी शोकाकुल रहने लगीं कि उन्होंने बिस्तर पकड़ लिया और चौदह महीने बाद वे भी चल बसीं। वे लिखते हैं "मेरी आयु के अनेक लोग जो स्वस्थ भी थे और सुखी भी, कभी के काल-कवलित हो गये, लेकिन मैं अभागा जो कि एक अनाथ था और जन्म से ही हमेशा रुग्ण रहता था, अनेक विभीषिकाओं से जूझता हुआ आज अपने जरा-जर्जर तथा कमजोर हाथों से अपनी आत्मकथा लिखने जा रहा हूं। और यह आप बीती भी क्या है–एक लंबी जिंदगी की अर्थहीन कहानी। इसके लिए कौन मुझे प्रेरित कर रहा है, कौन कर रहा है मेरी सहायता और किसका है यह आशीर्वाद? घास के एक तिनके की जिंदगी भी निष्प्रयोजन नहीं होती। मुझे इतनी लंबी आयु देने के पीछे क्या हो सकता है परमात्मा का उद्देश्य?" (आत्मकथा का पृष्ठ 5)

यह है एक संवेदनशील आत्मा का आर्त्तनाद; एक ऐसे व्यक्ति की मनोव्यथा, जो अपनी दादी कुचिला देई की निरंतर ममतामय देखभाल के बावजूद बार-बार की बीमारी के कारण लगभग अधमरा-सा ही जिया। "भुखमरी में उसने मेरे लिए न जाने कितने दिन और रातें पलक झपकाये बिना गुजार दीं। लगता है एक हाथ से मृत्यु मुझे अपनी ओर खींच रही थी तो दूसरे हाथ से ठाकुरमां अपनी ओर। और अंत में जीत ठाकुरमां की हुई।" (आत्मकथा का पृष्ठ 6)

इस प्रकार ब्रजमोहन फकीरमोहन बन गया, क्योंकि ठाकुरमां ने उसकी जीवनरक्षा के लिए उसे पीरों की शरण में दे दिया। लेकिन नहीं, वे उसे अंततः छोड़ नहीं पायीं। हर साल,

सिर्फ एक बार मोहर्रम के दिनों में "मुझे 8 दिन के लिए फकीर बना दिया जाता। ऊपर से नीचे तक मेरी वेशभूषा एक फकीर की होती। घुटनों तक चढ़ा एक अधोवस्त्र, शरीर पर एक बहुरंगी चपकन, सिर पर फकीर की टोपी, कंधों से लटकता हुआ एक रंगबिरंगा थैला और हाथ में लाल रंग की एक छड़ी। मेरे मुंह पर चाक पाउडर पोत दिया जाता और मैं गांव में घर-घर जा कर भीख मांगता। दिन भर में जो कुछ भीख में मिलता उसे बेचने से मिला पैसा पीरों की सीरनी के लिए भेंट चढ़ा दिया जाता।"

काश इस कलाविद् का उस आयु का एक चित्र ही उपलब्ध होता।

1867 में ठाकुरमां का यकायक चल बसना फकीरमोहन के लिए एक बहुत बड़ा आघात था। एक पूरा अध्याय फकीरमोहन के जीवन का अंतरंग चित्र प्रस्तुत करता है। ठाकुरमां मृत्यु के समय चौहत्तर वर्ष की थीं। लेखक ने बताया है कि वे पूर्णत: आस्थावान थीं। अक्सर धार्मिक अवसरों पर उपवास रखती थीं। उन दिनों बैलगाड़ी सवारी का एकमात्र साधन होती थी, लेकिन उस पर वे कभी नहीं चढ़ती थीं (क्योंकि बैल पूज्य माने जाते थे)। वे नियमित रूप से पवित्र माला के मनके फेरती थीं तथा गांव में रहने वाले अन्य लोगों की स्वास्थ्यरक्षा के लिए परंपरागत तौर-तरीकों पर अमल करती थीं।

इसके बाद हमें फकीरमोहन के समसामयिकों का विवरण मिलता है, वे जो उनके अंतरंग साथी थे और आधुनिक उड़ीसा में, उसके सार्वजनिक जीवन और साहित्यिक जगत में प्रमुख स्थान रखते थे। उनमें राधानाथ, मधु सूदन राव (जिन्होंने फकीरमोहन के लिए "धूर्जटी" उपनाम चुना। इस नाम से फकीरमोहन ने अपनी अनेक साहित्यिक कृतियां प्रकाशित कीं), मधु सूदन दास, नंद किशोर बाला, गोपबंधु दास आदि अग्रगण्य हैं। यह सच है कि उनके संबंध में बहुत से संस्मरण अपेक्षाकृत संक्षिप्त हैं। काश वे अधिक लंबे होते और उनमें अधिक आत्मीय ब्यौरा होता। इनमें से सिर्फ राधानाथ रे ही ऐसे हैं, जिनका चित्रांकन कुछ विस्तार से किया गया है। उच्च शिक्षा के लिए उनका कलकत्ता के लिए प्रस्थान तथा अध्ययन के लिए आवश्यक धन जुटा पाने में असमर्थता के कारण कलकत्ता से उनकी वापसी, बालासोर में उनके निवास तथा उनके जीवन के दूसरे अनेक पहलुओं पर बहुत ही सुंदर ढंग से प्रकाश डाला गया है। और फिर परिहास की अपनी विशिष्ट शैली में फकीरमोहन ने धमरा नदी पर स्टीमर से अपनी साथ-साथ यात्रा का विवरण दिया है। जैसे-जैसे स्टीमर आंधी और तूफान में झकोले खाता हुआ बढ़ता गया राधानाथ की घबड़ाहट बढ़ती गयी और उन्होंने अधिक अफीम ले ली। इस पर फकीरमोहन ने हास्य और व्यंग्य के अपने खास अंदाज में लिखा "राधानाथ को अभी अपना 'महायात्रा' काव्य लिखना था, इसलिए अच्छा ही हुआ कि उस दिन वह महायात्रा पर नहीं गया। और स्वयं मैं उसके पुण्यों के प्रताप से जिंदा रहा।"

आत्मचरित में लेखक ने अपनी शिक्षा-दीक्षा, और उस समय की प्रारंभिक पाठशाला और उन छोटी-छोटी नौकरियों का विवरण भी प्रस्तुत किया है जो उन्होंने की थीं। भूतपूर्व रियासतों में दीवान के पद पर कार्य करते हुए बार-बार कठिन परिस्थितियों से, जैसी कि

केऊंझर में जन-विद्रोह के दौरान उत्पन्न हो गयी थी, निपटने में उन्होंने जो दूरदर्शिता दिखाई उसका उल्लेख बड़े चाव से करते हैं। वे विभिन्न अवसरों पर अपनी सूझबूझ, चतुराई तथा अपने द्वारा 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का सहारा प्राय: लिये जाने का उल्लेख करते हैं। वे ऐसी घटनाओं के संबंध में भी, जिनमें वे अधिक कठोर अथवा निष्ठुर प्रतीत होते हैं, लीपापोती का कोई प्रयास नहीं करते।

आत्मचरित में उनकी काव्य रचना के बारे में भी बहुत कुछ जानकारी मिलती है। उन्होंने बताया कि किस प्रकार उनकी अधिकांश कविताओं की रचना उन दिनों हुई, जिन दिनों वे कटक में अपने निवास-स्थान पर रह रहे थे-- "इसी घर में मेरे जीवन के अंतिम दिनों की अधिकतर कविताएं सृजित हुईं। एक दिन मैंने रजनीगंधा के खिले हुए फूलों की एक कतार देखी और किसी दूसरे दिन देखा गुलाब के फूलों का एक गुच्छा। बस मैंने उनके विषय में कविता करनी आरंभ कर दी। मैंने सोनपंखी के जोड़े को अक्सर महीनों, लगभग हर रोज अपने पुष्पोद्यान में आते देखा। वे नियमित रूप से प्रात: 9 बजे मेरे पुष्पोद्यान में आ जाते और तरह-तरह के कौतुक दिखाने लगते। मैंने उन पर भी एक कविता लिखी। मैंने एक और कविता लिखी जिसमें मैंने आकाश में साथ-साथ उड़ते हुए कबूतरों को दूर जाते हुए वर्णित किया। मैं एक शाम कठजोड़ी नदी के पत्थर के पुश्ते पर अकेला बैठा हुआ था। उस समय मेरे मन में जो विचार उठे, उन्हें लेकर मैंने एक और कविता लिखी।" (आत्मकथा का पृष्ठ 195) वे यह भी बताते हैं कि किस प्रकार उन्होंने पूर्व रियासतों में अपनी नौकरी के दौरान पूरे दस साल तक कोई कविता नहीं लिखी। उन्होंने उपन्यास लिखना भी अपने जीवन में काफी बाद शुरू किया। कटक में ही उन्होंने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'छमाण आठगुंठ' और 'लछमा' (मूल नाम 'अपूर्वमिलन') लिखे। 'मामू' और 'प्रायश्चित' उपन्यास, 'बौद्धावतार' काव्य तथा 'आत्मजीवनचरित' बालासोर में 1905-18 के बीच लिखे गये।

फकीरमोहन महान सहिष्णुता तथा मानसिक दृढ़ता के धनी उपन्यासकार थे। उन्हें हास-परिहास की विलक्षण समझ थी। उन्होंने दुखों व एकाकीपन में काव्य के प्रच्छन्न स्रोतों का संधान किया।

इस प्रकार उनकी आत्मकथा उनके व्यक्तित्व, उनकी रचनाओं, उनके समसामयिक लेखकों और उनके युग पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है।

यह उनकी विनम्रता ही है, जिसके वशीभूत होकर वे यह कहते हैं कि उनका जीवन घटना-विहीन रहा और उनके जीवन की कोई घटना महत्वपूर्ण नहीं है। जहां तक उनके इस कथन का संबंध है कि उन्हें लिखने का ऐसा कोई कौशल नहीं आता जो पाठकों के मन को मोह ले, यह निश्चय ही सत्य से कोसों दूर है। उनकी भाषा सपाट, आडंबरहीन, तथा सीधी-सरल है, लेकिन अक्सर उसमें प्रांजलता, उदात्तता, प्रत्युत्पन्नता और हास्य-व्यंग्य के गुण भी परिलक्षित होते हैं तथा वह मानवता का सार्वभौम संदेश भी देती है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि फकीरमोहन, जिसने ओड़िआ गद्य शैली को एक नयी दिशा

दी, सहज ही आधुनिक भारतीय कथा-साहित्य के प्रवर्तकों में से एक थे और उनका व्यक्तित्व निश्चय ही आकर्षक और प्रेरक था, जो अपनी सहज़ता और खरेपन में अपना कोई सानी नहीं रखता। यह आत्मकथा ओड़िआ भाषा की मेरी प्रिय पुस्तकों में से एक है।

यह बड़ी ही खुशी की बात है कि अनुवादक श्रीनिवास उद्‌गाता ने इस आत्मजीवनचरित का हिंदी में अनुवाद करके इस उत्कृष्ट रचना को हिंदी के पाठकों के लिए भी सुलभ करा दिया है। इसके लिए भी उद्‌गाता को मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूं! नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया ने इसका हिंदी अनुवाद प्रकाशित कर इस दिशा में एक और उल्लेखनीय योगदान किया है, इसके लिए मैं उन्हें बधाई देता हूं।

– सीताकांत महापात्र

1. वंशलता

जिला कटक, सबडिविजन केंद्रपड़ा के अंतर्गत कुशिंदा नाम के गांव में क्षमताशाली 'खंडायत' वंश के अधीन एक 'चौपाढ़ी' थी। वह खंडायत वंश सुदीर्घ काल से उत्कल के भूतपूर्व स्वाधीन महाराज-प्रदत्त विशाल भूसंपत्ति का उपभोग करता आ रहा था। कहा जाता है कि मराठों के उत्कल पर अधिकार करते समय यह संपत्ति तितर-बितर हो गई थी।

मराठों के अधिकार के समय उस खंडायत वंश के 'हनुमल्ल' नामक एक युवक, मराठा सेनापति के अधीन सैनिक के पद पर नियुक्ति पाकर पहले-पहल बालेश्वर आए थे। पठान सेना को रोकने के लिए फूलवार घाटी में संतरी बनकर रहना उनका काम था और अपने इस कार्य के लिए उन्हें करमुक्त पैंतालीस बीघा जमीन मिली थी। दलपति हनुमल्ल के अधीन और भी सैनिक थे। उनके लिए भी स्वतंत्र रूप से करमुक्त पाइकाना जमीन थी। संवत् (ओड़िआ) 1250 के पिछले बंदोबस्त तक पाइक-वंश इन्हीं जमीनों का निर्विवाद भोग-दखल करते आए थे। बंदोबस्त के समय तक पाइक-वंश के कई परिवार विलुप्त हो गए थे। जो अपनी-अपनी सनदें दिखा पाए उन्हीं की जमीनें बहाल रहीं। सनदहीन पाइकों की जमीन जब्त हो गई।

हनुमल्ल को मराठों से 'सेनापति' पदवी मिली थी। उनके अयोग्य वंशज अपनी वंश-संज्ञा का त्याग कर, भूमिहीन, सेनाहीन होकर भी 'सेनापति' पदवी का उपभोग करते आ रहे हैं; केवल पितृश्राद्ध या उस जैसे किसी धर्मानुष्ठान के समय वे अपनी 'मल्ल' संज्ञा का उल्लेख मात्र करते हैं।

मराठों से मिली जागीरी जमीन पर इस वंश का अधिकार समाप्त होने की घटना भी रहस्यमय है। ईस्ट इंडिया कंपनी के बालेश्वर पर अधिकार करते समय (सन् 1803 ई.) लेखक की पितामही कुचिलादेई युवती विधवा थीं। गोद में चार और दो साल उम्र की दो संतानें थीं।

ठाकुर मां कहानी सुनातीं, कि कंपनी की फौज दक्षिण और पूर्व दोनों ओर से बालेश्वर आई थी। फौज की, बालेश्वर के पूर्वांचल के नदी-मुहाने पर स्थित बलरामगढ़ नामक जगह पहुंचने की खबर पाकर गांव वाले जान बचाने की धुन में घर की सारी चीजें छोड़ सिर्फ परिवार वालों को साथ लेकर जंगलों में भाग गए थे। थोड़े ही दिनों में देश में शांति स्थापित हो गई। कंपनी बहादुर की अभय घोषणा सुनकर गांव वाले अपने-अपने घरों को लौट आए। कई तो इस कदर त्रस्त होकर गए थे कि अपने घरों के किवाड़ बंद करने तक के लिए उन्हें समय नहीं मिला। जब अपने घरों को लौटकर आए तो उन्होंने देखा कि उनकी बाड़ियों में फल पककर झर भी गए हैं। सब अपनी जान बचाने की फिक्र में थे, चोरी के लिए चोर कहां से आते !

लेखक ने बचपन में इस घटना के चश्मदीद गवाह गांव के बड़े-बूढ़ों से सुना है कि मराठों के शासन-समाप्ति के समय देश भर में ऐसी अराजकता थी कि चोर, डाकू, नागा संन्यासियों के अत्याचार आदि के कारण लोग सोना-चांदी, कांसा-पीतल तक अपने घरों में खुलकर रखने का साहस नहीं करते थे। आम जनता अति दरिद्र और भयभीत थी। उस समय की तुलना में अब हम स्वर्ग में रहते-बसते हैं।

ओड़िसा या बालेश्वर में ईस्ट इंडिया कंपनी के सुशासन की प्रतिष्ठा के कुछ ही महीने बाद सरकार बहादुर ने राज्य भर में ऐलान कर दिया कि मराठों के शासन-काल में जिसका जैसा वृत्ति-विधान था, ठीक वैसा ही रखा जाएगा। किसी की संपत्ति में हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा। वृत्तिधारी निर्धारित तारीख को अपनी-अपनी सनदें लेकर कचहरी में हाजिर हों और कलेक्टर साहब के पास अपने नाम लिखवा लें। इस सरकारी घोषणा का मतलब न समझकर या शंकावश अधिकांश वृत्तिधारी कचहरी में हाजिर नहीं हो पाए। उन्हें हाजिर करने के लिए परवाना लेकर सिपाही भेजे गए। एक सिपाही परवाना लेकर हमारे घर भी आया था। उस समय ठाकुर मां अल्पायु विधवा थीं। सरकारी सिपाही को आया देख उन्होंने गांव वालों की शरण ली। निर्बोध गांव वालों की राय के अनुसार वे लोग इस निर्णय पर पहुंचे कि मराठों की तरफदारी करने वालों को मारने के लिए बुलाया गया है। ठाकुर मां ने डर के मारे दोनों बच्चों को घर के कोने में सुलाकर उन्हें चटाई ओढ़ा दी और किवाड़ की आड़ में से जवाब दिया–"इस घर में एक भी मर्द नहीं, हमें कोई जमीन नहीं चाहिए।" उपस्थित गांव वालों ने ठाकुर मां की बातों का समर्थन किया तो सिपाही लौट गया और हमारे वंश से जागीरी जमीन जाती रही।

पूर्वोक्त हनुमल्ल के साथ मेरे संबंध का अनुमान निम्नलिखित वंशलता से लगाया जा सकता है :
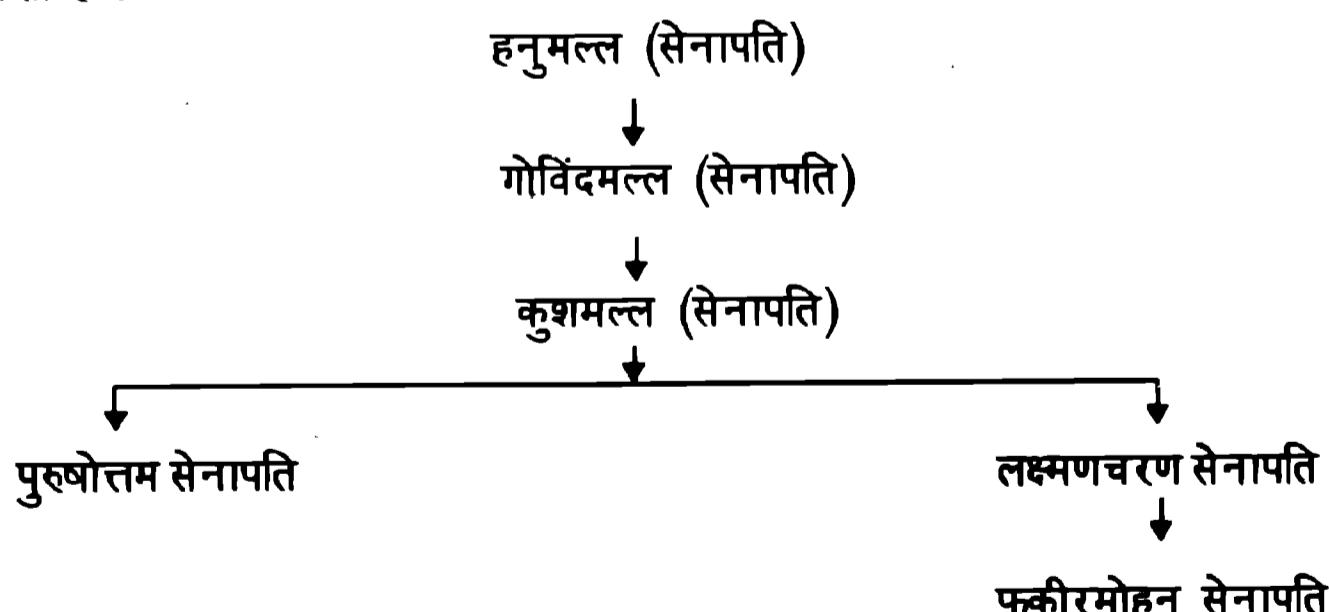
2. शैशव की बातें

सन् 1843 ई. के जनवरी महीने में या संवत् (ओड़िआ) 1250 की मकर संक्रांति, शुक्रवार को बालेश्वर शहर के मल्लीकाशपुर में मेरा जन्म हुआ। मेरी माता का नाम तुलसीदेई और पिताजी का नाम लक्ष्मणचरण सेनापति है। ज्योतिषियों ने मेरी जन्मपत्री इस भांति बनाई थी :
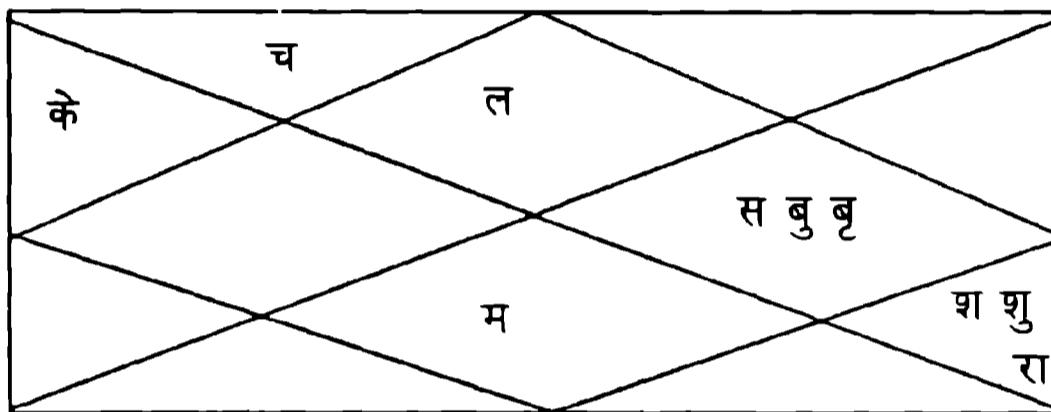
4/2 रोहिणी-वृष

सुना है, पैदा होते ही मेरे बाएं कान के ऊपरी भाग में छेद करके एक सोने का छल्ला पहना दिया गया था। मेरे एक बड़े भाई थे, चैतन्यचरण। मेरे जन्म के पहले ही वे परलोक को प्राप्त हुए। लोगों में यह विश्वास था कि अगर बड़ा लड़का मर गया हो और उसके छोटे भाई के पैदा होते ही उसके कान में छेद कर दिया जाए तो यमराज उसे अग्राह्य मानकर नहीं ले जाते हैं। बचपन में वैसे मैंने कइयों के कानों में छेद होते देखे हैं।

मैं जब एक साल, पांच महीने का था तब पिताजी जगन्नाथजी की रथ-यात्रा देखने के लिए पुरी गए थे। लौटते समय भुवनेश्वर में विसूचिका (हैजे) से पीड़ित हो लोकांतर को प्राप्त हुए। गांव के कई लोग उनके सहयात्री थे, साथ में उनकी माताजी (ठाकुर मां) भी थीं। ठाकुर मां से सुना है कि भुवनेश्वर मंदिर के समीप स्थित बिंदुसागर पुष्करिणी के पत्थर-घाट पर पिताजी ने प्राण त्यागे। उनके परलोक-गमन का समाचार सुनकर गांव के लोगों ने रोना-पीटना शुरू कर दिया। पिताजी का एक पालतू कुत्ता था। उसने भी उन्हीं के साथ मिलकर चिल्लाना शुरू कर दिया। लोग तो चुप हो गए, पर वह शांत नहीं हुआ। पिताजी जिन जगहों पर जाते थे, गांव में जिन-जिन जगहों पर उठते-बैठते थे, उन्हीं जगहों पर जाकर बार-बार सूंघ आता और उसी तरह आठ दिन तक बिना खाए-पीए रहकर अंत में मर गया।

पिताजी की मृत्यु की खबर सुनकर, माताजी ने जो शैया ग्रहण की, फिर नहीं उठीं। चौदह महीने तक शारीरिक और मानसिक यंत्रणा भोगकर संवत् 1252, भाद्रपद शुक्ल अष्टमी के दिन उन्होंने प्राण त्याग दिए।

मैं उस दिन से बिलकुल असहाय बन गया। मेरे हम-उम्र, सहाय-संपन्न लोग मुझसे अधिक तंदुरुस्त, स्वस्थ शरीर वाले और भाग्यवान पुरुष धरती त्यागकर चले गए। परंतु मातृ-पितृहीन तथा चिररोगी मैं, जीवनकाल में भयानक विपद-संकुल अवस्था का अतिक्रमण करके संप्रति जराजीर्ण दुर्बल हाथ से अपने दीर्घ जीवन का सारहीन चरित लिखने बैठा हूं। यह किसका आदेश है, किसका आग्रह, अनुग्रह और सहायता है ? किसी क्षुद्रतम तृण तक की सृष्टि भी उद्देश्यहीन नहीं होती। फिर किस उद्देश्य की साधना के लिए ईश्वर ने मुझे अब तक जीवित रखा ?

माता-पिता के वियोग के बाद जैसे प्रभु के आदेश से पितामही कुचिलादेई ने मुझे गोद में उठा लिया । हमारे यहां कहा जाता है कि 'पालती है तो बाप की मां, या मां की मां।' मेरे जीवन की रक्षा के लिए ठाकुर मां ने जितना यत्न किया है, जितनी दारुण यंत्रणा भोगी है, वर्तमान छाया की तरह वे ही सब बातें मेरे मन में उदित होती हैं तो प्राण व्याकुल हो उठते हैं। हाय, उस उपकार के बदले में मैं कुछ भी नहीं कर पाया।

माताजी के देहांत के पश्चात सात-आठ साल तक मैं संग्रहणी और बवासीर जैसी यंत्रणादायी बीमारी भोगते हुए पड़ा रहा। ठाकुर मां रात-दिन एक करके मेरे बिछौने के पास बैठी रहतीं। महीने के बाद महीना, साल पर साल..... उसी तरह गुजरते गए। अनिद्रा, अनाहार रहकर ठाकुर मां ने रात-दिन बिताए हैं। मानो मृत्यु मेरा एक हाथ और ठाकुर मां दूसरा हाथ पकड़कर दोनों ओर से खींच रहे थे। अंत में ठाकुर मां की विजय हुई और मैं स्वस्थ होने लगा।

मेरे बिस्तर के पास मेरी बीमारी के समय बैठी हुई ठाकुर मां हाथ जोड़कर जगत के सब देवी-देवताओं से मेरे प्राणों की भिक्षा मांग रही थीं। बालेश्वर में दो पीर थे। अंत में ठाकुर मां उन्हीं की शरण में गईं। उनके पास मनौती मांगी—'मेरा लड़का ब्रज अच्छा हो जाए तो मैं उसे आप लोगों का फकीर या गुलाम बना दूंगी।' पहले मेरा नाम ब्रजमोहन था, ठाकुर मां ने बदल दिया—फकीर। पीरों की खुशी के लिए ठाकुर मां ने मेरा यह पठान नाम रखा था।

बीमारी से मुक्ति मिली। मैं बच गया। पर ठाकुर मां मोह नहीं छोड़ पाईं और मुझे पीरों को नहीं दे सकीं। सिर्फ मुहर्रम के समय आठ दिन के लिए मुझे फकीर बना देती थीं। उन्हीं दिनों मैं फकीरनुमा पोशाक पहनता था। घुटनों तक के अंगिये, शरीर पर कई रंगों से बना चपकन, सिर पर फकीरी टोपी। कंधे पर कई रंगों की एक झोली और हाथ में लाख-जड़ी छड़ी लेकर, चेहरे पर सफेदी पोतकर सुबह-शाम गांव के घर-घर से भीख मांगता और शाम को भीख में मिले चावल बेचकर जो पैसे मिलते, पीरों की शीरनी के लिए भेज दिए जाते।

3. विद्यारंभ–1852

पाठशाला में पढ़ाई के समय मेरी उम्र नौ साल थी। शहर के बीच हर बड़ी बस्ती में और बस्ती छोटी हो तो दो-तीन बस्तियों में एक-एक प्राथमिक पाठशाला थी। संपन्न घरों में स्वतंत्र रूप से अध्यापक (अवधान) थे। गांव में 'बाउरी', 'कंडरा' आदि अस्पृश्य जाति के लड़के भी ऊंची जात वाले बच्चों से दूर बैठकर पाठशाला में पढ़ते थे।

उस समय पढ़ाने के लिए अध्यापक कटक जिले से, विशेषकर कटक जिले के झंकड़ परगने से बालेश्वर जिले में आते थे। अध्यापकों के आने का समय था चैत का महीना। अध्यापक पहनावे से पहचाने जाते थे। घुटनों तक को ढकने वाली मोटी-सी धोती, सिर पर मटमैला गमछा, कंधे पर बंधी दो पोटलियां–एक ओर आधा सेर तक पकाने के लिए पतीली और एक हल्का-सा लोटा; दूसरी ओर दो-चार पोथियों के साथ एक जोड़ी कपड़ा। ये ही चीजें काम ढूंढ़नेवाले अध्यापकों की पहचान थीं। फागुन आधा बीतने से लेकर चैत के अंत तक अध्यापक गलियों में घूमते नजर आते थे।

इनमें अधिकांश कायस्थ होते थे। कुछेक माटिवंश ओझा (एक जाति, पढ़ाना जिनकी आजीविका का पारंपरिक साधन था) बालेश्वरवासी अध्यापक ज्योतिषी हैं। माटिवंश के ओझा प्रारंभिक शिक्षण में सब से दक्ष होते हैं–ऐसी मान्यता थी। लोक-विश्वास था कि उन्हें 'लीलावती सूत्र' मालूम था। पाठ के बल से ओझा लोग पेड़ों के पत्ते और उड़ती चिड़िया के पर तक गिन सकते हैं, यह बात मैं बचपन से सुनता आ रहा हूं।

अध्यापक सिर्फ बालेश्वर ही में पाठशाला खोलकर बच्चों को पढ़ाते हों, ऐसा नहीं था। बालेश्वर के आस-पास के रजवाड़ों में, मेदिनीपुर जिले के दांतुण, पटाशपुर, महिषादल, कांथि, हरिपुर आदि इलाकों में भी उनका कार्यक्षेत्र फैला हुआ था।

मेदिनीपुर जिले का क्षेत्रफल लगभग पांच हजार दो सौ वर्ग मील था। उसमें से दक्षिणांचल, लगभग बाईस सौ वर्ग मील का क्षेत्र ओड़िआ भाषा-भाषियों का था। घर और बाहर उनकी बोली, घरेलू चिट्ठी-पत्री, साहूकारी हिसाब-किताब, दलील, दस्तावेज आदि ओड़िआ में लिखे जाते थे। पहले मेदिनीपुर में कचहरी की भाषा भी आंशिक रूप से ओड़िआ थी। बालेश्वर जिला सदर कचहरी से बाबू लोग नियुक्त होकर वहां जाते थे। वह आजकल बंद हो चुका है।

आज भी उन स्थानों में प्रमुख घरों में हर रोज संध्या-समय जगन्नाथ दास रचित भागवत, शारला महाभारत और ओड़िआ रामायण आदि ग्रंथ बांचे जाते हैं। पटाशपुर के जमींदार-घर की किसी महिला ने संस्कृत भागवत का पद्यानुवाद करवाया था। आज भी कई जगह उसी भागवत का पाठ होता है। बालेश्वर और कटक जिले से पोथी बांचने वाले ब्राह्मण जगह-जगह पुराण का पाठ करके निर्वाह कर रहे हैं। कई साहूकार और जमींदारों के घरों में पुराण

बांचने वाले ब्राह्मण नियुक्त हैं। आजकल इन इलाकों के अंग्रेजी-पढ़े बाबुओं को स्वयं को ओड़िआ कहने में झिझक हो रही है। पर, कुल-लक्ष्मियों के कारण अंत:पुरों से जातीय भाषा को खदेड़ना संभव नहीं हो पा रहा है।

मेदिनीपुर के दक्षिणी अंचल से पाठशाला का एकदम उठ जाना एक रहस्यमय, दारुण और शोचनीय विषय है। सन् 1835-1870 ई. में मेदिनीपुर के दक्षिण अंचल में स्कूलों की स्थापना करने के लिए एक बंगाली सज्जन सब-इंसपेक्टर बनकर आए। उन्होंने बंगाली स्कूल खोलने की चेष्टा की, पर लोग अपने बच्चों को बंगाली पढ़ाने को राजी नहीं हुए। लाख कोशिशों के बावजूद वे कामयाब नहीं हो पाए। वे सिर्फ दक्षिणी अंचल में स्कूल खोलने आए थे और सफल नहीं हो सके तो उनकी नौकरी ही नहीं रहेगी। ऊपर वाले अफसरों को असफलता का समाचार देकर इतनी सुंदर नौकरी खो देंगे क्या ?

काम रुक जाए तो बुद्धि अपने-आप काम करने लगती है। बाबू को एक तरकीब सूझी। एक-एक कर पुलिस-थानों में बैठकर, उसी थाने के इलाके भर की प्राथमिक पाठशालाओं के सभी अध्यापकों को एक दिन दारोगा बाबू के जरिए एक साथ बुलवा लिया। अंग्रेजी में लिखा, मुहर-लगा नकली परवाना उन अध्यापकों को दिखाकर बोले–'देखो, मेदिनीपुर जिला कलक्टर साहब का हुक्म है। इस थाने के इलाके भर में जितनी पाठशालाएं हैं, सभी को बंद कर दिया जाएगा। और इस इलाके में जितने अध्यापक हैं सब सात दिन के अंदर अपने-अपने देश को लौट जाएं। निश्चित दिन के बाद जिस अध्यापक को मेदिनीपुर इलाके में देखा जाएगा उसे वारंट के जरिए गिरफ्तार करके सदर कचहरी में हाजिर किया जाएगा और उसे जुर्माने और जेल की सजा होगी।'' सब-इंसपेक्टर उसी तरह थाना-दर-थाना घूम-घूमकर अध्यापकों को यह आदेश सुनाने लगे। क्षुद्र प्राणी, बेचारे अध्यापकों का भी क्या कलेजा ? जिला कलेक्टर का आदेश, वह भी थाने के जरिए ! जो जितनी जल्दी हो सका अपनी पाठशाला बंद करके अपने देश भाग आया।

उसके बाद इंसपेक्टर बाबू बंगला स्कूल खोलने लगे, यह कहना अतिशयोक्ति होगा। उस इंसपेक्टर के बड़े भाई के साथ, जो कि बालेश्वर जिला स्कूल के हेडमास्टर थे, मेरी विशेष आत्मीयता थी। उन्होंने अपने छोटे भाई की बुद्धिमानी और कर्मठता का प्रमाण देने के लिए मेरे सामने इस अलिखित घटना का वर्णन किया था।

मेदिनीपुर के दक्षिणी इलाके की पढ़ाई की भाषा बंगला है। फिर भी घरेलू भाषा ओड़िआ है। मातृभाषा को क्या कोई सहज भुला देगा ? जगन्नाथ दास के ओड़िआ भागवत और अन्य कई ओड़िआ ग्रंथों को बंगला लिपि में छपवाकर वहां घर-घर में पढ़ा जा रहा है।

पाठशाला में गैरकानूनी काम एक भी नहीं था। सब कानून के पाबंद थे। कार्यविधि का उल्लंघन करने वाले के लिए दंड अनिवार्य था। अध्यापक के आदेश या उनसे अनुमति लिए बगैर उठना-बैठना तक छात्र के वश की बात नहीं थी। एक जगह बैठे-बैठे पैर दुखने लगे या झनझना उठे तो उसी तरह उसी जगह बैठकर प्रार्थना करनी पड़ती थी– "मास्टरजी, एक'', यानी पेशाब करने जाऊंगा। "मास्टरजी, दो'', यानी 'टट्टी' जाना

है। "मास्टरजी, पांच", यानी पानी पीने जाना है.. आदि-आदि।

पाठशाला की दंडविधि में कई प्रकार की सजाओं की व्यवस्था थी :

पहली–बेंत की मार।

दूसरी–'एक गोड़िया', अर्थात एक ही पैर पर खड़ा रहना।

तीसरी–'नाक और बाल'–एक हाथ से नाक और दूसरे में सिर के बाल पकड़कर खड़ा रहना।

चौथी–'आष्ठुगोपाल', अर्थात घुटने के बल बैठकर, बायां हाथ सर पर रखकर, दायीं हथेली पर 'खड़ी' रखकर आगे हाथ बढ़ाए बैठे रहना।

पांचवीं–'मढुआ शांकुलि'; ताड़-पत्ते के मढुए से (रेशे से) लगभग डेढ़ हाथ की रस्सी बनाई जाती थी। उसी रस्सी को अपराधी की भांति कंधे पर डाल कर दोनों पैरों की उंगलियों में बांधना।

रोज पाठशाला की छुट्टी के समय छात्रों पर 'शून्य चाटी' दी जाती। छात्र पाठशाला में किस समय आया था, वह अध्यापक और 'बड़ चाट' (अर्थात, जो छात्र सबसे बड़ा हो) याद रखते थे। पाठशाला की छुट्टी के समय छात्र कतार बांधे हाथ पसारकर खड़े हो जाते थे और उस दिन सबसे पहले जो आया था उसकी हथेली पर बेंत को छुआ-भर देते थे–वह हुई 'शून्य चाटी'। उसके बाद दो, तीन... करके एक के बाद एक संख्या बढ़ती जाती थी और दूसरे छात्रों की हथेलियों पर बेंत का प्रहार पड़ता जाता था। अर्थात, उपस्थिति में जिसका स्थान दूसरा है उसे दो बार, तीसरे पर तीन बार, चौथे पर चार बार। प्रहार का वार सब समय समान नहीं होता था, कभी सख्त और कभी हल्का। शून्य चाटी देते समय मास्टरजी छात्रों के मुंह की ओर देखते थे। जहां कोई जवाबदारी की संभावना होती वहां बेंत की मार कुछ हल्की हो जाती थी और दूसरों पर पटापट सुनाई पड़ती थी।

कोई छात्र अगर देर तक सोया रहे और बिछौने से उठ बाहर मेंड़ पर पड़ी हुई धूप देख शून्य चाटी के डर से पाठशाला न जाकर निरापद जगह, अर्थात रसोईघर में घुसकर हांड़ी पकड़ बैठ जाए तो भी उसकी खैर नहीं थी। उसी की जात के दो-चार लड़के नंगे हो जाते थे; रसोई में घुसकर अपराधी को पकड़कर उठा लाते और पाठशाला में ला पटकते थे। पाठशाला में पहुंचते ही विचारक मास्टरजी उसकी पीठ पर प्रहार शुरू कर देते थे।

मैंने भी उसी तरह की एक पाठशाला में पढ़ाई शुरू की थी। सुबह 'खड़ी पाठ' (सिर्फ लिखना) और संध्या समय पोथी की पढ़ाई होती थी। पढ़ाई के बाद अन्य छात्र चले जाते, पर मुझे पाठशाला में रहकर मास्टरजी की सेवा करनी पड़ती थी और रसोई में हाथ बंटाना पड़ता था। मास्टरजी का नाम था वैष्णव महांति। वे कटक की तरफ के थे।

मेरे ताऊ पुरुषोत्तम सेनापति मेरे प्रति बहुत निष्ठुर थे। महीने के अंत में जब मास्टरजी तनखाह मांगने आते तो वे कहते–"आप तो फकीरे को पढ़ाते तक नहीं। तनखाह मांगने कैसे आ जाते हो!" मास्टरजी जवाब देते–"मैंने तो इसे दिन-रात अपने ही पास रखा है, पल भर भी खेलने को नहीं छोड़ता।" ताऊ कहते–"उसकी पीठ पर एक भी निशान

दिखाई नहीं पड़ता।'' मास्टरजी ताऊ के मन की बात को भली भांति समझ जाते। मैं पाठशाला में बैठा होता और वे अकारण बेंत लेकर मेरी पीठ पर दस-बारह बरसा देते। मार की आवाज और मेरी चीख सुनकर ताऊ और ताई खुश, परंतु ठाकुर मां दौड़ आतीं और कहतीं– ''मास्टरजी, क्या तुम्हारे बाल-बच्चे नहीं हैं कि अकारण बेरहमी से बच्चों को मार रहे हो !'' हर महीने तनखाह देते समय यही ड्रामा होता।

कुछ दिन बाद वैष्णव महांति अपने गांव लौट गए। हमारे गांव में 'नंडा गुसाईं मठ' में एक और पाठशाला थी। मैं उसी में भर्ती हो गया। वहां प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी और अमावस, इन तिथियों में पढ़ाई नहीं होती थी, बल्कि इन तिथियों को संध्या-समय पाठशाला के बड़े-बड़े लड़के आकर गांव की औरतों को गीत सुनाते और वे 'चाट भिक्षा' (पाठशाला के व्यय के लिए दी जाने वाली भिक्षा) देतीं । उसी चावल से मास्टरजी के लिए अन्न की व्यवस्था हो जाती। कभी-कभार चावल जरूरत से ज्यादा हो जाए तो वे उसे बेचकर पैसा जमा करते। 'चाट भिक्षा' के अलावा और भी चावल अध्यापकजी को मिलता था। कोई छात्र नया आता तो 'सीधा' लाता था। 'सीधा', यानी एक सेर चावल, एक सुपारी, कुछ गुड़, लाई और फूल।

उस समय बालेश्वर में एक निःशुल्क पारसी स्कूल था। पाठशाला की पढ़ाई खतम करके मैं खुद वहां जाकर नाम लिखाकर पढ़ने लगा। स्कूल में तीन आखानीजी और एक ओड़िआ पंडित थे। ओड़िआ पंडित का नाम था बनमाली वाचस्पति। बाप, भाई आदि के नाम किस तरह चिट्ठी लिखी जाती है, कचहरी में किस तरह दरखास्तें लिखी जाती हैं, वगैरह, पंडितजी सिखाते थे।

उस समय बाइबिल के अलावा ओड़िआ में और कोई छपी हुई किताब नहीं थी। कटक मिशन प्रेस के अलावा और कोई छापाखाना भी नहीं था। बालेश्वर में पादरियों का एक स्कूल था। वहां ओड़िआ में लिखी बाइबिल के अलावा और कुछ पढ़ाई नहीं होती थी। पर पादरी के स्कूल में छपी हुई किताब पढ़ने से जात चली जाएगी, इस डर से कोई हिंदू लड़का वहां नहीं पढ़ता था।

4. अझाल की सिलाई

मेरे बचपन में बालेश्वर में पाल से चलने वाले जहाजों द्वारा किए जाने वाले कारोबार का बोलबाला था। पांच-छह सौ जहाज समुद्री रास्ते से आते-जाते थे। बारह आना जहाज नमक ढोने के काम में और बाकी रंगून, मद्रास, कोलंबो और अन्य टापुओं को व्यापारी चीजें पहुंचाने के काम में लगे हुए थे। उस समय बालेश्वर में स्टीमर का नाम तक नहीं सुना गया था।

समुद्र में 'अझाल' (पाल) के सहारे जहाज चलता था। जहाज के आकार के अनुसार एक-एक के लिए कई आकार के, भिन्न-भिन्न नापों के छह से लेकर बारह तक अझालों की आवश्यकता होती थी। इन सब अझालों के अलग-अलग नाम थे, जैसे-कराजू, सबर, टभर, कलमि, जिभि, दरिआ, पेला आदि। गोराप अर्थात बड़े-बड़े दोमंजिले जहाजों के लिए दोगुने सामानों की आवश्यकता होती थी। कोई अझाल चतुष्कोण, कोई त्रिकोण तो कोई विषमबाहु या चतुर्भुजाकार होता था। जहाज के आकार के अनुसार सही-सही नाप के अझाल बनाने पड़ते थे। अझाल सही नाप से बड़ा हो तो, तेज हवा से जहाज उलट सकता है और छोटा हो तो, जहाज चलेगा ही नहीं। अझालों को सही-सही नाप कर अनजान आदमी नहीं बना सकता।

अधिकांश जहाजों के ठेकेदार मेरे पिताजी और ताऊजी थे। अकसर जहाजी महाजन आर्डर देकर अझाल बनवाते थे। अझाल बनाने के लिए सैकड़ों दर्जी हमारे घर पर मौजूद रहते थे। यह एक लाभदायक व्यापार था। सारे कारोबार का हिसाब रखने के लिए अपना एक दफ्तर था। गुमाश्ते से काम सीखने के लिए ताऊ ने मुझे लगा दिया। मै गुमाश्ते के मेट की हैसियत से काम करने लगा। दोनों वक्त नदी के किनारे घूमकर किस जहाज के लिए कौन-सा काम है, आदि देखकर आता और गुमाश्ते को लिखवा देता। इतना सब करके भी समय बचता तो मुझे ताऊजी अझाल की सिलाई के काम में लगा देते।

बालेश्वर में जहाज का काम कार्तिक से लेकर चैत तक चलता। दक्षिणी हवा तेज होने पर जहाज नदी का मुहाना पार नहीं कर पाते तो कार्तिक तक लंगर में बंधे रहते। इससे सारा काम बंद रहता। फिर भी महाजन से बंकशाल इलाके के सब कारीगर, ठेकेदार, मांझी, खलासी और अन्य कार्य करने वालों तक की, काम चलते समय छह महीने में जो कमाई होती थी उसी से वे घर बैठे बाकी छह महीने भी गुजार लेते। वर्षा के दिनों में पोक्तानी (नमक निकालने) का काम बंद रहता था। इसलिए इस काम में जुटे लोग घर पर बैठे रहते थे।

5. कचहरी में कार्य-शिक्षा

जहाज पर काम बंद होने के कारण ताऊजी मुझे हमारे गांव के पास भूइंसाही गांव में रहने वाले नमक महाल के सिरश्तादार बाबू विश्वनाथ दास के पास छोड़ आए। मैं रोज सिरश्तादार के साथ कचहरी जाकर नमक महाल का काम सीखने लगा। बाबू विश्वनाथ दास एक ख्यातिप्राप्त व्यक्ति थे। वे एक गरीब विधवा के लड़के थे। उनकी मां का काम दूसरों के घर में धान कूटना था। विश्वनाथ बाबू पाठशाला से निकलकर एक मुसलमान डबलरोटी वाले के पास महीने में आठ आने की तनखाह पाकर मुकर्रर हुए थे। डबलरोटी वाला, हर रोज उधार लेनेवाले जिन साहबों की कोठियों पर जितनी डबलरोटी भेजा करता था शाम को उसी का हिसाब कर विश्वनाथ बाबू खाते में दर्ज कर आते और महीने के अंत में साहबों को हिसाब बताकर पैसे ले आते। इसी जरिए से साहबों के साथ उनकी जान-पहचान हो गई थी। रात के समय सिर्फ दो घंटे के लिए उन्हें काम करना पड़ता था और वे दिन के समय कचहरी के नमक महाल दफ्तर में जाकर काम सीखा करते थे। शुरू में एक सामान्य मोहर्रिर के रूप में नियुक्ति पाकर सिरश्तादार पद तक उनकी तरक्की हुई थी। उन्होंने काफी कमाया भी था। अब उनके उत्तरधिकारियों ने वह संपत्ति फूंक डाली।

कचहरी में दूसरे महकमों से नमक महाल का दफ्तर ज्यादा बड़ा था। उसमें अनेक कर्मचारी काम करते थे। नमक महाल दफ्तर दो भागों में बंटा हुआ था—सिरश्ता विभाग और दीवानी विभाग। सिरश्ता विभाग में देहात का सारा हिसाब रहता था और दीवानी विभाग में शहरी हिसाब रखा जाता।

उस समय बालेश्वर में जो कुछ भी गौरव करने योग्य निर्माण संबधी और आर्थिक उन्नति हुई थी वह सब इसी नमक महाल के कारण हुई थी। उत्तर में सुवर्ण रेखा मुहाने से लेकर दक्षिण में धामरा मुहाने तक बालेश्वर के पूर्वांचल में समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों में 'पंगा लुण पोक्तान' (मैला नमक निकालने का काम) होता था। उस नमक में से बालेश्वर की जरूरत के लायक रखकर बाकी नमक का ज्यादातर हिस्सा गंगा के पश्चिमी तट पर स्थित कलकत्ता के समीप सालिका गोला के लिए जहाज से भिजवा दिया जाता। वहां से बंगाल के देहातों में बिक्री के लिए पहुंचाया जाता। उस समय बंगाल के अनेक व्यापारी बालेश्वरी 'पोंगानोन' का कारोबार करते थे। बालेश्वर के निवासियों के लिए नमक निकालने का काम जीवनयापन का लगभग एकमात्र साधन था।

समुद्र में सही-सलामत जहाज आएं-जाएं, इसलिए शहर भर में देवी-देवताओं की पूजा और चंडीपाठ के लिए शताधिक ब्राह्मण पंडित नियुक्त हुए थे। हर साल कार्तिक महीने में नमक महाल का काम आरंभ होने के पहले पोक्तान कार्य सही-सलामत हो जाए, इसलिए

सरकार की ओर से कचहरी के पास वाले झाड़ेश्वर महादेव की पूजा करवाई जाती थी। पूजा के लिए सारा खर्च सरकारी खजाने से किया जाता था। नमक पोक्तान में लगे सारे कार्यकर्ता हिंदू थे। उन्हीं लोगों के मनोरंजन के लिए सरकार को यह सब करना पड़ता था। मैं उसी नमक महाल दफ्तर में काम सीखने लगा। कचहरी की भाषाएं ओड़िआ, बंगला और फारसी थीं। हमारे गांव के पास वाले अजुआंबाद गांव में एक डाक्टर थे। उनका नाम था प्रसाद नायक। वे जेलखाने के डाक्टर के सहायक थे। अपने लड़कों को बंगला पढ़ाने के लिए उन्होंने एक शिक्षक नियुक्त किया था। उनका आवास अन्यत्र था और वे रात के समय सिर्फ दो घंटे के लिए आकर बच्चों को पढ़ा जाते थे। कुछ महीनों तक मैंने उन्हीं के पास जाकर बंगला सीखी। मैं छपी हुई किताब पढ़ तो लेता, पर अच्छी तरह लिख नहीं सकता था। कचहरी में नमक महाल दफ्तर में मैं काम सीखता था। समय मिलता तो रद्दी कागज का टुकड़ा उठा लेता और उसी पर बंगला लिपि लिखने लगता। मेरे मौसेरे भाई राजकिशोर चौधुरी देहात के चाटीगोले में पेशकार थे। एक दिन वह आकर कचहरी में सिरश्तादार के पास बैठे थे। मैं तब लिख रहा था। बातों-ही-बातों में मेरी चर्चा चली और प्रश्न उठा कि मैं बंगला दफ्तर में काम कर सकूंगा या नहीं। मेरी बंगला लिपि की परीक्षा राजकिशोर बाबू और सिरश्तादार ने ली। सिरश्तादार ने थोड़ा-सा झिझकते हुए कहा–"ठीक है, जैसे-तैसे चलेगा।" उसी दिन से मैं बंगला दफ्तर में काम सीखने लगा। ओड़िसा, विशेषकर बालेश्वर के लिए दुर्भाग्य की बात है कि थोड़े ही दिनों बाद नमक महाल के उठ जाने का सदर से हुक्म आया। उत्कल की भाग्यलक्ष्मी लिवरपूल और दूसरी जगहों को चली गईं। नमक महाल दफ्तर में ज्यादातर बंगाली थे। वे सालिका गोले से नियुक्ति पाकर आते थे। नमक महाल के उठ जाने के कारण वे 'स्वदेश' लौट गए। जिन्होंने ओड़िआ लिखना-पढ़ना सीखा था, उन्हें दूसरे दफ्तरों में नौकरी मिल गई। उस समय कचहरी के दफ्तरों मे ओड़िआ कम चलती थी। मुख्य रूप से चलन में फारसी भाषा थी। सन् 1835 ई. से कचहरी में सिर्फ देशी भाषा चलेगी, गवर्नमेंट की ओर से इस तरह के साफ ऐलान के बावजूद पुराने अमले ने फारसी नहीं छोड़ी थी ; उसे बरकरार रखा था। कचहरी में स्वतंत्र रूप से एक 'बाबूखाना' था। वहां सदर को भेजे जाने वाले हर दफ्तर के कागजों का तर्जुमा होता था। सिर्फ दो के अलावा सब बाबू फिरंगी (अंग्रेज) थे। (बालेश्वर वाले उन्हें भूरा आदमी कहते थे।) सबसे पहले सैम्युल एंड्रूज और एंटोनी डिसो कलकत्ता से मुकर्रर होकर बालेश्वर आए थे। बाद में उन्हीं के वंशजों ने उस बाबूखाने को अपने काबू में कर लिया था। देशी बाबूओं में मेरे श्वसुर स्वर्गीय शिवप्रसाद चौधुरी, फिलहाल सब-जज बाबू गगनबिहारी चौधुरी के पिता स्वर्गीय गंगाप्रसाद चौधुरी थे। लगभग चालीस साल पहले बालेश्वर में एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना हुई थी। स्वर्गीय शिवप्रसाद चौधुरी, गंगाप्रसाद चौधुरी, कंटावणिआं गांव के निवासी स्वर्गीय विचित्रानंद दास, बुगुड़ा-निवासी स्वर्गीय अटल बिहारी पाल और एक और बंगाली लड़का–इस तरह पांच लड़के उस स्कूल के छात्र थे। जात-पांत के डर से और देशी लड़के उस अंग्रेजी स्कूल में दाखिल नहीं हुए, अतः वह स्कूल बंद हो गया। सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा, बालिका

शिक्षा, महिलाओं में पढ़ाई का सूत्रपात इस क्षुद्र लेखक के मल्लवंश में हुआ था।

उस समय कचहरी में पुलिस विभाग नहीं था। खुद मैजिस्ट्रेट साहब पुलिस सुपरिंटेंडेंट थे। बड़ी भोर सूरज उगने के पहले पुराने पुलिस दारोगाजी मैजिस्ट्रेट साहब के सामने हाजिर होकर सलाम ठोंकते और बताते–"हुजूर, दुनिया का हाल-चाल अच्छा है। बालेश्वर सदर का हाल-चाल अच्छा है।" इतनी बात ही कहकर साहब को सलाम कर वे लौट जाते और मैजिस्ट्रेट साहब की उस दिन की पुलिस कार्रवाई खतम हो जाती।

सिर्फ भारत में ही नहीं, यूरोप भर में एक प्रधान बंदरगाह और व्यापार-केंद्र के रूप में बालेश्वर को ख्याति मिली थी। बंगदेश में प्रवेश करने के पहले हालैंड-वासी, डेनिश, फ्रांसिसी और अंग्रेज आदि व्यापारी-दलों ने इसी जगह अपने व्यापार-केंद्र खोले थे। समय किसी का भी समान नहीं जाता। उत्थान और पतन दुनिया का नियम है। स्मरणातीत काल से बालेश्वर का जो नदी-मुहाना हजार-हजार लोगों के समागम से कोलाहलपूर्ण था, आज देखिए वही स्थान नीरव, निर्जन, वन और श्मशान की भांति निस्तब्ध है। नदी-गर्भ भी अब मिट्टी से भर गया है। बालेश्वर से जहाजियों, धनवानों और व्यापारियों के चले जाने के बाद बालेश्वरवासियों के हाथ से स्थानीय और बाहरी दोनों कारोबार निकलकर अब विदेशियों के हाथ में चले गए हैं।

6. कचहरी के चक्कर काटना

नमक महाल दफ्तर बंद कर दिया गया। पर मेरा कचहरी के चक्कर काटना बंद नहीं हुआ। मैं रोज सुबह दस बजे कचहरी जाता। कई बेकार, निष्कर्मा उम्मीदवार घूमते रहते, मैं उन्हीं के साथ घूमता। चार बजे घर लौट आता। उस समय ठीक चार बजे कचहरी बंद हो जाती थी। साहब लोग बारह बजे से दो बजे तक कचहरी पहुंचते और चार बजे कोठी पर वापस चले जाते। साहब-हाकिम लोग कचहरी पहुंचकर अपने ऊपर वाले हाकिमों को या विलायत को चिट्ठी लिखते और चिट्ठी न लिखनी हो तो बैठे-बैठे अखबार पढ़ते रहते। ओड़िआ या फारसी, कोई भी भाषा न जानने के कारण कचहरी के सिरश्तादारों की निगरानी नहीं कर पाते थे। वादी-प्रतिवादियों के बयान, इजहार, राय आदि सारा काम अमले के द्वारा होता था। चार बजने पर हाकिम उस पर दस्तखत करते और चल देते। उस समय कचहरी में किसी भी कर्मचारी का वेतन 10 रुपये से अधिक नहीं था। सिर्फ पेशकार 15 रुपये और सिरश्तादार कुछ अधिक पाते थे। अदालत और कचहरी में दूसरे कर्मचारियों का वेतन और भी कम था। मोहर्रिर से लेकर सिरश्तादार की तनखाह पदों के अनुसार ढाई से 10 रुपये तक थी। पर इससे क्या बनता-बिगड़ता! कचहरी के कई कर्मचारी पालकी या घोड़े पर आते-जाते थे। कइयों ने अपने वारिसों के लिए जमीनें तक खरीद लीं। इसी से समझ लें, अमले की आमदनी उस समय कैसी थी। तब तक बालेश्वर में कपड़े के छाते का प्रचलन हुआ ही नहीं था। सब कर्मचारी ताड़-पत्ते की छतरी लेकर कचहरी आते थे। वर्षा के समय कचहरी के इस छोर से उस छोर तक ताड़-पत्ते की छतरियां कतारों में रखी पाई जातीं। कर्मचारियों और पैरोकार-दलालों के लिए छाते रखने की जगह अलग थी। छतरी के विस्तार और विविध रंगों की विचित्रता से छाताधारी के रुतबे का पता चल जाता था। कई लोग खुद छाता पकड़ कर नहीं आते थे। कचहरी चलते समय गैरिक कपड़े से बंधे बस्ते को पीठ पर लादे, बाबू को ताड़-पत्ते का छाता ओढ़ाए पीछे-पीछे एक नाई चलता रहता। कचहरी के बाबू लोग अपनी-अपनी फाइलें और अपने अधिकार के दूसरे कागजों को छोड़कर नहीं आते थे। एक बड़े से बस्ते में बांधकर उसे घर ले आते थे। जिस कर्मचारी का जितना ऊपरी रोजगार था, उसी हिसाब से कचहरी के कर्मचारियों में या समाज में उसे सम्मान मिलता था। बाबू लोगों की नौकरी निरबंसिया नौकरी कहलाती थी, यानी वेतन के अलावा रोजगार के लिए कोई दूसरा जरिया नहीं था। घूस लेना अधर्म है या अनुचित, ऐसा ज्ञान किसी में नहीं था। शिक्षा के प्रभाव से व्यभिचार, सुरापान आदि बारह आना कम हो गया था। उत्कोच-ग्रहण था, है और रहेगा भी। पर अब उसने पूर्ण आकार धारण कर लिया है।

7 बाराबाटी स्कूल में अध्ययन

बालेश्वर सरकारी स्कूल के सैकेंड मास्टर बाबू शिवचंद्र सोम ने उस समय शहर के पूर्वोतर इलाके बाराबाटी गांव में लोगों की सहायता से एक विद्यालय की स्थापना की। विद्यालय में बंगला और ओड़िआ दोनों भाषाएं पढ़ाई जाती थीं। स्कूल का नाम था 'बाराबाटी बंगोत्कल विद्यालय' । स्कूल के खर्चे का आधा रुपया लोगों के चंदे से और आधा सरकारी सहायता से आता था। स्कूल की अलग इमारत नहीं थी। पहले शिवचंद्र बाबू के निजी आवास में कार्यारंभ किया गया। बाबू के निवास के पिछवाड़े रसोईघर से सटा हुआ एक बड़ा-सा खुला कमरा था। लंबाई में पंद्रह हाथ और लगभग दस हाथ चौड़ा था वह घर। पहले छात्रों की संख्या तीस से चालीस थी। उस समय बालेश्वर के सरकारी अंग्रेजी स्कूल में भी उपस्थिति तीस-चालीस से अधिक नहीं थी। स्कूल में छोटे-छोटे लड़के चटाई पर बैठते थे। बड़ी कक्षाओं के लड़कों के लिए चार बेंचें थीं। स्कूल में दो शिक्षक थे। उनमें से एक थे बंगाली और दूसरे थे ओड़िआ पंडित। सटी हुई दो कुर्सियों पर वे दोनों बैठा करते थे।

अकारण कचहरी में घूमना-फिरना मुझे अच्छा नहीं लग रहा था। किसी से पूछे बगैर मैंने स्कूल में अपना नाम लिखा लिया, पर एक विषम समस्या उपस्थित हो गई। सिर्फ एक कपड़ा पहनकर स्कूल में जाने की मनाही थी। कंधे पर एक चादर डालकर जाना पड़ता था। मैंने सारी बातें ठाकुर मां से कहीं तो उन्होंने एक टसर की धोती और कंधे पर डालने के लिए एक चादर का इंतजाम कर दिया। उस समय मेरे भाई नित्यानंद अच्छा जोड़ा और मखमल या साटन की कमीज पहनकर और सर्दी के समय शाल या चादर ओढ़कर स्कूल जाते थे। कुछ महीनों बाद ठाकुर मां के विशेष अनुरोध पर ताऊ मेरे लिए एक नया जोड़ा खरीद लाए। स्कूल में छात्रों से एक आने से लेकर चार आने तक शुल्क लिया जाता था। मैं पहली कक्षा में पढ़ता था और मुझे चार आने देने पड़ते थे। तीन-चार महीने में एक बार दे देने से भी चलता था। महीने के अंत में पंडितजी एक बार मांगते और मैं आज-कल करके पूरा महीना टाल जाता; क्योंकि ठीक महीने के अंत में एक साथ दरमाहा के पैसे गिन देना ठाकुर मां के लिए सुविधाजनक नहीं था। रुपये-पैसे जुटाने के विषय में ठाकुर मां नितांत उदासीन थीं। कभी-कभार एक रुपया या पैसा हाथ लगे तो वे उसे छाजन में खोंस देतीं या घर के पिछवाड़े छाजन-तले मिट्टी के नीचे दबा देतीं। कोई मांगे या जरूरत पड़ जाए तो उसे झट से निकाल देतीं। घर पर हो या पड़ोस के दूसरे घरों में, वे लोक-सेवा में लगी रहती थीं। वह लोक-सेवा ही उनके जीवन का सार-व्रत थी।

उस समय ओड़िआ भाषा में 'वर्णबोधक', 'नीतिकथा' (तीन भागों में) और 'हितोपदेश' किताबें ही छपी थीं। छोटी कक्षा से लेकर बड़ी कक्षाओं में भी ये ही पुस्तकें पाठ्य-पुस्तक के रूप में लगी हुई थीं। हमारे स्कूल के ओड़िआ पंडितजी उन पुस्तकों के अलावा जोड़,

घटा, गुणा, भाग, क्रय-विक्रय आदि गणित के पाठों को पढ़ाते थे। पंडितजी का नाम था हरेकृष्ण पाणिग्राही। वर्तमान बालेश्वर रेलवे स्टेशन के समीप पश्चिम दिशा में शोभारामपुर नामक गांव में उनका निवास था। वे कुछ इस तरह छात्रों को पढाते थे–

छात्र द्वारा खड़े होकर पुस्तक के पाठ्य विषय को एक बार पढ़कर बैठ जाने के बाद पंडितजी एक बार और पढ़ देते– 'किसी दिन एक कौवा मांस का एक टुकड़ा मुंह में लेकर पेड़ की डाली पर बैठा था। तब एक सियार उस पेड़ के नीचे पहुंचकर उस मांस के टुकड़े को खाने की आशा से कहने लगा–हे कौवा जी, तुम बहुत सुंदर हो।'

पंडितजी पढ़ते और अर्थ समझाने लगते– 'किसी दिन अर्थात किसी अन्ह में, एक कौवा अर्थात एक वायस, मांस का टुकड़ा अर्थात पिशित पल, मुंह में लेकर अर्थात बदन में धारण करके, पेड़ अर्थात महीरुह, डाली यानी शाखा पर बैठा था अर्थात उपवेशन किया था। तब अर्थात उस समय एक सियार अर्थात जंबुक, उस अर्थात उक्त पेड़ के नीचे अर्थात वृक्ष के पाददेश में पहुंचकर अर्थात उपस्थित होकर उस पिशित पल खंड को खाने की अर्थात भोजन करने की आशा से अर्थात लालसा से कहने लगा अर्थात वचन बोलने लगा –हे, यह संबोधन है। कौवा अर्थात काक तुम युष्मद हो। बहुत अर्थात वृहत, सुंदर अर्थात शोभावंत हो...' आदि, आदि...

पंडितजी हर समय बताते कि उनके मुकाबले का जिला बालेश्वर भर में कोई पंडित है ही नहीं। वे कहते कि उन्होंने अभिधान व्याकरण पढ़ा है। उन्हें 'लीलावती सूत्र' भी ज्ञात है। अध्यापकों की पाठशाला में 'माटीवंश ओझाओं' को 'लीलावती सूत्र' ज्ञात है, ऐसा सुना था। जिन्हें 'लीलावती सूत्र' ज्ञात होता है वे किस पेड़ में कितने पत्ते हैं और उड़ते पक्षियों के दल में कितने पक्षी हैं, गिनकर संख्या बता सकते हैं। 'लीलावती सूत्र' सीखने की इच्छा मुझ में बहुत दिनों से थी। काफी दिन की भक्ति और उपासना से प्रसन्न होकर पंडित पाणिग्राहीजी मुझे 'लीलावती सूत्र' सिखाने को राजी हुए । निश्चय हुआ कि यदि मैं उनके घर पर जाऊं तो वे मुझे सिखाएंगे। हमारे घर से पाग्रिग्राहीजी के घर की दूरी लगभग दो मील थी। गर्मियों के दिन, सुबह स्कूल लगता था और मैं स्कूल से आकर जैसे-तैसे भात खाकर धूप में ही पंडितजी के घर की ओर चल पड़ता। न पैर में जूते और न सिर पर छाता होता। उस ओर ध्यान भी नहीं रहता। किसी तरह 'लीलावती सूत्र' पढ़ लूं, यही इच्छा बार-बार बनी रहती। पंडितजी के घर पहुंचते-पहुंचते लगभग एक बज जाता। पंडितजी तब घर पर सोये हुए होते और मैं उनके बरामदे में बैठा रहता। उनकी नींद टूटते-टूटते तीन या चार बज जाते। पंडितजी जगकर पखाल भात (पानी मिला भात) खाकर ताड़-पत्ते का छाता और लाठी लेकर मजदूरों के काम को देखने के लिए खेत की ओर निकल पड़ते। उनकी जमीन घर से लगभग आधा मील की दूरी पर थी। जमीन में मजदूरों के काम करते-करते करीब आधा-घंटा और बीत जाता। उसके बाद किसी मेंड़ पर बैठकर मेरी ओर मुखतिब हो पूछने लगते–"लीलाव्वती सूत्र सीखोगे न ? लिखो....लिखो !" और अचानक रंक को निधि मिल जाने की तरह मैं उनके सामने मेंड़ के नीचे बैठ जाता। एक लाख से बड़ी

संख्या वाली राशि बोलकर उसे एक और उसी तरह की संख्या से गुणा कराते और एक संख्या उससे घटाने को कहते। फिर कोई दूसरी संख्या बोल उसे जोड़ने को कहते। इसी तरह गणित करते-करते सांझ ढल आती और अंधेरा छाने लगता। मैं घर लौट आता। इसी तरह गुणा-जोड़ महीने भर तक चलता रहा। मैं कुछ भी नहीं समझता था। फिर भी रोज ठीक दोपहर के समय उत्साह के साथ उनके घर की दौड़ लगाता। मनमें दृढ़ विश्वास होता कि इन संख्याओं में कहीं वह मूल संख्या छिपी है और अपनी बुद्धि की कमी के कारण मैं समझ नहीं पा रहा हूं। पंडितजी से पूछने पर वे कहते – "इसी तरह करते जाओ, बाद में देखोगे कि अपने-आप सूत्र निकल आएगा।" पंडितजी भी मुझे एक के बाद एक संख्या दे-देकर थक चुके थे। अब कुछ पूछने पर गुस्सा करने लगते। कभी-कभी ऐसा भी होता कि संख्या ही नहीं बोलते। मैं पूछता तो मेरी बात अनसुनी कर चल देते। अंत में मैं भी क्लांत हो गया। मन में जैसे अविश्वास भी जनमने लगा। अंत में मैंने उनके पास जाना बंद कर दिया।

इस घटना के कई साल बाद हिंदी में छपी एक 'लीलावती सूत्र' मंगाकर मन लगाकर पढ़ने से पता चला कि बिना गिनती के पेड़ के पत्तों की संख्या निश्चित करना हर तरह से असंभव है। अपनी अक्ल की कमी को याद करके मैं हंस पड़ा।

हमारे स्कूल में पहली कक्षा के लिए बंगला पाठ्य-पुस्तक थी 'संवाद सार'; पीयर्स साहब द्वारा लिखित भूगोल; किथ साहब द्वारा लिखित व्याकरण और गणित। उस समय तक बंगाली पाठ्य-पुस्तक लिखना नहीं जानते थे। सरकार की ओर से ईनाम की घोषणा होने के कारण मनोरंजन-विषयक इतिहास, हाथी-विषयक इतिहास, ऊंट-विषयक इतिहास; यही कुछ छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी गईं या भाषांतरित हुई थीं।

बंगाली पंडित बंगला पुस्तक पढ़ाते थे। वर्ष के अंत में परीक्षा हुई तो छात्र गलत उत्तर देने लगे। पर सब की गलतियां समान थीं। इसलिए परीक्षकों को पंडितजी की योग्यता के बारे में आसानी से पता चल गया। परीक्षा के कुछ ही दिन बाद बंगाली पंडितजी अदृश्य हो गए तो हुगली नार्मल स्कूल से तरक्की पाकर एक अन्य व्यक्ति पंडित बनकर आए। तब तक कई बंगला पुस्तकें रचित और अनूदित हो चुकी थी।

पहली कक्षा के बाद ये पुस्तकें पाठ्य-पुस्तकों के रूप में चुनी गई थीं। 'कादंबरी', मर्शमैन का बंगला इतिहास, भूगोल और गणित सार। और ओड़िआ पुस्तक के रूप में 'हितोपदेश'।

यहीं स्कूल में मेरी पढ़ाई का अंत हो गया होता। क्योंकि पहली कक्षा के लिए जो पाठ्य-पुस्तकें बनी थीं उनमें से एक भी मेरे पास नहीं थी, और उनमें से एक भी खरीदने की शक्ति मुझमें नहीं थी। मैं पढ़ नहीं सकूंगा, यह निश्चित जानकर घर पर चुपचाप बैठ गया। स्कूल नहीं गया। पर दयामय प्रभु ने उस समय मेरे लिए एक दूसरा मार्ग निकाला। मैं पिछली परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम होकर उत्तीर्ण हुआ था, अतः मुझे पुरस्कार मिला। पुरस्कार में मुझे सारी किताबें दी गई थीं। फिर स्कूल में पढ़ने लगा। परीक्षा में पास होना

और पुरस्कार-प्राप्ति, ये सब मेरे जीवन में अनोखी बातें थीं। अतः मैं दुगुने उत्साह से पढ़ने लगा। नए पंडितजी एक शिक्षित और योग्य व्यक्ति थे। उनके पढ़ाने के ढंग से मन आनंदित हो उठता। सच कहूं तो मुझे इसी समय कुछ पढ़ने-सीखने का सुयोग मिला था। उस समय मेरी उम्र चौदह-पंद्रह वर्ष होगी।

उस बाराबाटी गांव में एक तैलंग जमींदार थे। नाम था इकाइलु शिवप्रसाद भूयां। उनका इकलौता बेटा रघुनाथ मेरा सहपाठी था। रघुनाथ स्कूल में और घर पर नियुक्त एक पंडितजी से 'अमर कोष' अभिधान और 'मुग्ध बोध' व्याकरण पढ़ता था। मैंने भी उसके साथ संस्कृत पढ़ना आरंभ कर दिया। तब मैं काफी उत्साह और आनंद के साथ सुबह से शाम तक अपनी पढ़ाई में लगा रहता। रात के समय पढ़ने का कोई उपाय नहीं था। भाई नित्यानंद बत्ती जलाकर पढ़ने बैठ जाते, पर मुझे पास बैठने नहीं देते। अलग से बत्ती जलाकर पढ़ने बैठूं तो ताई नाराज हो जातीं । इसी तरह छह महीने तक किसी तरह पढ़ता रहा। तब दारुण दुर्भाग्य की स्थिति आई। मुझ पर चार-पांच महीनों का शुल्क बाकी था। हर महीने चार आने कहां से लाऊं ? ठाकुर मां तो एक तरह से संन्यासिनी और उदासीन थीं। उन्हें शुल्क के बारे में कुछ कहने की इच्छा नहीं हुई। वे तो एक ही बात कहती थीं –"पढ़ने से क्या होगा रे ! किसी तरह जी कर रह, कितना पैसा कमा कर लाएगा !'' मन-ही-मन तय कर लिया कि मेरी पढ़ाई यहीं खत्म।

8. मेरी नौकरी (चाकरी)

स्कूल में और पढ़ नहीं सकूंगा, मन-ही-मन यही स्थिर करके घर पर चुपचाप बैठा था; पर उस तरह ज्यादा दिन नहीं बैठना पड़ा। उसी बाराबाटी स्कूल के मंत्री बाबू शिवचंद्र सोम ने बुलवा भेजा और मुझे तीसरे शिक्षक के रूप में नियुक्त कर दिया। महीने में ढाई रुपये तनखाह मिली। ठाकुर मां ने मेरी चाकरी के बारे में जब सुना तो आनंद से अधीर हो उठीं। खुशी के मारे उछल पड़ीं। घर और बाहर वे नाचती-सी चलने लगीं। खुशी का वेग कुछ कम हुआ तो कहने लगीं–"तू अब कमाने लगा है, अब बच जाएगा। महीने में वेतन ढाई रुपये; क्या कहते हो, बड़ा हो जाएगा तो और कमाएगा।" ठाकुर मां की आशीर्वाणी शीघ्र ही सच्ची निकली। सिर्फ दो महीने के लिए ढाई रुपये के हिसाब से पाने के बाद तीसरे महीने से मुझे चार रुपये मिलने लगे। उस समय महीने में चार रुपये की नौकरी भी अच्छी नौकरी समझी जाती थी। तब दीवानी अदालतों के कर्मचारियों को मासिक तीन से दस रुपये तक मिलता था। सिर्फ सिरश्तादार का वेतन दस रुपये था। उस समय उतनी भर तनखाह में भी लोग सुख और चैन से गुजारा करते थे। सिर्फ गुजारा करने की बात नहीं, अपने वारिसों के लिए कोठी-हवेली तक बना गए हैं। उस समय हाकिम लोग कचहरी के दफ्तरों में आकर कुछ भी नहीं करते थे। सारा काम बाबुओं के जिम्मे था। इससे ऊपरी आमदनी का रास्ता साफ था। उस पर दुनियादारी का खर्च काफी कम था और दैनिक जरूरत की चीजों की कीमत कम थी। अप्रासंगिक होगा, फिर भी चीजों की कीमतों का उल्लेख करने की इच्छा करता हूं।

उस समय रुपये में चावल डेढ़ मन मिलता था। एक मन उड़द आठ आने में; एक मन मूंग दस आने में; एक मन अरहर भी दस आने में; तेल रुपये में सात सेर; घी रुपये में तीन सेर।

मछली वजन से नहीं बिकती थी। पर अनुमान करता हूं, पैसे में एक सेर से दो सेर तक मिलती रही होगी। साग-सब्जियां काफी सस्ती थीं और ज्यादातर लोगों को खरीदना नहीं पड़ता था। लोग साग-भाजी अपनी बाड़ी (घर के खुले मैदान) में ही उगा लेते थे। देशी धोती खूब सस्ती थी। उस पर छैल-छबीले कपड़ों का प्रचलन नहीं था। सब दो ही कपड़ों से काम चला लेते थे। सिर्फ कर्मचारियों और दरबारियों के लिए एक चोगा और अचकन की आवश्यकता होती थी। लोगों ने बटन का नाम नहीं सुना था। अंगा या चपकन में चार-चार बंधनी रस्सियां होती थीं और गले के पास रस्सी के सिरे में एक झालर लटकती रहती। कर्मचारी और बड़े-बड़े लोग पतली बालेश्वरी धोती पहनते थे। अन्य लोग, विशेषकर देहात के किसान लोग चरखे से काते गए सूत के बुने कपड़े पहनते थे। बाजार में कपड़े की दुकानें बहुत कम थीं। सूत कातने के लिए जिनके घरों में औरतें नहीं होतीं, सिर्फ वे ही बाजार

से कपड़े खरीदते थे। कटक जिले के बालुबिसि परगने से बालेश्वर में बिक्री के लिए कपड़े आते थे। उस समय बालुबिसि परगना बालेश्वर के लिए मानचेस्टर था। देहाती लोग तो प्राय: कपड़े ही नहीं खरीदते थे। लगभग सभी कपास की खेती करते थे। कपास खेत से बीनकर घर आ जाए तो घर के कर्ता परिवार के लोगों के लिहाज से औरतों में वह कपास बांट देते थे। घर में सब स्त्रियों के अलग-अलग चरखे होते। सूत की कताई पूरी हो जाने पर जुलाहा सूत और मजूरी लेकर कपड़े बुन देता। उस समय हर जगह बुनने की मजूरी फी हाथ एक पैसा थी। शहर के बड़े-बड़े लोग भी सर्दियों के दिनों में एक अंगा भर पहनते थे। साधारण दिनों में छोटे से बड़े तक सब के बदन खुले रहते।

बालेश्वर में पहले दो प्रकार के जूते बनते थे—जोरपाई और मराठी। जोरपाई जूतों की कीमत छह आने तक थी और मराठी जूता एक रुपया तक में मिलता था। कर्मचारी और बड़े-बड़े लोग ही जूते पहनते थे। वह भी सिर्फ कचहरी जाते समय या किसी विशेष जगह ही जूते पहने जाते थे। बाहर से ड्योढ़ी लांघकर जूते घर के अंदर नहीं ले जाए जाते थे। बाहर जूते निकालकर छाजन में खोंस देते थे या हाथ में उठाकर अंदर ले जाकर ताक पर रख देते।

लगभग साठ साल पहले अयोध्या-निवासी तीन ब्राह्मणों ने आकर बालेश्वर के मोतीगंज बाजार में विलायती कपड़े की दुकान खोली थी। वे मलमल, मारकीन, फ्रांसीसी छींट और बनात आदि पांच-सात किस्म का कपड़ा अपनी दुकान में रखते थे। कीमत बहुत ज्यादा थी। मारकीन बारह-चौदह आने प्रति गज और मलमल एक से लेकर सवा रुपया तक में मिलता था। कोई बड़ा आदमी अगर कंधे पर मारकीन की चादर डाले चलता नजर आए तो दोनों ओर खड़े लोग उसे ताकते रह जाते थे। आपस में बातें करते कि देखो कैसी बढ़िया चिकनी चादर है। इन्हीं बजाजों ने पहले बालेश्वर में कपड़े के छाते चलाए। काफी घटिया दर्जे के छाते। बेंत की छड़ी, काठ की मूठ, उस पर घटिया काला कपड़ा लगा होता। उसे भी कर्मचारी और धनी लोग ही खरीदते थे। धनवान लोगों को उस तरह के छाते लिए चलते समय भी लोग खड़े-खड़े देखते रह जाते थे। अब वैसे छाते को चार-पांच आने देकर भी कोई नहीं खरीदेगा।

चाहे जो हो, लोग उस समय निश्चिंत थे। अन्न-वस्त्र के लिए कोई चिंता नहीं थी। लोग आनंद से गुजर-बसर कर रहे थे। पर्व-त्यौहारों के अवसर पर गांव वाले एक साथ जुटकर आमोद-प्रमोद में मतवाले बन जाते थे। उनमें दूसरों के प्रति सहानुभूति थी। गांव में ब्राह्मणों से लेकर छोटी जात वालों तक कोई भी किसी का नाम लेकर नहीं पुकारता था। गांव में हरेक से कुछ-न-कुछ रिश्ता जरूर था—दादी, चाचा, मौसा, फूफा, मामा, नाना... इस तरह के संबोधन से एक-दूसरे को बुलाते थे। किसी पर कोई आफत आए तो सब मिलकर उसे दूर करने की कोशिश करते थे। किसी के घर पर विवाह-श्राद्ध आदि के समय गांव के दूसरे लोग उसे अपने घर का काम समझकर हाथ बंटाते थे। देश में इतने झगड़े-मुकदमे नहीं थे। कभी कोई मुकदमे के लिए मौका आ जाए तो गांव वाले मिलकर उसका फैसला

कर देते थे। लोग कहते हैं कि आजकल लोग स्वार्थी बन गए हैं, किसी का किसी से मतलब नहीं। सब के अपने-अपने अभाव हैं। सभी अपनी चिंता में डूब गए हैं, दूसरों के लिए सोचने की फुर्सत ही कहां है ?

"निज रक्षणे असंभव
से काहुं परकु रखिब।''

(जब खुद को बचाना असंभव हो गया तो वह दूसरे को कैसे रखें !)

9. बाराबाटी स्कूल की उन्नति

योग्य और शिक्षित शिक्षकों द्वारा संचालित होने के कारण दिन-प्रति-दिन बाराबाटी स्कूल की तरक्की होती जा रही थी। एक बंगाली शिक्षक के द्वारा काम नहीं चला तो एक और शिक्षक मेदिनीपुर से नियुक्त होकर आए। मेरा वेतन भी पांच रुपया तय हुआ। प्रथम और द्वितीय कक्षा में भूगोल पढ़ाने का भार मुझे सौंपा गया। स्कूल में बड़ा नक्शा नहीं था। मंत्री शिवचंद्र सोम महाशय की व्यवस्था के अनुसार सरकारी अंग्रेजी स्कूल से एक बड़ा नक्शा लाकर पढ़ाना पड़ता था। कुछ दिन बाद मैंने खुद अमरीका का एक नक्शा बनाया। स्कूल के मंत्रीजी, डिप्टी इंसपेक्टर और अन्य शिक्षकों ने उस नक्शे को देखा तो खूब प्रशंसा की। नक्शे के पीछे कपड़ा लगाकर ऊपर-नीचे लकड़ी की दो छड़ियां लगाकर उसे दीवार पर लटकाया गया। उसी नक्शे को देख लड़के भूगोल पढ़ते थे। सरकारी स्कूल से अमरीका का नक्शा लाने की अब आवश्यकता नहीं रही। दूसरे नक्शे बनाने की इच्छा थी, पर उसे बनाने लायक सामग्री के अभाव में बना नहीं सका। तीसरे वर्ष से गणित पढ़ाने का भार मुझे सौंपा गया। उस समय स्कूल में क्षेत्रफल का एक अध्याय, भग्नांश, दाशमिक प्रणाली, वर्गमूल आदि गणित पहली कक्षा के पाठ्यक्रम में थे। मैंने किसी दूसरे से सहायता लिए बगैर गणित, क्षेत्रफल, बीजगणित पढ़ ली, क्योंकि उस समय बालेश्वर में गणित के उन विषयों को पढ़ाने के लिए योग्य शिक्षक नहीं थे।

स्कूल के डिप्टी इंसपेक्टर महीने के अंत में एक बार आकर छात्रों की परीक्षा लेते थे। उत्कल भर में एक ही डिप्टी इंसपेक्टर थे। उनका प्रधान कार्यालय बालेश्वर शहर में था। वे साल में सिर्फ दो बार कटक और पुरी जाकर वहां के स्कूलों को देख आते थे। सुना था, उनके अधीन सिर्फ सात या आठ स्कूल थे।

मैं पंडितजी के पास अभिधान और व्याकरण पढ़ता था। पर 'मुग्धबोध' के सूत्रों का अर्थ जानना मेरी सामान्य बुद्धि के लिए अगम्य था। उसके बाद महात्मा विद्यासागर की 'व्याकरण कौमुदी' के चारों भाग और तीन खंडों में 'ऋजुपाठ' प्रकाशित हुए। ये पुस्तकें मेरी संस्कृत-शिक्षा के लिए अनुकूल थीं। पांच-छह साल की विशेष मेहनत से मैंने 'रघुवंश', 'कुमारसंभव' के कुछ सर्ग, 'मेघदूत', 'हंसदूत', 'पदांकदूत', 'शकुंतला', 'मृच्छकटिक', 'मुद्राराक्षस', 'उत्तररामचरित', 'मालविकाग्निमित्रम्' आदि काव्य-नाटकों को पढ़ लिया। अंत में योग्य शिक्षकों के अभाव में काव्य-पाठ त्याग कर पुराण पढ़ना आरंभ कर दिया। संस्कृत काव्य-पाठ के लिए योग्य शिक्षक न मिलने के कारण मुझे टीका का सहारा लेना पड़ रहा था। अधिक अबोध्य स्थानों को चिह्नित करके रख लेता। कोई पंडितजी मिलते तो उनसे पूछ लिया करता था।

उस समय कचहरी भर में यह खबर फैल गई कि एंट्रेंस पास एक बंगाली बाबू बालेश्वर

के थर्ड मास्टर बनकर आए हैं। इसके पहले 'एंट्रेंस' शब्द बालेश्वर वालों ने सुना नहीं था। हेडमास्टर और सेकेंड मास्टर दोनों ने एंट्रेंस पास नहीं किया था। याद आती है जैसे उससे पिछले वर्ष से एंट्रेंस-पास प्रथा का आरंभ हो गया था। कचहरी में कर्मचारियों ने सोचा—जो अंग्रेजी में एंट्रेंस पास कर लेते हैं, न मालूम वे कितने बड़े महापुरुष हैं। कचहरी के बंद होते ही सारे वकील, मुखतार, मामलतकार, सिरश्तादार, पेशकार और दूसरे लोग, कोई पालकी पर, कोई घोड़े पर, ज्यादातर पैदल ही आकर मास्टरजी के आवास के सामने उपस्थित हो जाते। मास्टरजी का आवास अंग्रेजी स्कूल के पास वाले दामोदरपुर गांव की सड़क के किनारे था। वह आवास जैसे-तैसे एक ही कमरे का था। उसी कमरे के एक ओर आधी दीवार बनाकर रसोई के लिए जगह बनाई गई थी। एक ही आंगन था और सामने हाथ भर चौड़ा बरामदा था। उस मकान को मकान या कुटिया कुछ भी कहें—उसका महीने में किराया शायद आठ आना होगा। आवास से लेकर सड़क तक लोगों की भीड़ देख मास्टरजी हैरान रह गए। अभ्यागतों को बैठने के लिए कैसे कहें ? आसन तो दूर की बात रही, जगह कहां है ? लोगों को देखकर मास्टरजी के मन में गर्व का भाव जागने लगा। अधमैला एक छींट का कुरता पहनकर घुटनों तक ढंकने वाला एक गमछा बांधे वे बरामदे में गंभीर हो टहलने लगे। दर्शक उन्हें देव-दर्शन की भांति ध्यानमग्न हो देखने लगे। मास्टरजी की उम्र उन्नीस-बीस की होगी। घोर कृष्ण वर्ण था, पंजर के हाड़ साफ नजर आ रहे थे। रूप किंचित असुंदर था। पर उससे क्या ? गुण कितना है ! आदमी तो रूप के बल पर बिकता नहीं, गुण से उसकी कीमत बढ़ती है। तीन-चार दिन तक उनके घर के सामने भीड़ लगी रही थी। बाद में धीरे-धीरे भीड़ कम होती गई।

दूसरे साल बालेश्वर के सरकारी अंग्रेजी स्कूल के एक छात्र को एंट्रेंस परीक्षा देने के लिए कलकत्ता भेजा गया। उनका नाम था राधानाथ राय। कविवर राधानाथ राय बालेश्वर जिले के सर्वप्रथम एंट्रेंस पास छात्र हैं। राधानाथ बाबू एंट्रेंस पास हो गए, यह खबर बालेश्वर पहुंचते ही कचहरी में हलचल मच गई। कर्मचारी लोग एक जगह बैठकर बातें करने लगे—लगता है, एंट्रेंस-पास कर लेना कोई इतनी बड़ी बात नहीं है। हमारे सुंदर बाबू के छोटे-से लड़के ने पास कर लिया। यह क्या कोई बड़ी बात रह गई है अब ! राधानाथ बाबू के पिता श्री सुंदरनारायण राय कचहरी में बाबू थे। एफ. ए. पढ़ने के लिए राधानाथ बाबू को कलकत्ता भेजा गया। उनके छोटे चाचाजी जाह्नवी बाबू उनके अभिभावक के रूप में गए। उस समय कलकत्ता जाने में बड़े-बड़े रथी-महारथी भी घबराते थे। पांच-सात आदमी एक साथ न निकलें तो कोई अकेले जाने की हिम्मत नहीं करता था। बालेश्वर से कलकत्ता पैदल छह दिन का रास्ता था । उस पर वह रास्ता भी दुर्गम था; बरसाती मौसम में घुटनों तक का कीचड़, शीत के मौसम में ऊबड़-खाबड़ और गर्मियों के दिनों में धूल से भरा रहता था। उस पर बीच-बीच में सरायों में रसोइयों, नदियों को पार करते समय मांझी और ठेकेदारों के जुल्म का कोई ठिकाना नहीं था। रास्ते में चोर-डकैतों का डर भी बना रहता था। कलकत्ते से भद्रख तक चोर-डकैतों का अत्याचार अति प्रबल था। रोज राहजनी होती रहती थी।

डकैतों के कई गिरोह थे। उनमें से सरदार गदेई कंडरा का गिरोह बालेश्वर भर में कुख्यात था। उसके अधीन लगभग साठ-सत्तर डकैत थे। ये डकैत राणीगंज कलकत्ता से लेकर कटक तक के चक्कर काटकर धनी बटोही और महाजनों की खोज करके खबर पहुंचाते थे। खबर पाकर गदेई अपने गिरोह को डाका डालने के लिए भेज दिया करता था। अंत में किसी महाजन से पंद्रह-बीस हजार लूटकर उसने डकैती छोड़ दी। उसने जीवन का अंतिम भाग भागवत पुराण सुनकर, देव-ब्राह्मणों के प्रति भक्ति, योग्य पात्रों को दान और अन्य सद्कार्य करके बिताया था। गदेई के गिरोह के अलावा और भी कई छोटे-छोटे गिरोह थे। ये छोटे-मोटे चोर शाम के बाद सड़क के किनारे कहीं छिपकर बैठ जाते थे। बैलगाड़ियों से चोरी करना ज्यादातर इन्हीं लोगों का काम था। बैलगाड़ी के सामने पैर झुलाकर गाड़ीवान बैठा रहता और ऊंघता हुआ गाड़ी हांकता रहता; यात्री गाड़ी के भीतर पुआल पर बिछौना बिछाकर आराम से सोता रहता कि इतने में ये चोर आकर गाड़ी के पीछे लगे टाट को काटकर जो कुछ भी हाथ लगता उठा लेते। चलती गाड़ी की घरघराहट के कारण टाट काटने की आवाज सुनाई नहीं पड़ती और वे माल गायब कर देते। उस पर यात्री भी निश्चिंत मन से सोया रहता, उसे कुछ भी पता नहीं चलता। सुबह होने पर सब-कुछ मालूम पड़ता। यह रोज की बात थी।

सड़क के किनारे वाले दुकानदार डाकुओं की सहायता करने वाले थे। ये दुकानदार सरायों में रहने वाले नहीं थे। उनके घर सरायों से एक-दो कोस की दूरी पर होते थे। सुबह से रात के लगभग एक पहर तक दुकानों में ये लोग यात्रियों को चिवड़ा-चावल, हंडी-लकड़ी आदि रसोई के सामान बेचकर घर चले जाते। तरकारी में डालने के लिए वे जो हल्दी का चूरा बेचते उसमें कोई नशीली चीज होती जिसे खाकर यात्री अचेत होकर सो जाते, तब आधी रात गए डाकू आकर सब लूट लेते। ओड़िसा के निम्न वर्ग के लोग छोटी-मोटी चाकरी के लिए कलकत्ता जाते थे। बंगदेश में दो-तीन साल रहकर, कुछ कमाकर जब वे देश लौटते तब राह में राहजनी हो जाती थी। इसलिए जब भी वे लौटते, एक साथ तीस-चालीस लौटते थे। ऐसी स्थिति में भी कभी-कभार डकैती हो ही जाती थी। उस समय एक कहावत प्रचलित थी–

"हलदी मखामखी
नारणगढ़ पारि हेले (पार कर जाने के बाद)
कुटुंब देखा देखि।"

उस समय नारणगढ़ इलाके में चोरों के तगड़े अड्डे थे।

पहले साहूकारी रकम या नौकरों के वेतन की रकम लोग लेकर आते-जाते थे। विदेशी कर्मचारियों के वेतन की रकम लाने-ले जाने के लिए उत्कल के कई इलाकों से एक-एक आदमी मुकर्रर किया जाता था। उन्हें हुंडिया कहा जाता था। वे प्रवासी कर्मचारियों के वेतन के रुपये उनके घर पर पहुंचाने का काम करते थे। रकम के हिसाब से उन्हें कुछ मेहनताना मिलता था। यही उनकी कमाई थी। हुंडिया लोग प्राय: डाकुओं के हाथ आ फंसते थे। डाकुओं

के जासूस नौकर बनकर हुंडियाओं की खोज करते रहते। एक और तरह के डाकू हिमालय से लेकर रामेश्वरम तक भारत की गली-गली में चक्कर काटकर डाका डालते थे। उन्हें ठग कहा जाता था। वे पश्चिमांचल के रहने वाले थे। आश्विन से लेकर आषाढ़ तक की अवधि में वे काम करते थे। उनकी कार्य-प्रणाली आश्चर्यजनक और निष्ठुर थी। एक रुपये तक के लिए भी वे किसी को जान से मार डालने में नहीं हिचकते थे। धन्य है अंग्रेज सरकार का कौशल और शासनविधि कि पचास-साठ सालों में यह ठग-वंश भी निर्मूल हो गया था। मैंने अपने बचपन में एक ठग को बंदी के रूप में बालेश्वर में देखा था। कई जेलों में हजारों की संख्या में ठग कैद थे, कइयों को काला पानी और फांसी तक की सजा हुई थी। सिर्फ ठग ही बंदी बनाए गए थे, सो बात नहीं; ठगी गई चीजों को खरीदने वालों को भी उम्र-कैद तक की सजा हुई थी। सोचता हूं, ठगों की जड़ उखाड़ फेंकने के लिए शायद सरकार की ओर से ऐसे सख्त कानून जारी कराए गए थे। कलकत्ता आने-जाने के रास्ते के बारे में कहते-कहते मैं अब भटक गया हूं, सो अब प्रसंग पर आता हूं।

जब राधानाथ बाबू ने एंट्रेंस पास किया तब उनकी उम्र पंद्रह-सोलह साल की होगी। पर दुबले-पतले होने के कारण वे दस-बारह साल के-से लगते थे। राधानाथ बाबू और उनके चाचा शाम के समय कलकत्ता पहुंचकर एक घर लेकर रहने लगे। दूसरे दिन सुबह उठकर दोनों लोटे लेकर प्रातः-कर्म से निवृत्त होने के लिए बाहर निकल पड़े, पर देर तक इधर-उधर भटकने के बावजूद उन्हें एक खुला-सा मैदान नहीं मिला तो कलकत्ता पर चिढ़कर कहने लगे, "बड़ा बेकार शहर है !"

सुंदरनारायण बाबू एक साधारण-से कर्मचारी थे। उनकी आमदनी भी कम थी। कलकत्ता का खर्चा न जुटा पाने के कारण सिर्फ कुछ ही महीने रहकर राधानाथ बालेश्वर लौट आए। घर पर पढ़ाई करके उन्होंने एफ. ए. पास किया था।

10. बालेश्वर मिशनरी स्कूल में काम

बालेश्वर के मिशनरी स्कूल नें प्रधानाध्यापक का पद खाली था। वेतन था महीने में दस रुपया। स्कूल के मंत्री रेवरेंड ए. मिलर ने मुझे उस पद पर नियुक्त किया। दूसरे अध्यापक की जगह भी खाली थी। उस पद पर मेरे परम मित्र गोविंदचंद्र पट्टनायक भर्ती हो गए। उन्हें मासिक सात रुपये मिले। उस समय सामाजिक स्तर पर दस रुपये मासिक वेतन पाने वाले की काफी इज्जत थी। कचहरी के सारे महकमों में काम करने वाले सिरश्तादार और पेशकारों के अलावा दूसरे बाबुओं को दस से कम मिलता था।

नई नौकरी के बारे में सुनकर ठाकुर मां खुशी से नाचने लगीं। पर ताऊ और ताई को यह अच्छा नहीं लगा, क्योंकि तब उनके लड़कों ने कमाना नहीं शुरू किया था। मेरी नौकरी इसलिए उन्हें असहनीय हो गई। ठाकुर मां बेमतलब खुश हो रही थीं। उन्होंने मेरे वेतन की एक पाई तक को हाथ नहीं लगाया था। महीने के अंत में ताई तनखाह की सारी रकम पाई-पाई गिन लेतीं और वह भी खीझते हुए। किसी महीने में एक-दो रुपये का कुरता या चादर मैं अपने लिए ले लूं तो आग-बबूला हो जातीं। कहतीं–"वेतन के पैसे से तो कपड़े खरीद लिए, अब खाएगा क्या ?" मेरे वेतन के पैसे उन्हीं के लड़कों के लिए कपड़ों और दूसरे खर्चों में लगते। बालेश्वर मिशन स्कूल के सेक्रेटरी रेवरेंड ए. मिलर दीर्घकाय, सुंदर, गठीले शरीर के पुरुष थे। किंचित स्थूलकाय थे। उनमें दोष सिर्फ यह था कि वह स्वभाव के क्रोधी थे। उस पर, कुछ भी समझते नहीं और जो मन में आता बक जाते। यह सच है कि क्रिस्तानों के अभाव में हम हिंदुओं को स्कूल में शिक्षकों के रूप में उन्होंने नियुक्त कर लिया था, पर हिंदुओं के प्रति उनमें रत्ती भर विश्वास नहीं था। उन की राय में देव-पूजक हिंदू शैतान के अवतार हैं। यह उनका पक्का विश्वास था कि प्रत्येक हिंदू देव-पूजक, मिथ्यावादी, अविश्वासी और दुष्ट होता है। मैं हिंदू था, इसलिए दुष्ट था और विश्वासपात्र नहीं था। वे ओड़िआ भाषा अच्छी तरह जानते नहीं थे। स्कूल की कार्यविधि के संबंध में भी वे नहीं जानते थे। मैं स्कूल के लिए कोई नई योजना बनाकर देता तो वे बेमतलब गुस्सा हो जाते और कभी-कभी मेरी योजना के विपरीत कुछ आदेश दे देते। क्योंकि मैं हिंदू था, अतः दुष्ट था, इसलिए मेरे प्रस्ताव का अनुमोदन करना किसी धार्मिक क्रिस्तान के लिए उचित नहीं था। उनका अकारण क्रोध देखकर मैं डरता नहीं, वरन उनकी विचित्र ओड़िआ भाषा सुनकर और उनके विचित्र ढंग से हाथ-पांव चलते देखकर मन-ही-मन हंसता था। मैं चुपचाप वहां से चला आता। उस समय बालेश्वर मिशन बालिका विद्यालय में एक पंडित थे। उनका नाम था विश्वनाथ शतपथी। वे जैसे शिक्षित थे, वैसे विचित्र-कर्मा भी थे। ओड़िआ और संस्कृत के आशु-कवि तथा संगीत, सूचीकर्म और अन्य कई सूक्ष्म कलाओं के अभिज्ञ थे। वे बड़े ही विनोद-प्रिय थे। मेरे साथ उनका बड़ा प्रेम था। उनके कवित्व के संबंध में एक उदाहरण

देने की इच्छा करता हूं। मिशन स्कूल और बालिका विद्यालय एक बड़े-से बंगले में थे। बीच में एक दीवार थी। बालिका विद्यालय में सिर्फ ईसाई लड़कियां पढ़ती थीं। जात-पांत के डर से बालिकाओं को पढ़ने के लिए भेजने में हिंदुओं को संकोच होता था।

बालिका विद्यालय में एक बड़ी लड़की पढ़ती थी। उसका नाम था शारदा। एक दिन किसी प्रयोजन से शारदा को भेज देने के लिए मैंने लिख भेजा। शतपथीजी ने उसी छोटे-से कागज के पीछे लिख दिया–"लज्जावती नेच्छति तत्र गन्तुम" और वापस कर दिया। मैंने उसी कागज को लेकर बरामदे पर से विश्वनाथजी को पुकारा। वे आए तो उसी श्लोकांश को पूरा कर देने का अनुरोध किया। केवल एक ही चरण लिखकर कवित्व दिखाएंगे क्या ? विश्वनाथजी ने तभी उसी स्थान पर खड़े-खड़े आवृत्ति करना आरंभ कर दिया–

"उत्तुंग वक्षा ही नितंब गुर्वी
नवीन धराधर चारु केशा
सदैव हास्यामृत पूर्ण वक्ता
लज्जावती नेच्छति तत्र गन्तुम।"

एक दिन पंडितजी स्कूल से अनुपस्थित रहे। दैवयोग से उस दिन मुहर्रम था। दूसरे दिन सेक्रेटरी मिलर साहब ने उन्हें बुलाया और कहा–"ओ विश्वनाथ पंडिट, टुम क्यों कर आया नहीं गया काल ?"

विश्वनाथ–"कल मैं बीमार था, इसलिए नहीं आ सका।"

मिलर साहब–"टुम मिथ्याबाडी हो। कल मुहर्रम-पूजा करने गया था। टो टुमको एक रुपिया जुरमाना किया गया।"

विश्वनाथजी बोले–"जी, मैं हिंदू ब्राह्मण हूं, मुसलमानों की मुहर्रम-पूजा करने कैसे जाता !"

मिलर–"टुम देवपूजक सब समान हो।"

साहब ने एक रुपया जुर्माना कर दिया। फिर भी उनकी अज्ञता देखकर हम लोग खूब हंसे। हमारे बंधु भी उसी बात को लेकर महीने भर तक हंसी-मजाक करते रहे।

प्रभु यीशु मसीह की धार्मिक कहानी हाट और अन्य प्रमुख स्थानों में प्रचार के लिए प्रचारक भाइयों को लेकर साहब दूर देहातों में भी जाते थे। उनके बालेश्वर वापस आते ही उनके खिलाफ फौजदारी मुकदमे दायर हो जाते।

मुकदमे का हाल कुछ इस प्रकार होता–प्रचारक भाइयों के साथ हाट की किसी खुली और ऊंची जगह खड़े हो जाते और पहले ऊंचे स्वर में कोई अंग्रेजी गीत गाने लगते तो हाट के लोग उस अपूर्व स्वर को सुनने के लिए उनके चारों ओर जमा हो जाते। वे हाट वाले और साधारण बटोही लोग उस गीत का क्या अर्थ समझते ? कोई शिक्षित आदमी भी उसे समझने में समर्थ नहीं होगा। संगीत समाप्त होते ही साहब स्वयं भाषण आरंभ कर देते–"बाइमाने (भाइयो) टुम्भमानंक (तुम्हारे) जगन्नाठ काष्ठ अछि। से किछि नुहे। टाकु

बजिले (भजन करने से) अनन्ट (अनन्त) नरकरे पड़िब। प्रबु यिशुख्रीष्ट ट्राणकर्टा (त्राणकर्त्ता) अटन्ति। टांकु बजिले आलुअ (प्रकाश) पाइब, स्वर्ग राज्येर अधिकारी हेब।"

कोई निर्बोध अगर कह दे–"नहीं साहब, अपने जगन्नाथ भले हैं, तुम्हारे यीशु ठीक नहीं।" तब साहब गुस्से से अस्थिर हो जाते और आपे से बाहर होकर बकने लगते–"अरे दुष्ट, देव-पूजक हिंदू, तूने प्रभु यीशु की निंदा की!" हाथ में कोड़ा रहता तो उसी से पीटने लग जाते। सिर्फ ईसामसीह के निंदकों को ही नहीं, जो कोई भी सामने आ जाए उसे भी। और अंत में फौजदारी अदालत तक मामला चला जाता।

साहब को विश्वास था कि वे ओड़िआ भाषा अच्छी तरह जानते हैं। कई दिनों की मेहनत से उन्होंने एक छोटी-सी अंग्रेजी की पुस्तक का ओड़िआ अनुवाद कर लिया था। अनुवाद-कार्य के समाप्त होते ही तय हुआ कि मैं उसे देख लूं और उसका संशोधन कर दूं। तब उसे सर्वप्रधान प्रचारक भिखारी भाई एक बार शुरू से आखिर तक पढ़ लेंगे। अनुवाद ठीक हो तो छापने की व्यवस्था होगी। पांडुलिपि मिलते ही मैंने संशोधन-कार्य आरंभ कर दिया। मुझे स्मरण है कि पुस्तक के शुरू-शुरू में कुछ इस प्रकार था–हैं ऐसे अनेक लोग पृथ्वी में जो विश्वास किया नहीं है परमेश्वर जगत में।' मैंने इस अंश को इस तरह लिख दिया–'परमेश्वर के अस्तित्व को नकारने वाले भी इस पृथ्वी पर हैं।'

पुस्तक का संशोधन करके दिखाने के लिए लेकर भिखारी भाई के पास पहुंचा। वे हस्त-लिखित अक्षर पढ़ नहीं पाते थे। अतः मैंने पढ़कर सुनाया। भिखारी भाई पहला वाक्य सुनकर ही आग-बबूला हो गए और चीखते-से कहने लगे–"क्या, क्या, क्या लिख डाला है तुमने पंडितजी, परमेश्वर का हाड़? परमेश्वर क्या देव-पूजकों की मूर्तियों की तरह काठ-पत्थर के बने हैं कि उनकी हड्डी होगी?" मैं कुछ भी नहीं समझा और भकुए की तरह उनके मुंह की ओर ताकता रह गया। भिखारी भाई कई तरह से मुझे समझाने की कोशिश कर रहे थे कि परमेश्वर की हड्डी ही नहीं है। मैंने उनसे कोमल और विनीत भाव से पूछा–"मैंने कहीं हड्डी के बारे में लिख दिया है क्या?" भिखारी भाई ने कहा–"यही अस्थि और क्या है? अस्थि का मतलब हाड़ नहीं तो और क्या? यह क्या मुझे मालूम नहीं है?" मुझे इतना भर कहकर साहब के सामने पहुंच गए और गुस्से से चीखने लगे–"साहब भाई, पंडित ने तुम्हारी किताब में अपवित्र बातें लिखकर सत्यानाश कर दिया है।"

साहब की समझ में भिखारी भाई एक अच्छे-खासे विद्वान थे। क्योंकि वे कूंथते-से जान, लूक मैथ्यू की बाइबिल पढ़ लेते थे और उस पर वे क्रिस्तान थे, अतः विश्वासी थे। इसलिए वे कुछ भी कहें, सच ही होगा। मैं एक देव-पूजक दुष्ट हिंदू था, इसलिए विश्वासपात्र नहीं था। साहब ने मुझ से कुछ भी नहीं पूछा और मुझ पर गुस्से से बरसने लगे। कई दिनों तक उन्होंने मुझसे बात तक नहीं की। अंत में उनकी पुस्तक का क्या हुआ, मुझे मालूम नहीं।

मैं जिस समय की बात कर रहा हूं तब ईसाइयों के सिर्फ पांच छोटे-छोटे घर थे। अब तो बड़ी-बड़ी तीन बस्तियां बस गई हैं। हर इतवार को सैंकड़ों उपासकों से भजनालय भर जाता है। उनमें कई खानदानी, पदाधिकारी और विद्वान लोग भी शामिल होने लगे हैं। ये सारे ईसाई कहां से आए ? यह स्पष्ट है, हिंदू समाज जिस तरह ध्वंस के पथ पर तेजी से जा रहा है, कई सदियों के बाद लगता है इस समाज का नामो निशान नहीं रहेगा– यह निश्चित समझें। समय रहते इसके प्रतिकार की व्यवस्था करना प्रत्येक चिंताशील हिंदू का कर्त्तव्य है। पृथ्वी के आदि धर्मग्रंथ वेद, उपनिषद और जगन्मान्य गीता जिस जाति के मूल धर्मशास्त्र माने जाते हैं, उस जाति की दुर्दशा देख स्वतः मन में दारुण पीड़ा होती है।

रेवरेंड मिलर साहब के खिलाफ फौजदारी अभियोग लगने के कारण अमरीकन मिशन सोसाइटी ने संपर्क तोड़ दिया। पर ज्यादा दिन तक उन्हें असमंजस की स्थिति में नहीं रहना पड़ा। बालेश्वर जिले के तत्कालीन कलेक्टर मिस्टर विगन लॉर्ड साहब ने सरकार को उनकी सिफारिश करते हुए लिखा और डिप्टी कलेक्टर के पद पर उनकी नियुक्ति कर दी। परंतु डिप्टी की पदवी मिलने के कुछ ही महीने बाद वे परलोक सिधार गए।

बालेश्वर के कार्यकारी कलेक्टर आर.एच. पशी साहब और जॉयंट मैजिस्ट्रेट मेयर्स साहब साथ-साथ एक ही बंगले में रहते थे। मैं उन दोनों को बंगला पढ़ाता था। आर्थिक उन्नति की आशा से किसी सरकारी नौकरी पर मुझे लगा देने का अनुरोध किया तो कलेक्टर पशी साहब ने मुझे कचहरी में मुंशी के पद पर भर्ती कर लिया। पर उस कार्य में लिखने-पढ़ने के लिए समय ही नहीं मिलता था। उसी समय रेवरेंड ई.सी.वी. हेलम साहब बालेश्वर मिशन स्कूल के नए मंत्री बन कर आए। इसलिए मैं अपने पूर्व कार्य-क्षेत्र में लौट आया। रेवरेंड हेलम देखने में जैसे सुंदर थे, वैसे ही विद्वान और गुणवान भी थे। वे अत्यंत मधुर-भाषी थे। स्वभाव के कोमल। ओड़िआ भाषा पर उनका विशेष अधिकार था। उनका ओड़िआ शब्दों का उच्चारण और स्वर किसी उत्कल-निवासी की तरह था। वे बोलते तो किसी पक्के ओड़िआ की भांति ही सुनाई देता था। उनका विश्वास था कि उत्कल में ईसाई धर्म के प्रचार से ज्ञान और सुनीति का प्रचार अधिक उपयोगी होगा और उनका कार्य भी वैसा ही था।

उन्होंने एक ओड़िआ-अंग्रेजी व्याकरण तैयार किया जिससे कि अंग्रेजों को ओड़िआ सीखने में अधिक सुविधा हो। पुस्तक-प्रणयन के समय मैंने उन्हें किंचित सहायता दी थी। कृतज्ञ हेलम साहब ने इसके लिए अपनी उस पुस्तक में मेरा नामोल्लेख किया था। ओड़िआ व्याकरण के हर विषय पर दोनों की राय समान रही थीं। एक ही स्थल पर मतांतर हुआ। उनकी राय से ओड़िआ भाषा में 'संप्रदान' नामक एक कारक की आवश्यकता नहीं थी। कर्म और संप्रदान कारकों में (और 4) विभक्ति चिन्ह 'को' है, इसलिए संप्रदान को विशेष रूप में लिखने की क्या आवश्यकता ? उन्होंने अपने उस व्याकरण में वास्तव में संप्रदान

कारक का उल्लेख ही नहीं किया।

उस समय उत्कल में सहायता-प्राप्त बंगोत्कल विद्यालय की अंतिम परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों को महीने में चार रुपये की वृत्ति देकर चार साल के लिए अंग्रेजी पढ़ाने का नियम था। प्रथम वर्ष चार छात्र बालेश्वर मिशन स्कूल से उत्तीर्ण होकर गए। उनमें से तीन को वृत्ति मिली। उनमें मेरे बड़े दामाद रघुनाथप्रसाद चौधुरी एक थे। उत्कल भर में बालेश्वर मिशन स्कूल ने सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। अतः गुणग्राही रेवरेंड हेलम साहब ने मेरी तनखाह बढ़ाकर पच्चीस रुपये कर दी।

उस समय बालेश्वर जिले के कलेक्टर मैजिस्ट्रेट जान बीम्स ने तत्कालीन सिविलियन मंडली और देशी शिक्षित समाज में एक असाधारण पंडित के रूप में ख्याति प्राप्त की थी। ग्यारह भाषाओं पर उनका अधिकार था। उस समय वे बालेश्वर में अपने आर्यभाषा संबंधी व्याकरण के लेखन-कार्य में लगे थे। रेवरेंड हेलम साहब एक प्रमुख साहित्य-प्रेमी के रूप में परिचित थे। इस से दोनों साहबों में विशेष मैत्री थी। जान बीम्स साहब जब पंचभाषिक व्याकरण लिख रहे थे तब उन्हें संस्कृत, ओड़िआ और बंगला, इन तीनों भाषाओं में ज्ञान रखने वाले एक पंडित की आवश्यकता हुई। मेरे परम हितैषी रेवरेंड ई.सी.वी. हेलम साहब ने मुझे साथ लेजाकर उनसे मेरा परिचय कराया। पहली मुलाकात के पश्चात जान बीम्स महोदय ने मुझ से संस्कृत, तद्धित और अव्यय शब्दों के बारे में कई सवाल किए। दैवयोग से उनके सवालों के उत्तर उन्हें भा गए तो उन्होंने मेरे जवाबों को अपने पंचभाषिक आर्यभाषा व्याकरण में जोड़ दिया। साहबों के साथ मेरा विशेष रूप से परिचय हो गया–"निरस्त पादप देशे एरंडोऽपि द्रुमायते।"

उस सयम बालेश्वर के शिक्षित समाज में संकीर्णता के कारण साहब की नजर में मैं एक पंडित बन गया था। हफ्ते में कम-से-कम एक बार मिलने के लिए कहा था साहब ने। कभी-कभार एक-दो दिन टल जाता तो मिलते ही वे पूछते – "बाबू, क्या बात है, मिलने नहीं आए ?" उनसे मिलने पर प्रायः भाषा पर ही चर्चा होती। कभी संस्कृत श्लोक, कभी किसी बंगला काव्य, तो कभी ओड़िआ रसकल्लोल से लेकर सर्प-मंत्र और भूत-प्रेतों के मंत्रों पर बातचीत होती।

उस समय बालेश्वर में ओड़िसावासियों और बंगालियों में विवाद चलता था। साहब लोग मेरे पक्ष में थे। इसलिए बंगाली अफसर और बड़े-बड़े बाबू लोग मुझसे डरा करते थे। उस समय बालेश्वर में छोटे अफसर और बड़े-बड़े बाबू बंगाली ही थे।

बालेश्वर में स्त्री-शिक्षा का प्रचार और ओड़िआ भाषा के संरक्षण और पुष्टि-साधन के लिए मुझे जान बीम्स साहब से काफी सहायता मिली थी। साहब ने कई बार कई तरह की विपदाओं से मेरी रक्षा की थी। साहब मेरे परम हितैषी और सहायक थे। मेरी हर तरह की सांसारिक उन्नति का एक मात्र मूलाधार थे रेवरेंड जान बीम्स। मुझे मेरे जीवन के अंतिम क्षण तक उनके पवित्र नाम का स्मरण रहेगा। उनकी स्वर्गीय आत्मा की सद्‌गति

के लिए मैं नित्य सुबह-शाम परमेश्वर से प्रार्थना करता हूं। अत्यंत संकोच के साथ लिख रहा हूं कि साहब हर जगह कहा करते थे कि मैं एक देश-हितैषी पंडित हूं।

11. कटक नार्मल स्कूल में पंडिताई

बंगाल के दक्षिण-पश्चिम विभाग के स्कूल इंसपेक्टर आर. एल. मार्टिन साहब का मुख्य कार्यालय मेदिनीपुर में था। ओड़िसा के विद्यालयों के निरीक्षण के लिए वे कटक आए हुए थे। उस समय कटक नार्मल स्कूल में द्वितीय पंडित (शिक्षक) का पद खाली था। तनखाह थी मासिक तीस रुपये। साहब ने मुझसे पत्र लिखकर पूछा था कि मैं उस पद के लिए प्रार्थी हूं या नहीं। उसी पत्र में साहब ने यह भी लिखा था कि अगर नियुक्त कर लें तो मुझे कटक चलना होगा। यानी, मैं हां कर दूं तो ना नहीं कर सकूंगा। उस समय बालेश्वर मिशन स्कूल के मंत्री रेवरेंड ई.सी.वी. हेलम साहब बालेश्वर के उत्तरांचल के दौरे पर थे। सलाह लेने के लिए मैं उनसे मिला तो उन्होंने मेरी तनखाह तीस रुपये कर दी और मुझे रोक लिया। इससे मेरा कटक जाना नहीं हुआ। जलेश्वर से लौटते समय बालेश्वर शहर से आठ कोस दूर बस्ता गांव की सराय में पहुंचा ही था कि शाम के समय मुझे भयानक बुखार चढ़ा। सुबह तक सारे शरीर में चेचक निकल आई। वहां से एक पालकी किराये पर लेकर मैं बालेश्वर पहुंचा। संध्या समय घर पहुंचकर अपने सोने के कमरे की चौखट पर बैठे-बैठे असहाय पीड़ा के कारण कराह रहा था। तब मेरे पास आकर ठाकुर मां ने रोते हुए पूछा–"तू कटक जाए न जाए, तेरी मरजी। बता तो, साहब ने तुझे क्यों पीटा ?" मैं बार-बार बोल रहा था कि "साहब ने मुझे मारा नहीं है। मुझे बुखार हो गया है, चेचक निकली है और मैं अब बैठ भी नहीं सकता। मेरे लिए अलग बिछौना कर दें, मैं सोऊंगा।" पर मेरी तब सुनता कौन ? वे बार-बार वही प्रश्न दुहरातीं कि साहब ने मुझे क्यों मारा। अंत में मुझे लेकर सुलाया। शरीर पर उभर आए चेचक के दानों को देख और शरीर को छूकर बुखार की तपिश जानकर चुप हुईं। मैं लेटा था और मेरे सिरहाने बैठी ठाकुर मां मेरा सिर सहला रही थीं ? मैंने पूछा– "ठाकुर मां, साहब ने मुझे मारा है, यह सवाल बार-बार क्यों पूछ रही थीं?" "बात यह है कि कल सपने में मैंने साहब को तुझे मारते हुए देखा। तेरी देह फूली हुई थी। तुम शाम को घर पहुंचकर उसी चौखट पर बैठ गए और जिस तरह सपने में कराह रहे थे, उसी तरह रोने लगे। ठीक-ठीक यही सब मैंने सपने में भी देखा था।"

दिवंगता ठाकुर मां ! मेरे बचपन में मेरे माता-पिता को ईश्वर ने अपने पास बुलाया और तुम्हें मेरी जीवन-पालिका, रक्षक के रूप में नियुक्त किया था। मन की पीड़ा किससे बखानता तुम्हारे सिवाय ! मैं कृतघ्न हूं। एक दिन के लिए भी तो तुम्हारी कोई सेवा नहीं की। कुछ भी उपकार नहीं किया। अब पश्चात्ताप के सिवाय क्या रह गया है मेरे लिए !

12. अंग्रेजी सीखने की इच्छा और शिक्षारंभ

दक्षिण-पश्चिम विभागीय स्कूल इंसपेक्टर आर. एल. मार्टिन साहब स्कूल के इंसपेक्शन के लिए आकर बालेश्वर सर्किट हाउस में ठहरे थे। उनसे भेंट करने के लिए मैं वहां पहुंचा। उस समय साहब सोये हुए थे। मैं बरामदे में इंतजार करने लगा तो एक हिंदुस्तानी दरबान आकर मेरे साथ बैठ गया और बातचीत करने लगा। वह सोच रहा था कि मैं किसी अंग्रेजी स्कूल का शिक्षक हूं और इसी तरह से बातें करने लगा। मैं सब समझ रहा था, चुप था और किसी बात का खंडन नहीं किया। पर उस समय मैं मन-ही-मन लज्जित हुआ था। तय किया कि सब कुछ छोड़-छाड़कर अंग्रेजी पढ़ूंगा। उस समय मेरी उम्र बाईस-तेईस साल की थी। फुर्सत के समय संस्कृत काव्य-नाटक और बंगला की प्राचीन और नवीन पुस्तकों का अध्ययन कर रहा था।

बालेश्वर के मोतीगंज बाजार के दक्षिणी ओर 'गड़गड़िआ' तालाब था। तालाब न छोटा था, न बड़ा। सुंदर, साफ जल। शहर में रहने वाले लगभग सभी के पीने के काम आता था। घाट चौड़ा और पत्थर से बनाया गया था। गड़गड़िआ तालाब बटेश्वर गांव में था। इसी गांव में बाहर से आए अधिकांश कर्मचारी बाबू और शिक्षकों के डेरे थे। कभी-कभार डिप्टी या मुनसिफ भी आकर ठहर जाते थे। गर्मियों के दिनों में लगभग सभी, शाम के समय, युवा बाबू लोग, कर्मचारी और स्कूलों के अध्यापक उसी पत्थर-घाट पर गप्पबाजी और हवाखोरी के लिए आ जुटते थे। मैं भी रोज जाया करता। गड़गड़िआ तालाब के पूर्व की ओर कविवर राधानाथ बाबू का घर था। पश्चिम में कुछ दूरी पर हमारा घर था। राधानाथ अपने पिताजी के डर से दिन के समय खुलकर हम लोगों के साथ उठ-बैठ नहीं सकते थे। कभी-कभार शाम के बाद आ जाते। बाबू मधुसूदन दास (आनरेबल एम. एस. दास, एम. ए., बी. एल., सी. आई. ई.) उस समय गवर्नमेंट स्कूल में थर्ड मास्टर थे। उनका घर भी वहीं गड़गड़िआ के पास ही था। अत: वे भी रोज हमारे साथ आ मिलते थे। आज आधी सदी बीत चुकी, फिर भी मुझे याद है कि उस तरुण वय में भी उनकी ऊंची भावना और उच्चाकांक्षा की बातें सुनकर हम लोग चकित रह जाते थे। उनका खर्चा अधिक था और कम तनखाह में उनकी गुजर नहीं होती थी। अत: वे काम छोड़कर कलकत्ता चले गए।

मेरी अंग्रेजी सीखने की इच्छा हुई। मैंने अंग्रेजी फर्स्ट-बुक का कहीं से जुगाड़ किया और गड़गड़िआ घाट पर उपस्थित दोस्तों की सहायता से पढ़ना शुरू किया। संस्कृत काव्य-नाटक आदि का पाठ छोड़कर सिर्फ अंग्रेजी पढ़ने में जुट गया। पढ़ने के लिए बहुत कम समय मिलता था। किसी अंग्रेजी शिक्षक के साथ मेरी जान-पहचान नहीं थी। मेरा एक दोस्त एक अंग्रेजी स्कूल में सेकेंड मास्टर के रूप में काम करता था। बस उसी ने

मुझे कुछ दिन पढ़ाया था। मैंने खुद डिक्शनरी की सहायता से 'अरेबियन नाइट्स', 'रॉबिनसन क्रूसो', हिस्ट्री आफ बेंगाल, रेवरेंड लालबिहारी गोबिन्द सामंत की संपादित बाइबिल, मेरी लैम्ब की 'शेक्सपीयरियन टेल्स' आदि कुछ किताबें पढ़ लीं। अंग्रेजी की उतनी पढ़ाई ने समय-समय पर मेरी बड़ी सहायता की है। कई बार बड़े-बड़े हाकिमों के साथ मुकदमों के बारे में बात करनी पड़ती थी। अंग्रेजी का वही सामान्य ज्ञान न होता तो मेरे लिए वह सब करना मुश्किल हो जाता। इस तरह की एक ही घटना का यहां उल्लेख करना चाहता हूं। केऊंझर और चाइबासा के बीच भूमि के स्वामित्व को लेकर सालों तक मुकदमा चला था। चीफ कमिशनर, डिप्टी कमिशनर, चीफ सर्वेयर और केऊंझर के महाराज के कार्यकर्ताओं की उपस्थिति में मुकदमे का फैसला होने के लिए सरकार से हुक्म आया।

नागपुर के चीफ कमिशनर साहब ने मुकदमे का फैसला करने की तारीख तय करके चाइबासा की कचहरी में केऊंझर की तरफ से किसी प्रमुख कार्यकर्ता को हाजिर होने के लिए महाराज के नाम चिट्ठी लिखी। मैं उस समय प्रमुख कार्यकर्ता था। मेरा कार्यक्षेत्र आनंदपुर था। अपने गढ़ से लगभग बावन मील की दूरी पर यह जिले भर में प्रमुख स्थान था। पल भर भी देर न करके अपनी रियासत के लिए रवाना हो जाने के लिए मुझे सदर कचहरी से महाराज साहब की चिट्ठी मिली तो मैं फौरन हाजिर हो गया। सीमा-विवाद संबंधी फाइलों के साथ चीफ कमिशनर साहब की चिट्ठी को महाराज ने मेरे सुपुर्द कर दिया और मुझे फौरन जाने का आदेश दिया। सदर कचहरी के असिस्टेंट मैनेजर बाबू विचित्रानंद दास मुझे सहायता देने के लिए मेरे साथ चले। हम दोनों दो हाथियों पर सवार होकर दो दिन बाद अपने कार्यक्षेत्र में पहुंचे। विवादग्रस्त भूमि छह मील लंबी और एक मील चौड़ी थी। दो दिन तक उसी इलाके में घूमकर पूरे जंगल के सर्वे मैप और फाइल के साथ कागजों के साथ सरजमीन की सही माप का मिलान कर हम लोग चाइबासा के लिए रवाना हो गए। वैतरणी नदी के उत्तर तट से चाइबासा इलाका, जयंतिगढ़ और दक्षिण तट से केऊंझर का इलाका शुरू हो जाता है। जयंतिगढ़ से चाइबासा जाने के लिए सरकार ने 'कोल्हान' ('कोल्ह', एक आदिवासी जाति, जिस इलाके में बसे हुए थे) के इलाके में एक कच्ची सड़क बनाई है। जयंतिगढ़ से चाइबासा 'तीन मुकामों' के फासले पर है (लगभग तीन गांवों की दूरी जितना)। सड़क के दोनों ओर आस-पास एक-आध मील की दूरी पर कोल्हों की बस्ती है। छोटे-छोटे गांवों में छोटे-छोटे सफेद घर डाक-बंगलों के आस-पास बसाए गए-से लगते थे। गांवों के चारों ओर सिर्फ सहिजन के पेड़ ही लगे हुए थे। वहां और कोई फलदार पेड़ दिखाई नहीं पड़ते। सभी गांवों का बाहरी दृश्य लगभग एक समान लगता था। उन दो-तीन दिनों में मैंने कहीं भी आम, कटहल या उस तरह का कोई अन्य पेड़ या काम की लता नहीं देखी। सड़क के दोनों ओर जहां तक नजर जा सकती है, सिर्फ बियाबान जंगल ही नजर आता था। कहीं-कहीं खेत पर काम करते 'कोल्ह' दंपति नजर आते। 'कोल्ह' हल चलाता होता और 'कोल्हनी' मेंड़ पर बैठी पति के काम को निहारती रहती। कोल्हनियां गोरी-गोरी और सुंदर गठन की थीं। उनके सिरों पर अच्छी तरह से संवारे

हुए काले-काले घुंघराले बाल थे। भरी-पूरी युवतियां भी चार हाथ का कपड़ा पहने होतीं जो चौड़ाई में सिर्फ डेढ़ हाथ का होता। नाभि से घुटनों तक ही ढंका रहता।

हम लोग दिन के लगभग बारह बजे तक डाक-बंगले पर पहुंचे। वहां हमें दिन भर रहना था, क्योंकि हाथियों के लिए खाद्य-संग्रह और उन्हें खिलाने-पिलाने में एक पूरा दिन चला जाएगा। बंगले के चौकीदार ने उस दिन के हाट के बारे में बताया। चावल, साग-भाजी की जरूरत हो तो पैसा देने के लिए कहा, क्योंकि हाट के उठ जाने के बाद कुछ मिलेगा नहीं। रसोइये ने बताया कि जो सामान है उससे एक वक्त चल जाएगा। शाम के लिए कम पड़ सकता है। मुझसे पैसे लेकर चौकीदार चला गया। शायद हाट एक-दो कोस की दूरी पर था, क्योंकि वहां आस-पास हाट आने-जाने वालों का नामोनिशान तक नहीं था।

सारा समय बेकार बैठे-बैठे गुजरता ही न था। बंगले के पास कोल्हों की एक बहुत ही छोटी बस्ती थी। देखने के लिए बस्ती के अंदर पहुंचा। एक घर के सामने तीन-चार मर्द और बच्चे थे। मैं घर के अंदर जाकर देखना चाहता हूं, यह कहते ही उन्होंने आदर के साथ अंदर चलने को कहा और मुझे आंगन में बिठाया। तीन ओर कतार में छोटे-छोटे घर और एक ओर खुला था। उस परिवार में औरत-मर्द मिलाकर शायद दस-बारह लोग थे। सभी घर पर थे। वहां से कोस-दो कोस तक कोई और गांव नहीं था। वे दोपहर के बाद और जाते भी कहां ? मैं वहां बैठे-बैठे उनके काम-धंधे, रीति रिवाज, खान-पान आदि के बारे में पूछने लगा। उनके 'बंगा-बुंगियों' (देवी-देवताओं) के बारे में पूछने लगा। वे लोग हंसते हुए मेरी बातों का जवाब दे रहे थे। आठ-दस हाथ की दूरी पर घर की सब औरतें खड़ी थीं। वे मुंह में कपड़े ठूंसकर हंसते हुए बेदम हो रही थीं। कभी-कभी मेरे ऊट-पटांग सवालों के लिए मर्द लोग भी हंसते थे। मैं जिस आंगन में बैठा था उसी के एक ओर एक चूल्हा था। मैंने उसी के बारे में पूछ लिया। एक मर्द ने हंसते हुए बताया कि उसमें मांस पकाया जाता है। मैंने एक ओर के रसोईघर की ओर इशारा करके पूछा- "इस घर में मांस क्यों नहीं पकाते ?" यह सुन औरतें लोट-पोट हो गईं। उन्होंने मन-ही-मन यह निश्चय कर लिया कि या तो मैं मूर्ख हूं या फिर पागल। नहीं तो भात पकाने की जगह मांस पकाने की बात करता ?

घर के उत्तरी ओर करीब सौ हाथ की दूरी पर एक बित्ते से लेकर पांच-छह हाथ ऊंचे पत्थर अलग-अलग गाड़े गए थे, खंभों की तरह। "वे सब क्या हैं ?" मैंने पूछा।

उत्तर मिला, "पितृपुरूष इन्हीं पत्थरों पर बैठ कर गांव की ओर ताकते हैं।"

मैंने पूछा, "पत्थर कब गाड़ते हो ?"

उत्तर मिला, "श्राद्ध के दिन।"

मैंने पूछा, "श्राद्ध कब करते हो ? यानी मृत्यु के कितने दिन पश्चात ?"

उत्तर मिला, "जब पैसे जुटते हैं। एक साल, दो साल के बाद, पैसा जमा हो जाने पर करते हैं।"

मैं उस गांव से बंगले पर लौट आया। चौकीदार ने लाल-लाल ढेर-सा चावल और

दोनों पैर बांधे एक कबूतर का बच्चा मेरे सामने रख दिया। उस कपोत-शिशु के पर नहीं थे और वह पीड़ा से फड़फड़ा रहा था। मैंने पूछा, "क्या है रे यह ?"

चौकीदार–तरकारी बनेगी, बाबू !

मैं–इसकी क्या तरकारी बनाओगे ?

चौकीदार–जी, तरकारी।

बहुत देर बाद समझा, इस इलाके में धनवान लोग कबूतर को भूनकर या उसके मांस को पकाकर खाते हैं। मैं हाथी पर वहां पहुंचा था, उस पर साथ नौकर-चाकर लेकर पहुंचा हूं..... मैं जरूर एक रईस बाबू हूं। अतः कबूतर की तरकारी खाऊंगा–चौकीदार अपनी बुद्धि के जरिए तय करके मेरे भोजन के लिए उस कबूतर को ले आया था। उस इलाके में साग-भाजी का अभाव है। आम लोगों को घर का सहिजन ही अभाव का अनुभव नहीं होने देता।

चौकीदार को उस कबूतर के बच्चे के साथ दो आने दिए, उसे खिलाने को धान खरीदने के लिए। उसे न मार कर, पालने का अनुरोध किया।

दिन के बारह या एक बजे असिस्टेंट मैनेजर बाबू विचित्रानंद दास के साथ मैं चाइबासा कचहरी में हाजिर हो गया। चीफ कमिशनर, डिप्टी कमिशनर, सर्वे विभाग के एक ऊंचे अधिकारी–इस तरह तीन अधिकारी उपस्थित थे। उन्हीं के सामने बैठने के लिए हमें दो कुर्सियां मिलीं। पहले-पहल मामूली बातों के बाद केऊंझर के जंगल के बारे में वे पूछने लगे। (ये सारी बातें अंग्रेजी में चल रही थीं।) अंत में साहब ने पूछा–"डु यू नो एवरीथिंग एबाउट दि केस ?"[1]

मैंने उत्तर दिया–"येस योर आनर ! आल दि रिकार्ड्स विद मी। आई केन एक्सप्लेन आल दि मैटर, बट आई फीयर योर आनर विल नाट अंडरस्टैंड माइ ब्रोकन इंगलिश, सो आई प्रे, प्लीज एलाओ मी टू काल ए प्लीडर।"[2]

मेरी बात खत्म भी नहीं हुई थी कि एक साहब ने कहा, "ओह नो बाबू, डोंट फीयर। गो आन, यू केन स्पीक इंगलिश वेल।"[3]

मुकदमा किंचित जटिल था। उन्हें समझाने के लिए कई विषय थे। साहब लोगों के सामने सरजमीन का नक्शा और दूसरे कागजात रखकर देर तक सारी बातें धीरे-धीरे समझाता रहा। इसके पहले भी कई बार दोनों ओर से तरह-तरह के नक्शे बनाए गए थे। मैं जब उन्हें समझा रहा था तब साहब लोग भी एक-एक नक्शा अपने सामने फैलाकर देख रहे थे। मैं अंग्रेजी में बोल रहा था, जिस में गलतियां काफी हो रही थीं। मेरी अंग्रेजी सुनकर साहब लोग हंस तो नहीं रहे हैं, यह जानने के लिए मैं सिर उठाकर बार-बार

---

1. क्या तुम इस मुकदमे के बारे में सभी कुछ जानते हो ?

2. हां श्रीमान, इस से संबंधित सब रेकार्ड मेरे पास हैं। लेकिन मुझे डर है कि आप मेरी टूटी-फूटी अंग्रेजी नहीं समझ पाएंगे। मेरी प्रार्थना है कि मुझे एक वकील को लाने की अनुमति प्रदान करें।

3. अरे नहीं, बाबू, डरो मत। तुम तो अंग्रेजी अच्छी बोल लेते हो।

देख रहा था। पर धन्य हैं वे ! मेरी अंग्रेजी की गलतियों के प्रति ध्यान दिए बिना मेरी बातों को मन लगाकर सुनते रहे और नक्शे के साथ मेरी बातों का मिलान ध्यान से करते रहे। मार्बल की तरह शुक्ल वर्ण, विशाल, गंभीर मूर्तित्रय अविचल भाव से बैठकर मेरी बातें सुने जा रहे थे।

केऊंझर की बहुत-सी जमीनें काफी दिन से खास महाल के साथ शामिल थीं। वे सब वापस मिल गईं। मुकदमे की डिग्री लेकर आया तो महाराज मुझ पर काफी खुश हुए थे।

13. ओड़िसा में अकाल

रेवरेंड ई.सी.वी. हेलम साहब से सहानुभूति पाकर सुख से, आनंद और उत्साह के साथ स्कूल का काम कर रहा था। स्कूल की छुट्टी हो जाने पर उनके साथ काफी समय तक साहित्य पर चर्चा होती। मैं उनका अधीनस्थ था, फिर भी रेवरेंड हेलम मेरे साथ परम आत्मीय की तरह बर्ताव करते थे । वे ओड़िआ जाति के उन्नतिकामी थे, अत: मुझमें उनके लिए देवता-समान श्रद्धा थी। उस समय ईसाई धर्मावलंबियों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जाती थी। उस बढ़ोतरी का विशेष कारण था, ओड़िसा में अकाल। 'न अंक' दुर्भिक्ष (सन् 1866) के दौरान यह लोमहर्षक घटना घटी थी। उस भीषण अवस्था को लोग आज भी नहीं भूल पाए हैं। उस वर्ष लगभग तीस लाख लोग मरे थे। लगभग छह आना लोगों का वंशनाश हो गया था। बहुत-से मर-खप गए, तो बहुत वहां से चले गए।

उस समय मेरी उम्र सिर्फ तेईस साल की थी। बालेश्वर मिशन स्कूल में मैं प्रधान शिक्षक था। आज पचास साल पुरानी बात है यह। फिर भी यह घटना मेरे दिल पर मानो स्पष्ट रूप से अंकित है। भादों का महीना। चार दिन लगातार बारिश के बाद वर्षा थमी थी। भादों के बाद आश्विन के आरंभ से लोग एक बूंद पानी के लिए आकाश की ओर कातर दृष्टि से ताकते रह गए थे। किसी के मुंह से कोई दूसरी बात सुनाई नहीं पड़ती थी, सिवाय पानी के। कार्तिक के आरंभ से लोग एकदम निराश हो गए। पानी बरसे भी तो कोई लाभ नहीं था। धान के पौधे मरने लगे थे। बालेश्वर जिले में एक मात्र फसल थी धान और उसी से लोगों का निर्वाह होता था। हमारे घर से आधा मील दक्षिण पर बालेश्वर शहर की सीमा खत्म हो जाती है। वहां से क्षितिज की सीमा तक धान के खेत ही खेत। बीच-बीच में समुद्र के बीच टापुओं की तरह अलग-अलग गांव थे। उस समय प्रतिदिन पूर्वान्ह नौ बजे स्नानादि करके एक कंबल-आसन लेकर मैं अकेला खेत की ओर चला जाता था। खेत के बीच बैठकर लोगों की रक्षा करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता। धान के पौधे सूखकर पुआल बनने लगे थे। कुछ पौधे आधे उगकर, कुछ पूर्ण आकार प्राप्त करके भी सफेद-सफेद मुरझाए कांस की तरह हवा में लहरा रहे थे। लोगों ने गाय-गोरुओं को खेत में बेझिझक छोड़ दिया था और गायें जाकर उन पौधों को सूंघ कर बिन खाए चली आती थीं।

दिहाड़ी मजदूरी करने वालों ने अपने पास के जो दो-एक बर्तन थे, उन्हें बेच-बाच कर जितने दिन गुजार सके गुजार लिए। कार्तिक के अंत तक जिसे जो राह मिली उसने उसे अपना लिया। पति-पत्नी, बाप-बेटे एक-दूसरे से मिल नहीं पाए। दर-दर भटकते हुए भीख मांगने लगे। किस के घर चावल था, जो भीख दे ! खेती पर भरोसा रखकर जीने वाले किसी तरह बासन-बर्तन, गाय-गोरू, सोना-जेवर बेच-बाचकर माघ-फागुन तक मिट्टी

जकड़े पड़े रहे। उस समय एक बैल की कीमत एक गौणी[1] धान से चार-पांच गौणी और एक गाय की कीमत एक-दो गौणी से अधिक नहीं थी। सोना-चांदी तौलने के लिए तराजू नहीं थी। और तराजू ढूंढ़ने के लिए फुरसत भी किसे थी! भाव आदि भी कौन पूछता ? जितनी गौणी धान या चावल जिसे देना है दे दो। कई संपन्न लोग अंटी में रुपये लेकर गांव-गांव का चक्कर काटा करते थे, धान-चावल मिले तो खरीदें । धान तो नहीं मिलता। जिसके पास था वे छिपा चुके थे। फागुन के अंत तक किसान और कारीगर लोग भी तितर-बितर हो गए। घास-फूस जिसे जो मिलता वह उसी को चबा जाता। इमली के पेड़ों पर नए पत्ते लगे तो हर पेड़ पर दस-बारह लोग बंदरों की तरह लटककर उन पत्तों को तोड़कर खाते हुए दिखाई पड़ने लगे। जिसे देखो वह हाड़ और चाम का ढांचा भर लगता। आंखें धंसी हुई। कई भले घर की जवान बहू-बेटियां सौ जगह पैबंद लगे दो-तीन हाथ के कपड़े किसी तरह कमर पर बांधे गली-गली भटक रही थीं। उनके मातृ-चिह्न रूपी दो चाम के टुकड़े छाती पर झूल रहे थे। किसी-किसी की गोद में अस्थिपिंजर-से बच्चे स्तन को मुंह में दबाए झूलते-से दिखाई पड़ते जिसे देखकर यह अनुमान लगाना मुश्किल हो जाता कि वह जिंदा है कि मर चुका है। और मां भी उसे जकड़े होती। चैत से धीरे-धीरे मृत्यु-संख्या बढ़ने लगी। गलियों में, सड़कों पर, घाटों पर, जंगलों में जिधर देखो लाशें-ही-लाशें पड़ी नजर आतीं।

उस समय उत्कल के परम मित्र, परम सहायक, रेवेनशा शायद नए कमिशनर बन कर आए थे। सितंबर या अक्तूबर में सरकार से चिट्ठी आई कि अनावृष्टि के कारण ओड़िसा में अकाल पड़ने की संभावना है। प्रजा की रक्षा के लिए सरकार की ओर से कोई सही व्यवस्था करने की आवश्यकता है या नहीं ? अगर आवश्यकता है तो किस तरह की योजना हो ? सरकार के पत्र का उत्तर देने के लिए कचहरी के सभी कार्यकर्ता और कर्मचारियों से वे सलाह-मशविरा करने लगे। दो सिरश्तादारों ने बताया–"अकाल पड़े, कोई बात नहीं। देहात में जमींदारों के घरों मे काफी धान मौजूद है, उसी से साल भर खुशी-खुशी चल जाएगा।'' जब सिरश्तादरों ने ऐसा बताया तब उनके मनोरंजन के लिए उनके पेशकारों को तो कुछ और बढ़ा-चढ़ा कर कहना चाहिए! कमिशनर के पेशकार ने बताया कि गोपालपुर गांव के जमींदार के घर पर दस-दस 'मरेई'[2] में हजार-हजार 'छेला'[3] धान मौजूद है। इसके अलावा हजार-हजार छेला 'खणि'[4] में बंद पड़े हैं। भीमपुर वाले शाम साहू के घर में कम-से-कम भी कहें तो भी चालीस-पचास हजार छेला धान निकलेगा। इसके अलावा

1. एक गौणी–लगभग पांच किलोग्राम ।

2. मरेई–बांस का बना बहुत बड़ा टोकरा, जिस पर गोबर पुता होता है। कभी-कभी आकार में ये कोठरी की तरह बड़े भी होते हैं।

3. छेला–एक नाप ; दो बोरों से अधिक।

4. खणि–गाड़ – अनाज रखने का गढ़ा, जिसमें अनाज रखकर ऊपर से ढक दिया जाता है। खणि का आभिधानिक अर्थ है खान।

हर गांव में छोटे-मोटे साहूकारों के घरों में भी भरपूर धान है। सिर्फ गोदाम खोल दें तो ओड़िसा भर को दो महीनों के लिए संभाल लें। पालिटिकल इलाके के लिए जो पेशकार थे वे पचास हजार से बढ़ाकर लाख के हिसाब देने लगे। दूसरे छोटे-मोटे कर्मचारियों से जो भी सूचना मिली उसके हिसाब से तो ओड़िसा में जितना धान मौजूद है उसी से साल भर के लिए चल जाएगा।

कमिशनर साहब ने सरकार को लिख दिया–ओड़िसा में अकाल पड़ सकता है, पर प्रदेश में काफी धान मौजूद है जिससे साल भर चलेगा । कमिशनर साहब ने बड़ी भूल कर दी। ओड़िसा में सचमुच धान है या नहीं, उसका पता लगाना जरूरी था। उस पर यह भी विचार करना चाहिए था कि जिनके पास धान है उसे वे संकटकाल में बेचने या बांटने के लिए तैयार भी होंगे या नहीं। इस तरह की छानबीन के पश्चात अगर वे लिखते तो ठीक होता। पर ओड़िसा में तीस लाख से अधिक लोग मर गए ; उससे अधिक तितर-बितर हो गए। यह तो विधि का विधान था, पर कमिशनर साहब को फिर सुबुद्धि कहां से आती ?

फागुन के शुरू से लोग मरने लगे। मृत्यु-संख्या दिन-ब-दिन बढ़ने लगी। सड़क, घाट, अमराई, मैदान, जिधर देखो उधर लाशें-ही-लाशें दिखाई पड़ने लगीं। धीरे-धीरे मानो सारा प्रदेश लाशों से भर गया। चावल रुपये के दस सेर हो गए। सिर्फ तीन-चार दिन के लिए रुपये के तीन सेर मिले। वह भी शहर में मिलता नहीं था। तीन-चार दिन के बाद रंगून से चावल पहुंचा, तब जाकर फिर वही दस सेर मिलने लगा। शहर में तो जैसे-तैसे मिल जाता था, पर देहात में एकदम दुष्प्राप्य हो गया। देहात में जिनके घरों में धान-चावल था उन्होंने छिपा लिया। अनेकों ने घरों में गड्ढे बना कर उन में धान भरकर छिपा दिया। जिन्होंने सस्ता पाकर गोठ सरीखे गाय-गोरू खरीदे थे, आश्चर्य की बात तो यह है कि वे मर गए। उनके साथ-साथ उन साहूकारों के घर के गाय-गोरू भी मर गए। यह सब मेरी देखी हुई घटनाएं हैं, अविश्वास करने का कोई कारण भी नहीं है। जिन महाजनों ने अपना धान बेचकर पैसे जमा कर लिए थे, वे सारे रुपये और सोना पता नहीं कहां अंतर्धान हो गए। अकाल के पहले साल रुपये के धान बालेश्वरी वजन में लगभग डेढ़ सौ सेर और चावल डेढ़ मन मिलता था। वही चावल अकाल के समय दस सेर के भाव में मिलने लगा तो काफी बुरी स्थिति हो गई। ताज्जुब तो यह है कि पिछले पांच-सात साल से चावल बालेश्वरी दस सेर प्रति रुपये के हिसाब से बिक रहा है, पर स्थिति क्यों नहीं बिगड़ रही ? अब रुपया पहले से अधिक सुलभ है। सब के हाथों में चावल और पैसे हैं। उस समय चावल और पैसा दोनों दुर्लभ थे। झट से बाहर से लाने का भी कोई उपाय नहीं था। मार्च या अप्रैल तक कमिशनर साहब को ओड़िसा की सही स्थिति के बारे में ज्ञान हुआ और उन्होंने ओड़िसा की सहायता के लिए चावल की व्यवस्था करने के लिए सरकार से प्रार्थना की। सरकार ने शायद उनकी पहली चिट्ठी का उन्हें स्मरण कराया और पत्र लिखा–तुमने चावल के लिए तार भेजा है, पर तार के जरिए चावल भेजा नहीं जा सकता। आजकल कलकत्ता से पुरी तक जो सुंदर ट्रंक रोड है वह उस समय नहीं थी।

उस समय वह ऊंचा-नीचा बियाबान ही था। वह भी कहीं-कहीं जंगल और डाकुओं से भरपूर था। इसलिए सड़क से चावल लाने की कोई संभावना नहीं थी। नमक महाल के उठ जाने के बाद बालेश्वरी सामुद्रिक जहाज भी विलुप्त हो गए थे। बालेश्वर-निवासियों ने जल-जहाज नामक एक चीज का नाम भर सुना था। सरकार कलकत्ता से जहाज किराये पर लाकर रंगून और बंगलादेश से चावल भेजने लगी। जगह-जगह अन्न-क्षेत्रों की स्थापना सरकार की तरफ से हुई। अन्न-क्षेत्र के बारे में देहात में प्रचार होने लगा तो अन्न की तलाश में कंगाल लोग शहर की ओर दौड़े। पद्रंह-बीस दिन से उनको अन्न के दर्शन नहीं हुए थे। कच्चे पत्ते और अखाद्य फल आदि खाकर वे किसी तरह जिंदा थे। अन्न की आशा में भागते हुए शहर आए, पर इतनी दूर पहुंचते किस तरह ? आधे से तीन चौथाई लोग तो रास्ते में ही मर गए और बाकी जो पहुंच पाए उन्होंने सिर्फ एक-एक वक्त खाना खाया और कोई हैजे से तो कोई आम रोगों से मर गया। उनका पेट तो सूखा हुआ था ही, उस पर वे अन्न के लिए आतुर थे। जो जितना खा सका, खा लिया। हजम करने की ताकत नहीं थी। इतना खाना पेट कैसे संभालता ! दूसरे दिन सुबह होते-न होते हैजा या और कोई बीमारी फैल गई और दो-तीन दिन के अंदर सभी मौत के शिकार हुए। सूखे पेट कंगालों के लिए डाक्टर आए। सरकार ने कलकत्ते से किश्तियों में साबूदाना मंगवाया। पर लाभ कुछ नहीं हुआ। लगभग सभी मर गए। अन्न-क्षेत्र के चारों ओर तथा शहर में लगभग सभी जगहों पर लाशें पड़ी मिलीं। सुबह मेहतर लोग उन लाशों को बैलगाड़ियों में भर-भर कर नदी की ओर ले जाते। इस लेखक ने खुद वह सब देखा है। अन्न-क्षेत्र में खर्चे के बाद बचे हुए चावल रुपये में दस सेर के हिसाब से आम लोगों को बेचने की भी व्यवस्था हुई थी। पर जिस-तिस को बेचने या जितना चाहो उतना बेचने पर प्रतिबंध था। रिलीफ कमेटी के मेंबर हर-एक को एक सेर से एक रुपये तक के चावल लेने के लिए टिकट देते थे। वह टिकट दिखाकर लोग गोदाम से चावल खरीदते थे।

धरती पर कुछ भी चिरस्थायी नहीं है। अकाल भी एक दिन समाप्त हुआ। दुर्भिक्ष के दूसरे साल गलियों में कई बालक-बालिकाएं, औरत-मर्द घूमते-फिरते नजर आए। वे 'अ-क्षेत्रखिया' (अन्नक्षेत्र में खाए लोग) हैं, इसलिए हिंदू समाज ने उनका बहिष्कार किया तो मिशनरियों ने उनका पुत्रवत लालन-पालन किया और उन्हें सही शिक्षा दी। इसी जगह हिंदू और ईसाई धर्म में फर्क का पता चलता है। हमारे समाज में स्वधर्मावलंबी लोगों ने अपनी प्राणरक्षा के लिए दूसरों के हाथों से अन्न ग्रहण किया तो हमने उन्हें दुतकार कर भगा दिया, पर दूर देश से आए भिन्न धर्मावलंबियों ने उनका आदर सहित पालन कर उन्हें शिक्षित और योग्य बनाया। इससे हम साहस के साथ यह कह सकते हैं कि ईसाई धर्म और जाति पतित-पावन है। हिंदू समाज ने उस समय जो उनका बहिष्कार किया था, इसके लिए धर्म जिम्मेवार नहीं है। यह दोष समाज के अविवेकी लोगों का है। विपरीत स्थिति में पड़कर प्राण बचाने के लिए अत्यंत नीच और अस्पृश्य जाति के द्वारा स्पर्श किया हुआ अन्न ग्रहण करने से दोष नहीं लगता, यह पुराण शास्त्रों में भी लिखा है। राजर्षि

विश्वामित्र ने एक बार अपने प्राण बचाने के लिए चांडाल द्वारा पकाया हुआ कूकर-मांस खाया था और पुन: महर्षि-मंडली में स्थान प्राप्त किया था। यह स्पष्ट रूप से महाभारत में बताया गया है।

14. ठाकुर मां की परलोक-यात्रा

ठाकुर मां की परलोक-यात्रा मेरे जीवन में एक विशेष महत्त्व का दिन है। सन् 1867 ज्येष्ठ मास, संध्या समय करीब पांच बजे मेरी जीवनदायिनी, प्रतिपालिका ठाकुर मां कुचिला देई परलोक सिधारीं। देहांत के समय वे चौहत्तर वर्ष की थीं। मेरी जीवन-रक्षा के लिए मानो परमेश्वर ने उन्हें आज तक धरती पर जीवित रखा था। मैं अब आत्मरक्षा के लिए समर्थ हो गया था। अतः जंजालमयी इस दुनिया में उन्हें और अधिक रहने की आवश्यकता नहीं रही।

मेरे जीवन की रक्षा और धरती की ज्वाला-यंत्रणा सहन करना ही मानो उनके जीवन का ध्येय था। ठाकुर बाबा, कुश सेनापति मुर्शिदाबाद नवाब की सरकार में दरबान या जमादार जैसी किसी मामूली नौकरी पर थे। वहीं परदेस में उनका देहांत हुआ था। उस समय ठाकुर मां बेसहारा थीं; केवल उनकी दो पुत्र-संतानें थीं।

ठाकुर मां मंझले कद की कर्मठ महिला थीं। सुगठित देह, गोरा रंग, चौहत्तर साल में भी उनके दांत सलामत थे और सिर पर आधे से अधिक बाल काले थे। वे धीर, शांत-सरल स्वभाव की थीं। स्वभाव की तरह बातें भी धीर और कोमल करती थीं। चीखकर बातें करते हुए उन्हें किसी ने कभी नहीं देखा। उस समय गांव में अनेक कलहप्रिय विधवाएं थीं। वे जब आपस में झगड़ पड़तीं तब ठाकुर मां अपने किवाड़ बंद कर लेती थीं। मेरी ताई, यानी उनकी बड़ी बहू किंचित गर्विता थीं और उनकी बोली कर्कश थी। किसी कारणवश जब वे गरज-गरज कर बकतीं तो ठाकुर मां उस स्थान से हट जातीं। अधिक कष्ट होता तो घर के अंदर अंधेरे कोने में बैठ कर रोती रहतीं। उन्हें ठहाका मारकर हंसते मैंने कभी नहीं देखा। सदा मानो घोर विषाद की छाया उनके चेहरे पर छाई रहती। वे बड़ी निष्ठावान और धर्मप्राण थीं। सभी व्रत और पूजादि करतीं—वर्ष भर के अधिकांश महीनों में उपवास रखतीं या हविषान्न ग्रहण करतीं। गौमाता पर सवार होना, अर्थात बैलगाड़ी पर बैठना पाप है, इसलिए उन्होंने पैदल ही कई तीर्थों का भ्रमण किया था। तीन-चार महीने में कभी-कभार वात-ज्वर से शैयागत होने के अलावा मैंने उन्हें और किसी शारीरिक पीड़ा में ग्रस्त नहीं देखा।

ब्राह्म मुहूर्त में शैया त्याग कर अर्ध-रात्रि तक सिर झुकाए काम में लगी रहतीं। बिना प्रयोजन वह किसी से बात तक नहीं करतीं। मध्याह्न के समय स्नानादि के पश्चात पूजा-सेवा, संध्या समय माला फेरना, भजन करना या पुराण-श्रवण के बाद जो समय बचता उसमें वे घर के काम-काज में लगी रहतीं। अर्ध-रात्रि के समय सब आहारादि कर सो जाते तब वे भोजन करके सोती थीं। वे केवल तीन-चार घंटे ही सोती थीं। नींद भी इतनी हल्की कि घर में छोटी-सी आवाज हो या कोई धीरे से पुकार दे तो वे उठ बैठती थीं।

उनकी संपत्ति में बांस की बनी तीन पेटियां थीं। इनमें से एक में कई तरह की जड़ी-बूटियां और दवाइयां भरी हुई थीं। दूसरी में साग-सब्जी और फलों के बीज। तीसरी सबसे बड़ी पेटी थी, और उसमें घर भर की टूटी-फूटी इधर-उधर की चीजें पड़ी रहती थीं, जिन्हें वे कभी फेंकती न थीं। घर में, गांव में कोई बच्चा बीमार पड़ जाए तो वे खुद इलाज करने बैठ जातीं। उनकी और बच्चों की बीमारी की बात वैद्यजी क्या जानेंगे ? उस समय गांव वालों ने डाक्टर का नाम तक नहीं सुना था। घर के पिछवाड़े एक अमराई थी। घर के काम-काज से फुरसत मिलने पर वे माली को लेकर वहां काम में जुट जातीं। मौसम के फल-फूलों से बगीचा भरा रहता। बाजार से साग-सब्जियां खरीदने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। ठाकुर मां चली गई हैं; लेकिन बगीचे में उनके हाथ का लगाया आम्रकानन अब भी विद्यमान है।

घर में सब की सेवा और खुद यातना भोगना ही जैसे उनका भाग्य था। उनके कष्ट का प्रमुख कारण था मेरे पिताजी की मृत्यु। मेरे जीवन की रक्षा के लिए उन्होंने जो कष्ट भोगे हैं, उसे अब भी याद करने पर मन में दारुण पीड़ा होती है। जब मैं बीमार पड़ा था, तब पता नहीं कितने दिन कितनी रातें, बिना खाये-पीये, बिना सोये मेरे सिरहाने बिताई थीं। गाय दूर चरते समय भी जैसे अपने बछड़े पर नजर जमाए रहती है उसी तरह ठाकुर मां, चाहे किसी भी काम में लगी हों, उनका ध्यान मेरी ओर बना रहता। अपनी प्रथम कलकत्ता-यात्रा के समय मैं बीस-बाईस साल का था। कलकत्ते से वापस आ, घर पहुंचते समय शाम हो गई थी। ठाकुर मां ने मुझे देखा तो पागल की तरह घर में, आंगन में और बरामदे में लगभग आधे घंटे तक बेसुध हो रोती-सुबकती रहीं। हे दयामय परमेश्वर! असहाय शिशुओं की रक्षा के लिए कोमल-स्वभाव नारी के हृदय में किस तरह माया-ममता और स्नेह के बीज आपने बोये हैं ! मेरा विश्वास है, मेरे जीवन की रक्षा का कारण है ठाकुर मां का नि:स्वार्थ बलिदान; और मेरी जो कुछ भी उन्नति हुई है उसे उन्हीं के पुण्य का प्रतिफल मानता हूं।

15. बालेश्वर में प्रेस कंपनी की स्थापना

वास्तव में देखा जाए तो सन् 1857 के सिपाही विद्रोह के बाद बंगला भाषा की उन्नति और प्रसार आरंभ हुआ। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, पूज्यपाद भूदेव मुखोपाध्याय, विज्ञवर अक्षयकुमार दत्त आदि द्वारा रचित विविध पुस्तकों से बंगाल और ओड़िसा में पाठ्य-पुस्तकों का अभाव दूर हुआ था। प्रसन्नकुमार सर्वाधिकारी, बाबू तरिणीचरण चट्टोपाध्याय और पंडित लोहाराम आदि सुविख्यात विद्वानों ने अंकगणित, बीजगणित, भूगोल और व्याकरण आदि विषयों पर अनेक पुस्तकों की रचना की थी। इन पुस्तकों से विद्यालय के छात्रों को बड़ी सहायता भी मिली। इससे पहले विद्यालयों के लिए जो पुस्तकें निर्धारित थीं, उन सबकी भाषा जटिल और विषय भी उसी तरह अनुपयुक्त थे। पर उत्कल भाषा में तीन भागों में नीतिकथाएं और हितोपदेश प्रकाशित हुआ था। यही पुस्तकें विद्यालय के आरंभ से पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत हुई थीं और अभी तक पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रचलित हैं। कोई नई पुस्तक प्रकाशित ही नहीं हुई है। ओड़िआ भाषा के संबध में कुछ कहते समय बंगाली शिक्षक और बंगाली बाबू लोग जिस तरह के भाव व्यक्त करते हैं वह वास्तव में अपनी माता के प्रति अपमान-सा लगता है और तब मन क्रोध से भर उठता है; प्राणों को गहरी चोट पहुंचती है। उस समय मन में एक ऐसी धारणा जन्मी थी कि क्या वास्तव में अपनी मातृभाषा की उन्नति न होने पर हम सदा अन्य प्रदेशों के लोगों की ओर ही देखते रहेंगे और हमारी राष्ट्रीय भाषा की उन्नति की संभावना तक नहीं रहेगी? भाषा की उन्नति का क्या कोई उपाय है ? उस समय रात-दिन वह भावना मुझे सताती रही और मेरा एकमात्र ध्येय बन गया कि प्राण दे कर भी अपनी मातृभाषा की उन्नति के लिए कुछ करना होगा। उस समय मेरी उम्र उन्नीस-बीस की थी और मैं विद्याशून्य, शक्तिहीन और दरिद्र था।

उस समय बंगला भाषा में हर महीने विभिन्न विषयों पर छोटी-बड़ी पुस्तकें छपती थीं। मैं पुस्तकें खरीद लाता, कुछ बालेश्वर शहर के सुनाहट गांव के निवासी बाबू दामोदर-प्रसाद दास जी के पुस्तकालय से लाकर पढ़ा करता था। दामोदर बाबू खुद पढ़ें-न पढ़ें, हमारे लिए सभी तरह की पुस्तकें लाकर रखते थे। अब स्मरण करता हूं, उस समय प्रकाशित अधिकांश पुस्तकों की भाषा कितनी कठिन थी और विषय नीतिज्ञानसंपन्न पाठक के लिए नितांत अपाठ्य था। खैरियत है, उन पुस्तकों के नाम तक अब विलुप्त हो गए हैं। पर जो थोड़ी-सी उत्तम पुस्तकें थीं, वे अब भी हैं और बंगसाहित्य संसार में रत्नस्वरूप विद्यमान रहेंगी।

बंगला की कोई नई पुस्तक हाथ लगती तो मैं उसे उलट-पलट कर देर तक देखता और सोचने लगता—ओड़िआ भाषा में उस जैसी पुस्तक कब निकलेगी ? अनजाने में गहरी सांस निकल आती। उस समय बंगभाषा में एक-मात्र मासिक पत्रिका निकलती थी 'विविधार्थ संग्रह'। मेरे भाई नित्यानंद उसके ग्राहक थे। मुझे उनसे पत्रिका पढ़ने को मिल जाती थी

और मैं उसे तीन-चार बार पढ़ जाता था। उस समय बंगला में सिर्फ दो साप्ताहिक पत्रिकाएं निकलती थीं–'सोमप्रकाश' और 'एजुकेशन गजेट'। बालेश्वर के एक प्रख्यात जमींदार 'सोमप्रकाश' के ग्राहक थे और 'एजुकेशन गजेट' जिला स्कूल में आती थी। काफी प्रयास के पश्चात कदाचित एकाध पढ़ने को मिलती थी। विशेष आकुलता के साथ मन में कभी-कभार यह भावना उठती कि क्या ओड़िआ में कभी ऐसी साप्ताहिक पत्रिका प्रकाशित नहीं होगी ? साथ ही निराशा-जड़ित उत्तर मिलता मन से–असंभव, असंभव ! उस समय कलकत्ता में सरकार बहादुर की आर्थिक सहायता से एक अनुवाद समिति गठित हुई थी। कभी किसी विद्वान द्वारा किसी अंग्रेजी पुस्तक का बंगला रूपांतर कर सहस्राधिक रुपयों का पुरस्कार पाने की बात सुनता तो अनूदित पुस्तक मंगाकर पढ़ता और मन ईर्ष्या से भर उठता। मन में आता कि क्यों सरकार उत्कल में वैसी अनुवाद समिति की स्थापना नहीं कर रही है ?

रात-दिन मन में यही भावना रहती थी – देश के शिक्षित बड़े लोगों के मन में मातृभाषा के प्रति कब अनुराग जागृत होगा ? उस समय उत्कल में अंग्रेजी और फारसी पढ़े-लिखे बाबू लोग ओड़िआ पुस्तक का स्पर्श करना और विशुद्ध रूप से ओड़िआ कहलाने को अपमान का विषय मानते थे। कर्मचारियों की भाषा अंग्रेजी, फारसी और ओड़िआ की खिचड़ी थी, और वे लिखते भी थे कथोपकथन की शैली में। अपने घर के खर्चे का हिसाब तक वे फारसी में लिखते थे। पहले कचहरी की भाषा पूर्ण रूप से फारसी थी। सन् 1836 में सरकार ने उसे रद्द कर के देशी भाषा चलाई थी। पर उससे क्या बनता ? काफी प्रयास से कर्मचारियों और बाबुओं ने फारसी सीखी थी, उस भाषा में लिखना और बात-बात में उसका प्रयोग करना समाज में गौरव का विषय बन गया था। उन्हें ओड़िआ में लिखने-पढ़ने का अभ्यास नहीं था, इसी से जनता की दरखास्तें ओड़िआ में होने के बावजूद कचहरी के अंदर रजिस्टर वगैरह फारसी में लिखे जाते थे।

बालेश्वर के बाराबाटी स्कूल और मिशन स्कूल में ओड़िआ पढ़ाई जाती थी। जिला स्कूल के लड़के ओड़िआ पढ़ेंगे, सरकार से यह आदेश जरूर मिला था, पर लड़कों के पास एक भी ओड़िआ किताब नहीं थी। छात्र जब ओड़िआ किताब के लिए अपने अभिभावकों से पैसे मांगते तो उन्हें उत्तर मिलता– तेरी तो मास्टर के पास ओड़िआ की पढ़ाई हो चुकी, अब और क्या पढ़ेगा ? जा, अंग्रेजी पढ़ !' जिला स्कूल में संस्कृत और ओड़िआ पढ़ाने के लिए सोरो-निवासी आर्तत्राण नंद 'पंडित' के रूप में नियुक्त हुए थे। पहले संस्कृत पढ़े-लिखे पंडित भी ओड़िआ पढ़ने-पढ़ाने से घृणा करते थे। खुद हस्तलिखित ओड़िआ पढ़ या लिख नहीं सकते थे। प्रवास में रहने वाले पंडित जब घर चिट्ठी लिखते तो किसी दूसरे से लिखवा लेते। छात्र ओड़िआ पुस्तक खरीदकर न लाएं तो भी ठीक। पंडितजी छात्रों को विद्यासागर कृत 'उपक्रमणिका' पढ़ाकर निश्चिंत हो जाते। उधर सारे शिक्षक बंगाली थे। लड़के ओड़िआ पढ़ें-न पढ़ें, उसकी निगरानी करने की आवश्यकता उन्हें नहीं थी। वरन् उनके लिए तो स्कूल से ओड़िआ की पढ़ाई समाप्त हो जाए तो उत्तम हो। अंग्रेजी स्कूल के लड़के अंग्रेजी-मिली बंगला बोलते थे, किंतु ओड़िआ बोलने में अपना अपमान मानते थे ! इसी तरह तिरस्कृत होकर अंग्रेजी विद्यालयों

से भी ओड़िआ भाषा संपूर्ण रूप से निकल गई थी।

पूज्यपाद जगन्नाथदास, महाकवि उपेंद्र भंज, कविवर अभिमन्यु, दीनकृष्ण दास आदि स्वर्गीय पवित्रात्माओं को बारंबार नमस्कार कर रहा हूं। वास्तव में ये महान व्यक्ति ही ओड़िआ साहित्य के रक्षक हैं। इनके द्वारा रचित ग्रंथावली ही ओड़िआ साहित्य की नींव है। जब तक ओड़िआ भाषा है, तब तक इन महान व्यक्तियों के महिमान्वित नाम उत्कल में चर्चित रहेंगे।

उत्कल के प्रत्येक ग्राम में जगन्नाथदास लिखित 'भागवत' का पाठ होता है। बड़े-बड़े गांवों में स्थायी भागवत-पीठ स्थापित और पूजित हैं। पहले पाठशालाओं में भागवत और अन्यान्य कवियों की छंद-रचनाएं पाठ्य-पुस्तक के रूप में निर्धारित थीं। देहात के जमींदारों के द्वारा आयोजित सभाओं और खंडायतों के चबूतरों पर छंद-रचनाओं की चर्चा मनोरंजन का एक मुख्य साधन था। उत्कल में गीतों के अर्थ करने वालों का एक सुपरिचित और नामी दल था। रजवाड़ों का भ्रमण कर राजाओं को गीतार्थ सुनाना उस दल का पेशा था। अराजकता और राष्ट्रविप्लव के समय उत्कल के साहित्य-भंडार में कई अनमोल ग्रंथ विनष्ट हो गए हैं। लोग उस समय जंगलों और पर्वतों में छिपे फिर रहे थे। साहित्य-ग्रंथों को संभालकर रखने की किसे फुरसत थी ? फिर भी वे कई ग्रंथों को हृदय में गहरे सुरक्षित कर रखे हुए थे। वे सब ग्रंथ आज भी मौजूद हैं और सदैव ही रहेंगे।

उस समय ओड़िआ भाषा का विकास ही मेरा एकमात्र ध्येय था। दूसरे कार्यों में नियुक्त रहकर भी सिर्फ वह चिंता मन में बनी रहती थी। बंग भाषा में जिस तरह प्रतिदिन नई-नई पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, उसी तरह ओड़िआ में कैसे प्रकाशित हों यही उद्देश्य था। पर लेखक हैं कहां ? क्या मैं स्वयं नहीं लिख सकूंगा ? कभी-कभार बंगला 'सोमप्रकाश' में कुछ-कुछ लिखा करता था। मेरे पत्रों को छापेंगे, ऐसा संपादक ने लिखा, जिससे मेरा साहस बढ़ा और उत्साह भी बढ़ा। हमारे गांव में कृष्णलीला करने वाला एक नाट्यदल था। कई चौपाइयां लिखकर मैंने उन्हें गाने को दी थीं। लड़के गाते तो मन में अपार आनंद उमड़ उठता। समय मिलते ही कुछ-न-कुछ लिख लिया करता था। वे सब भूत-प्रेत या क्या बनते थे, पता नहीं। उसी तरह लिखते-लिखते मैंने गद्य में एक किताब लिख डाली। उसका नाम था 'राजपुत्र इतिहास'। मित्रों को दिखाया तो वे पढ़कर आनंदित हुए। यह सब तो हो गया, अब उसकी छपाई कैसे हो ? यही चिंता थी। उत्कल में तब पतित-पावन के रूप में एक मात्र कटक मिशन प्रेस था। पुस्तक छपाई के खर्च के बारे में लिखा तो जवाब मिला—फी फर्मा तीस रुपये! जोड़ लगा कर देखा, मेरी पुस्तक को छापने में तीन सौ रुपये लगेंगे। हरि बोल, हरि ! रुपये कहां और मैं कहां ? तब तक एक साथ मैंने सौ रुपये भी हाथ में नहीं पकड़े थे। हर महीने बीस-पच्चीस रुपये की तनखाह, वह भी उसी दिन ताई को थमा देना जरूरी था। थोड़ी-सी देर हुई तो कैफियत देनी पड़ती। पुस्तक छापने के बारे में मैं पूरी तरह निराश हो गया। मेरी उदासीनता और लापरवाही देख 'राजपुत्र इतिहास' भी कहीं गायब हो गया। पर लेखन-कार्य से विमुख नहीं हुआ। मुझे आशा थी कि मुझे लिखते देख कोई-न-कोई लिखने का और पुस्तक प्रकाशित करने का प्रयत्न अवश्य करेगा। बंगाली बाबुओं का विद्रूप अब

असह्य होने लगा था। स्थिर हो रहना संभव नहीं था। पूज्यपाद ईश्वरचंद्र विद्यासागर के आदेश से बंगला में रचित उनके जीवनचरित को ओड़िआ में अनूदित कर, कलकत्ता के बैपटिस्ट मिशन प्रेस से छपवा लाया। छात्रवृत्ति परीक्षा के लिए निर्दिष्ट 'हितोपदेश' की जगह 'जीवनचरित' पाठ्य-पुस्तक के रूप में ले ली गई। इसके पश्चात व्याकरण की एक छोटी-सी पुस्तक और गणित की एक पुस्तक लिखी। ये दोनों पुस्तकें भी विद्यालयों के लिए चुन ली गईं। उस समय मेरे सहपाठी इकाइलु रघुनाथप्रसाद भूयां ने 'श्रेणीपाठ' नामक एक छोटी-सी किताब लिखी थी। वह भी छात्रवृत्ति परीक्षा के लिए निम्न कक्षा की पाठ्य-पुस्तक के रूप में चुन ली गई। पर इससे मन नहीं माना। सोचने लगा, सिर्फ स्कूली लड़कों के ओड़िआ पुस्तकें पढ़ने से क्या होगा ? बाहर के लोग ओड़िआ किताबें पढ़ें, तब होगी न मातृभाषा की उन्नति ! खासकर उस समय लोगों को गद्य पढ़ना आता नहीं था। नीति-कथा या हितोपदेश उनके हाथों में थमा देने पर वे ऊंचे स्वर में छंदगीतों की तरह पढ़ने बैठ जाते। कई रागिनियों के ढांचे में ढाल कर किसी तरह पढ़ते। पर उसमें तुक का मिलान नहीं होता। अंत में पुस्तक को फेंक, खिन्न होकर कहते–'जब तुक ही नहीं मिलता तो यह कैसी पुस्तक है ?' हमारी इच्छा थी, लोग घर-घर में किताब पढ़ें। पर लगता है, छंदोबद्ध पद्य-पुस्तक न हुई तो वे पढ़ेंगे नहीं। उनके लायक छंदोबद्ध काव्य पुस्तक लिखने की शक्ति कहां ? चिंता करने लगो तो अक्ल अपने-आप आती है। कई दिन के सोच-विचार से रास्ता दिखाई पड़ा–जो पुरानी पद्य-पुस्तकें हैं उनका पुनर्मुद्रण होने पर अनेकों पुस्तकें निकल आएंगी और लोग आनंद से खरीद कर पढ़ेंगे। और, इन पुस्तकों की बिक्री से भी काफी लाभ होगा। धीरे-धीरे उसी रुपये में और-और पुस्तकें छपेंगी। हालांकि विचार में तो सब कुछ सुंदर ढंग से चित्रित हो गया, पर मूल पदार्थ 'रुपया' कहां था ? पर किसके बल से कार्यारंभ हो ! तब पता चला कि अर्थबल, बुद्धिबल के साथ लोकबल की भी आवश्यकता है। उपाय सुझाने के लिए एक सभा की स्थापना की गई। उसके सदस्य बने बाबू जयकृष्ण चौधुरी, बाबू भोलानाथ सामंतराय, बाबू दामोदरप्रसाद दास, बाबू राधानाथ राय, फकीरमोहन सेनापति। बाबू दामोदरप्रसाद दास इस सभा के संपादक और कोषाध्यक्ष बनाए गए।

बाबू राधानाथ राय सभा के सदस्य बनाए गए, पर यह निश्चित हुआ कि कागज-पत्रों में उनका नाम नहीं लिखा जाएगा। वे सदैव गोपनीय रूप से हमारे साथ सहयोग करते, क्योंकि किसी सभा-समिति में शामिल होने या किसी के साथ मेलजोल करने की उनके पिता बाबू सुंदरनारायण राय की ओर से मनाही थी। लगभग हर रात सुनाहट गांव में, बाबू दामोदरप्रसाद दास के बैठकखाने में सभा होती। विद्या, बुद्धि और वित्त–इन तीनों चीजों में सभी का समान अधिकार था। राधानाथ तब तक एफ.ए. पास नहीं हुए थे। घर पर उनकी पढ़ाई चल रही थी। काफी तर्क-वितर्क के बाद ओड़िआ के सभी प्राचीन ग्रंथों के पुनर्मुद्रण की बात निश्चित हुई। पहले 'रसकल्लोल' से कार्यारंभ होना चाहिए। इसकी बिक्री से प्राप्त धन से अन्य पुस्तकों का मुद्रण होगा। 'रसकल्लोल' को छापने के लिए आवश्यक मुद्रा जुटाने के लिए एक कंपनी की स्थापना करना जरूरी हो गया। इसके लिए एक शेयर का मूल्य दो रुपया रखा गया।

तीन-चार महीनों में मूलधन के रूप में ढाई-सौ रुपये जमा हो गए। इस तरह एकत्रित किया धन कोषाध्यक्ष दामोदर बाबू के पास रखा गया।

अब छपाई के लिए तैयार होना था। हम जैसे कुछ 'मल्लिनाथ-सदस्य' 'रसकल्लोल' की टीका बनाने बैठ गए। पहले भिन्न-भिन्न जगहों से चार पुस्तकें मगाई गईं। 'अमरकोष' और तीन-चार अन्य शब्दकोष रखे गए। एक-एक शब्द के अर्थ निरूपण के लिए हमारे बीच जो बहस होती थी, यहां उस सबका उल्लेख करके पाठकों की हास्यवृत्ति को उत्तेजित करने की इच्छा नहीं है। हर रोज रात के सात बजे से नौ बजे तक यह टीका-कार्य चलता। चार महीने की कड़ी मेहनत और प्रयत्न से लगभग आधा काम हो गया। उस समय मन में एक अन्य भावना जागी कि यदि केवल 'रसकल्लोल' को मुद्रित करवा लें तो एक ग्रंथ अवश्य प्रकाशित हो जाएगा, पर अन्य ग्रंथों को मुद्रित कराने में तो बहुत विलंब होगा। अगर एक प्रेस कंपनी बनाएं, तो एक साथ कई पुस्तकों की छपाई आसानी से कर लेंगे। इसके चार-पांच साल पहले कटक में प्रिंटिग कंपनी की स्थापना हो चुकी थी। उसी को आदर्श मान कर एक कंपनी गठित करने की बात निश्चित हुई। पर प्रेस कैसी चीज है, मिट्‌टी से बनी होती है या लकड़ी से, उसके लिए और कौन-कौन-सी वस्तुओं की आवश्यकता है और उसके लिए कितने रुपयों की आवश्यकता है, उस सबंध में हम में से किसी को लेशमात्र ज्ञान नहीं था। हम में से किसी ने भी कभी प्रेस संबधी कोई चीज नहीं देखी थी। पर प्रेस की स्थापना करने वाली बात निश्चित हो गई–'रसकल्लोल' टीका वाली योजना रद्द हो गई। इसी बीच कंपनी की मूल पूंजी ही कोषाध्यक्ष की गुल्लक से गायब हो गई। सोचा, वे रुपये वसूलने जाएंगे तो मन-मुटाव होगा। अतः प्रेस-कार्य में विघ्न आने की संभावना है। यही सब सोचकर चुप रह जाना पड़ा।

प्रेस कंपनी की स्थापना (2)

बैठक में एक प्रेस कंपनी की स्थापना वाली बात निश्चित हो गई। उसका नाम रखा गया 'पी.एम. सेनापति एंड कं०, उत्कल प्रेस'। कंपनी के एक शेयर का मूल्य था पांच रुपये। बैठक में तो सब बातें तय हो गईं–

"और सब चीजों का करता जोड़
पैसे ही हैं सबकी जड़।''

पहले ही कह चुका हूं कि हम सभी धनवान थे ! ट्यूशन वगैरह से मेरी आय महीने में बीस रुपये तक थी। ताई हर महीने मेरी तनखाह की पाई-पाई गिनकर ले लेती थीं। बाकी इधर-उधर की आय में से महीने का अंत होते ही पंद्रह रुपये कलकत्ता के फकीरमोहन साह्राणी को भेजना पड़ता था और कुछ रुपया गरीब छात्रों की फीस और किताबों की खरीदारी और दूसरे खर्चों में चला जाता था। ये सब बातें यहीं रहने दें।

हमारी सभा के चार सदस्य कंपनी के लिए पूंजी संग्रह करने के लिए निकल पड़े। शहर

में जितने जमींदार, महाजन और कर्मचारी थे, लगातार चार-पांच महीनों तक नित्य उनके दरवाजे पर जाना पड़ा। किसी-किसी बाबू के दरवाजे पर आठ-दस से पंद्रह-बीस बार जाने की नौबत आई। हर रोज संध्या से रात के दस-ग्यारह बजे तक काम करना पड़ता था। प्रेस कैसी चीज है और उससे क्या लाभ होगा, इस संबंध में सभी कोरे थे। कइयों ने तब तक प्रेस का नाम भी नहीं सुना था। पर उस समय बंगला में 'पंचांग', 'चैतन्य चरितामृत' और विद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली मुद्रित पुस्तकें सभी देखते थे, इसलिए प्रेस में पुस्तक की छपाई होती है, इस विषय पर लोगों को समझाने की अधिक आवश्यकता नहीं हुई । लोगों के समक्ष तीन-चार घंटे प्रेस की उपयोगिता बखानने के बावजूद किसी-किसी को पांच-सात बार समझाना पड़ा था। कुछ महीनों तक यही कार्य करते-करते भाषण करने की आदत-सी हो गई थी। किसी बाबू के मिलते ही भाषण अपने-आप चालू हो जाता था। भाषण का सारांश होता-"जो कंपनी के शेयर खरीदेंगे, उन्हें प्रचुर लाभ होगा। रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों का मुद्रण होने पर कीमत काफी कम होगी और उन्हें सब पढ़ सकेंगे। पोथी पढ़ने वाले को बुलाने की जरूरत नहीं रहेगी। बच्चे घर पर पोथी पढ़कर ज्ञानी बन जाएंगे। कोई विदेशी हमें 'ओड़िआ भेड' कह कर गाली नहीं दे सकेगा।" आदि, आदि। कोई प्रेस की उपयोगिता समझ कर तो कोई नफे की आशा से, और कोई हमारी बार-बार प्रार्थना के कारण प्रेस कंपनी में शेयर खरीदने को राजी हो जाते। चार-पांच महीने की अथक मेहनत से बारह सौ रुपये इकट्ठे हुए, जिन्हें कोषाध्यक्ष के पास जमा कराया गया।

अब पहला सवाल था, किताब छापने लिए कारीगर कहां हैं ? (उस समय कंपोजिटर या प्रेसमैन आदि शब्दों के संबंध में किसी को पता नहीं था।) पूछताछ करने पर पता चला कि ओड़िसा में कारीगरों का अभाव है, कलकत्ता से कंपोजीटर, प्रेसमैन, मशीनमैन आदि को लाने जाएं तो अपनी जमा-पूंजी कुछ ही महीनों में खत्म हो जाएगी। प्रेस के लिए सामान खरीदने को कुछ बचेगा ही नहीं। छपाई का काम सीख आने के लिए मैंने अपने एक ममेरे भाई को कलकत्ता भेजा। छापेखाने के लिए क्या-क्या चाहिए और उन चीजों की कीमत क्या होगी, इन सारी बातों का पता लगाकर चिट्ठी भेजने का निर्देश उसे दिया गया था। कलकत्ते में रहकर काम सीखने और खाने-रहने के खर्चे के लिए हर महीने अंदाजन पंद्रह रुपये चाहिए थे। रुपये कहां से आएंगे ? कंपनी की जमा-पूंजी से देने लगें तो बाद में टाइप-मशीन आदि को खरीदते समय पैसों की कमी होगी। क्या करूं ? अंत में मुझे ही देना पड़ा। उसे एक साल के लिए हर महीने पंद्रह रुपये देता रहा।

छापेखाने से संबंधित हर चीज का नाम और कौन चीज कितनी चाहिए और कितने में आएगी, इस सबके बारे में कलकत्ता से पत्र प्राप्त हुआ। उससे पता चला कि अक्षर अर्थात टाइप नाम की चीज की आवश्यकता है। पर ओड़िआ टाइप कलकत्ते में नहीं मिलते। कलकत्ते के उत्तरांचल में रामचंद्र कर्मकार नामक एक व्यक्ति ओड़िआ टाइप बनाता है। खबर पाकर उससे मिलने गया। वह ओड़िआ अक्षर पहचानता नहीं था। छपे हुए अक्षर देख कर टाइप बना देता। टाइप बनाना काफी कठिन होता। पर जो भी हो, मिल तो गया, वही परम सौभाग्य

की बात थी। टाइप तैयार करने के लिए पेशगी दे आया। उसने बाद में टाइप बना कर भेजा। फिर जब टाइप और दूसरे सामान की कीमत जोड़ी गई तो पता चला कि लगभग आठ सौ रुपये खर्च होंगे, बाकी बचता था कुल चार सौ रुपया। कलकत्ते की कंपनियों को पत्र लिखकर और दूसरी जगहों से पूछ-ताछकर पता चला कि सात-आठ सौ रुपये से कम होने पर एक अच्छी मशीन मिलना मुश्किल है। तब क्या इतनी सारी मेहनत, इतना सारा प्रयास सब बेकार जाएगा ? मेदिनीपुर में मिशनरियों का एक पुराना छापाखाना था। वहां सस्ते दाम में कोई मशीन मिल सकती है क्या, यह जानने के लिए पत्र लिखा। पत्र का जवाब आने के चार-पांच रोज पहले बैलगाड़ी से मेरे पास एक मशीन पहुंची। उस मशीन की लंबाई-चौड़ाई लगभग दो फुट थी। और वह डेढ़ फुट ऊंची थी। एक समचतुष्कोण बक्से की तरह। ऊपर एक खाली मोटा-सा लोहे का रूल इधर से उधर रेंग जाता था। उस की सही कीमत याद नहीं है, शायद डेढ़ सौ रुपया होगी। उस यंत्र को देख कर हमारा आनंद सीमा पार कर गया। शायद आजकल की कोई विशाल जमींदारी हठात् हाथ लगे तो भी वैसा आनंद मिलना असंभव होगा।

छापेखाने के लिए जरूरी साज-सामान धीरे-धीरे बालेश्वरी जहाज से आने लगा। कलकत्ता से बालेश्वर आने को हवा के रुख के अनुसार जहाजों को आठ-दस से बीस दिन लग जाते थे। अंत में टाइप लेकर जगन्नाथ बाबू भी पहुंच गए। हमें विश्वास था कि जगन्नाथ प्रेस के बारे में सारा काम सीखकर आ गया है और अब काम शुरू कर देने से सब ठीक हो जाएगा।

बालेश्वर के मोतीगंज बाजार के बीचो-बीच हमारी एक कोठी थी। उसे हम किराये पर देते थे। ताऊजी से कहकर उस मकान को किराये पर ले लिया। उसी में छपाखाना लगाना निश्चित हुआ। प्रिंटर अर्थात् जगन्नाथ बाबू उस घर में सारी चीजें सहेजकर रखने लगे। छपाखाना चलाने के लिए और छह आदमी रखे गए। प्रिंटर उन्हें काम बता देंगे। टाइप को जोड़कर प्रेस के अंदर रखा गया। अक्षरों पर स्याही लगाने के लिए एक लकड़ी के रूल में लोहे का हत्था लगाया गया था। उसी लकड़ी के रूल में स्याही लगा कर अक्षरों पर चलाया गया तो वह गड़-गड़ कर इधर से उधर रेंग गया। उसके ऊपर कागज रखा गया। सैकड़ों आदमी सांस रोके देख रहे थे। अब प्रेस से छपा हुआ कागज निकलेगा। यह क्या रे बाबा, एक भी अक्षर छपा नहीं है—कागज पर जगह-जगह स्याही के लोंदे-भर लगे हैं। प्रिंटर का मुंह सूख गया। वह काठ बना खड़ा था और हमें सारी धरती अंधकारमय दिखाई पड़ी। लाज और मनोवेदना से किसी के मुख से वाणी नहीं फूट रही थी। आज मुद्रण-कार्य आरंभ होगा, ऐसी घोषणा की गई थी। शहर के बड़े-बड़े लोग भी छपाई देखने के लिए आए थे। मोतीगंज बाजार की लगभग आधी दूकानें बंद हो गई थीं। छापेखाने के सामने वाली सड़क भी लोगों से भर गई थी। बटोहियों का आना-जाना करीब-करीब बंद था। हमारी तो विषम और शोचनीय अवस्था हो रही थी... कहां है छपाई ? कठिनाई से उत्तर देना पड़ा-'आज कागज पर सिर्फ स्याही लगाई गई है। इसके बाद वह स्याही अक्षर बन जाएगी।'

हम जैसे साधारण आदमी घोर आपदा के समय तुच्छ आत्म-सम्मान की रक्षा करने के लिए हर तरह के झूठ का सहारा लेने से नहीं झिझकते। धिक्! अब जीवन को धिककारने से क्या लाभ होगा ?

जगन्नाथ कलकत्ता में रहकर छापेखानों में देख आया था कि लकड़ी से बने रूल से टाइपों पर स्याही लगाते हैं। पर वह रूल किस तरह बनता था, इसका ज्ञान उसे नहीं था। लगा, वह रूल सही ढंग से बना नहीं है, इसलिए अक्षरों पर सब जगह समान स्याही लग नहीं रही। बढ़ई बुलाया गया, रंदा चला कर उसपर पालिश करने वाला कागज घिसकर चिकना बनाया गया। पर फल मिला–'यथा पूर्व तथा परं'।

अब और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। वही रूल मानो सामने रहकर नजर को ढांपे हुए था। कई उपाय कर कड़े परिश्रम के बावजूद असफल होने के बाद चार-पांच दिन बाद एक तरकीब सूझी। रूल पर कोई मोटा-सा कोमल चमड़ा लपेटा जाए तो शायद स्याही समान रूप से लगेगी। मन में तरकीब के उदय होते ही कार्यारंभ हो गया–चमार आया, रूल पर चमड़ा लपेटा गया। परिणामस्वरूप जो हुआ वह पाठक महाशय खुद समझ लें, लिखने की आवश्यकता नहीं है। आठ-दस दिन की चिंता, मेहनत से असफल होकर मैंने कलकत्ता चिट्ठी लिखी। जवाब आया, सरेस पिघला कर ऊपर लगाना होगा। सरेस उबाला गया, पिघले सरेस को एक छड़ी से रूल पर चारों ओर से लगाया गया। पर उससे फायदा?

फिर से कलकत्ता लिखा। रूल तैयार करने के बारे में विस्तृत रूप से निर्देश लिखित रूप में आ गया। नाप-तौल के हिसाब से गुड़ और सरेस मिलाकर उबालना होगा। तब एक मोल्ड के अंदर, ठीक मध्यस्थल में लकड़ी के रूल को रख पिघले हुए सरेस को मोल्ड के अंदर उंडेलना होगा। दस-बारह घंटों के बाद मोल्ड के अंदर सरेस ठंडा हो जाने पर काम के लायक होगा। बहुत अच्छा, पत्र का मर्म तो सही-सही और साफ समझ में आ गया। पर मोल्ड के अंदर रूल रख कर सरेस उंडेला जाएगा। मोल्ड तो अंग्रेजी शब्द है, जिसका अर्थ है सांचा। पर वह सांचा किस आकार का होगा, कौन-सी चीज से बनेगा वह सब पता नहीं था। किस से पूछें ? हम जैसे बालेश्वरवासियों की कई पीढ़ियों को भी प्रेस-रूल के अस्तित्व के बारे में जानकारी नहीं थी। फिर से कलकत्ता पत्र लिखकर जवाब आने तक कौन धीरज रखता ? घर से बाहर निकलो तो सुबह से शाम तक हाट-बाट, कचहरी के बड़े-छोटे सभी वर्ग के लोग वही सवाल करते–छपा हुआ कागज कब निकलेगा ? लज्जा से अंदरूनी दुर्दशा की बात खोलकर कहना मुश्किल है। हंस-हंसकर उत्साह के साथ जवाब देते–अब निकला, यह निकला। घर और बाहर स्त्रियों से भी वही प्रश्न। कैसे, किस तरह से मोल्ड तैयार करें, मन में एकमात्र यही चिंता थी। कल्पना में कई तरह के मोल्ड बनकर टूट गए। तीन-चार रोज की चिंता के पश्चात एक तरह के सांचे की कल्पना मन में उदित हुई। हमारे गांव के पास ठठेरों की एक बस्ती थी। कांस्य-पीतल के बर्तन बनाना उनका काम था। उन्हें मोल्ड का आकार-प्रकार समझाया। हफ्ते भर में उन्होंने एक पीतल का मोल्ड बना कर दिया। उसके अठारह रुपये लगे। उसी से एक सुंदर और उपयोगी रूल तैयार हो गया।

अब मुद्रण-कार्य आरंभ हुआ पर हाय, यह क्या हुआ ! अब मुद्रण छपाई में आधे अक्षर आते नहीं थे। दायीं तरफ की छपाई है तो बायीं नहीं; बायीं है तो दायीं गायब। पंद्रह दिन की कड़ी मेहनत पर पानी फिर गया। वह प्रेस (मशीन) खराब थी, इस लिए मेदिनीपुर के मिशन प्रेस वालों ने उसे फेंक रखा था। उस बात का पता हमें नहीं था। उस प्रेस से छपाई नहीं हो सकती, यह निश्चित रूप से ज्ञात हुआ। कलकत्ता से एक नई मशीन लानी होगी, नहीं तो वर्ष-भर की मेहनत और अर्थ-व्यय सब गुड़-गोबर हो जाएगा।

आ...ठ...सौ रुपये ! कहां से आएंगे ? अगर चंदा करके इकट्ठा करने चलें तो रुपये तो हाथ नहीं लगेंगे, तिरस्कार और विद्रूप निश्चय ही मिलेगा। पैसे उधार ले आता, पर कौन किस भरोसे मुझे इतना पैसा उधार में देगा ? विपदा अकेली नहीं आती। जेठ का महीना, कड़ी धूप, दिन-रात की भागमभाग, दुर्भावनाएं, अनियमित आहार और अनिद्रा के कारण मुझे पेचिश हो गई। दिन में आठ-दस बार दस्त के साथ खून जाता। एक रोज मशीन सुधारने के लिए काफी देर तक खड़े रहकर मेहनत करनी पड़ी। पसीने से सारे कपड़े गीले हो गए थे। पश्चभाग में रक्तस्राव से कपड़े भीग कर रक्त नीचे बहने लगा। घर आकर बेहोश हो गया। उन दिनों अकसर रात को लगभग नौ बजे प्रेस से घर लौटकर अचेत हो जाता। अपनी दुर्दशा के बारे में किसी से नहीं कहता। साहस के साथ हंसते हुए लोगों से प्रेस के बारे में बातें करता। पतवार तो जोर से पकड़ ही चुका था। उस घोर दुर्योग में मन-ही-मन मैंने प्रतिज्ञा की–प्रेस स्थापित नहीं हुई तो जीवन त्याग दूंगा।

किसी साधुकार्य में नि:स्वार्थ भाव से जी-जान से लग जाने पर दयामय प्रभु सहाय होते हैं। बालेश्वर के अन्यतम प्रधान जमींदार और महाजन बाबू मदनमोहन दास के भाई बाबू किशोरीमोहन दास मेरे एक सच्चे बंधु और सहायक थे। प्रार्थना करते ही बिना लिखा-पढ़ी के मुझे आठ-सौ रुपये उधार दे दिए। एक सुंदर रायल कोलंबियन प्रेस कलकत्ता से मंगाया। बरसात का समय, तब बालेश्वरी जहाजों का आना-जाना बंद था। इसलिए प्रेस बैलगाड़ी पर आया। अब तो गिट्टी बिछाकर जगन्नाथ सड़क (ट्रंक रोड) पक्की बना दी गई है, पर तब वह सड़क कच्ची मिट्टी की थी। बारिश के दिनों में अगम्य हो जाती। जगह-जगह भरी बैलगाड़ी मिट्टी में धंस जाती तो पास वाले गांव से मजदूर बुलाकर खींच-खांच कर उठाना पड़ता। प्रेस लेकर हमारी जो बैलगाड़ी आई थी वह दांतुन बाजार में सड़क के बीचोंबीच कीचड़ में फंस गई। पंद्रह-बीस मजदूर लगे, फिर भी सड़क भर पार करा देने में आठ दिन लग गए। जो भी हो, बाईस दिन बाद हमारी छपाई-मशीन कलकत्ता से बालेश्वर पंहुच गई। अब सभी अभाव और दुर्योग दूर हो गए। नियुक्त किए गए आदमियों ने काम सीख लिया। ओड़िआ और अंग्रेजी में सुंदर छपाई होने लगी। एक रोज बालेश्वर जिला के कलेक्टर बिगनोलड साहब ने मुझे बुलाकर प्रसन्न मन से शाबाशी दी और हमारे उत्साह-वर्धन के लिए कचहरी के कई फारम छापने को दिए। उन्हीं फारमों की छपाई से काफी नफा हुआ था। रथयात्रा की तरह प्रेस देखने के लिए दूर-दूर से दो-तीन महीनों तक लोग आते रहे। देहातों से पालकी पर सवार होकर बड़े-बड़े जमींदार प्रेस देखने आते थे। यह सब बताऊं तो क्या पाठक विश्वास

करेंगे ? विश्वास करें-न करें, पर यह सत्य है। छपाई शुरू होने के छह महीने बाद बिगनोलड और उनके बाद कलेक्टर जान बीम्स साहब के साथ उत्कल के परम हितैषी टी. रेवेनशा साहब एक रोज सुबह-सुबह छापेखाने में पहुंचे। प्रेस की हर चीज का मुआयना किया। प्रेस की स्थापना का संक्षिप्त विवरण सुनकर हमें दस रूपये पारितोषिक स्वरूप दिए। पर हम लोगों ने वे रुपये साहब के नाम से दो शेयरो के रूप में जमा कर दिए। कंपनी जब भंग हुई तब नफे के साथ हम लोगों ने उन्हें तीस रुपये लौटाए थे।

छापेखाने में काम शुरू होने से लेकर कई महीनों तक बालेश्वर-निवासी दल बना-बना कर काम देखने आते थे। आज जब मुद्रण-कार्य बहुल रूप से प्रचारित और प्रसारित हो चुका है तब ऐसी बात सुनकर लोग आश्चर्य करेंगे। पर लंदन शहर में जिस दिन पहले-पहल छापेखाने की स्थापना हुई थी उस दिन खुद ब्रिटेन के महामान्य राजा महामान्या क्वीन के साथ छपाई की अद्भुत घटना देखने को छापेखाने में पधारे थे। उस पर वह मशीन भी साधारण-सी लकड़ी से बनी थी।

किसी पर्व-त्यौहार की पूजा के अवसर पर बालेश्वर शहर के प्रधान व्यवसायी महाजन बाबू मदनमोहन दास के घर पर शहर के अनेक संभ्रांत व्यक्ति आमंत्रित होकर आए थे। बाबू राधानाथ राय और मैं, दोनो वहां उपस्थित थे। सभा में राधानाथ बाबू ने मेरी ओर देखकर कहा था, "आपने जिस तरह प्रेस कंपनी की स्थापना की है, उचित होगा कि वह इतिहास में स्वर्णाक्षर में लिखित रहे।" हाय राधानाथ, तुमने महायात्रा की और स्याही और अक्षर से छापेखाने की उत्पत्ति का संक्षिप्त विवरण लिखने के लिए तुम मुझे छोड़ गए !

छापेखाने का कार्य सुचारु ढंग से चलने लगा, कचहरी के फारमों की छपाई से काफी लाभ होता, बीच-बीच में एकाध पुस्तक भी छापी जाती। इसके पहले कटक प्रिंटिंग कंपनी 'उत्कल-दीपिका' नाम से एक साप्ताहिक पत्रिका प्रकाशित करती थी। कंपनी की कार्यवाहक समिति ने हमारे प्रेस से एक पाक्षिक पत्रिका निकालने का प्रस्ताव पारित किया। उसी के अनुसार 'बोधदायिनी' और 'बालेश्वर संवाद वाहिका' नाम से एक पत्रिका निकाली गई। 'बोधदायिनी' का अंश साहित्य संबंधी और 'बालेश्वर संवाद वाहिका' अंश संवाद-प्रचार के लिए निर्धारित था। पत्रिका निकली। पर लेखकों का अभाव था। मैं सारे दिन स्कूल और प्रेस का काम करके थक जाता। रात को विशेष कुछ करने की शक्ति नहीं रहती। इसलिए पत्रिका अनियमित रूप से निकलती। पत्रिका के लगभग चालीस-पचास ग्राहक थे। आठ-दस ग्राहकों से कीमत वसूली जाती थी। बीस-पच्चीस आदमी उसे पढ़ते थे या नहीं, संदेह होता है। जो भी हो, छपाई का कार्य सुचारु ढंग से चलता था।

16. देहात में स्कूल खोलने की चेष्टा

हमारी पूर्वोक्त सभा में प्रस्ताव पास हुआ कि भाषा के समग्र प्रचार के लिए देहातों में स्कूलों की स्थापना करना उचित होगा। तय हुआ, देहात के सभी बड़े-बड़े गांवों में स्कूल खोलने का प्रयत्न किया जाएगा। अब इस प्रसंग पर लिखते समय मन-ही-मन हंसी आ रही है। प्रस्ताव करने वाले सभी धन और विद्या-विहीन भट्टाचार्य थे। किस साहस से इस तरह के दुरूह कार्य के लिए हम लोगों ने इच्छा की थी ? जो भी हो, हमारा पहला प्रयास हुआ रेमणा ग्राम में। रेमणा बालेश्वर की पश्चिम दिशा में लगभग तीन कोस की दूरी पर है। प्राचीन काल से यह गांव बंगाल और उत्कल में सुविख्यात है। गोपीनाथजी का विग्रह मंदिर इसी गांव में है। श्री चैतन्य देव पुरी-यात्रा के समय इसी मंदिर में ठहरे थे। अति प्राचीन काल में वृंदावनधाम घने जंगल से आच्छादित था। इस धाम की महिमा और प्रसिद्धि का कारण हैं श्री चैतन्य देव। वृंदावनधाम में श्री गोविंदजी का विग्रह स्थापित होने के पश्चात उनकी अर्चना के लिए किस तरह की व्यवस्था आवश्यक है, इसी को लेकर वैष्णव मंडली में प्रश्न उठा था। माधवपुरी गोसाईंजी रेमणा आकर श्री गोपीनाथजी की पूजा-पद्धति प्रत्यक्ष कर गए और तदनुसार उनकी पूजा-अर्चना की व्यवस्था की गई।

पहले 'नमक पोक्तान' के समय शहर के प्रमुख कायस्थ कर्मचारियों के घर रेमणा में थे। कलकत्ता के समीप सालिका के मुख्य गोला-कचहरी से नियुक्त होकर वे लोग आते थे। उस पर बालेश्वर का यह एक प्रख्यात वाणिज्य-केंद्र है, इसलिए यह अनेक व्यापारियों का भी गढ़ है।

लगभग हम सभी सदस्यों ने एक स्कूल खोलने के इरादे से रेमणा की यात्रा की। हमारे साथ गए स्कूल के डिप्टी इंसपेक्टर बाबू शिवदास भट्टाचार्य। रेमणा के कायस्थपल्ली के पास स्कूल खोला गया। हमारे सहपाठी बाबू नंदकुमार भट्टाचार्य साथ गए थे। उन्हें प्रधान-शिक्षक बनाया गया। उसी दिन कार्यारंभ हो गया।

अब हिसाब करके देखा गया कि दो शिक्षक, एक नौकर और दूसरे खर्च के लिए हर महीने पच्चीस रुपये चाहिए। हरि बोल, हरि ! महीने में इतने पैसे कहां से आएंगे ? अदूरदर्शियों की जो अवस्था होती है, हमारी भी दशा वैसी ही शोचनीय हो गई। सभा में बैठे-बैठे हम लोग एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। अंत में चंदा संग्रह करने की योजना बनी। महाराज बहादुर (उस समय बाबू बैकुंठनाथ दे) ने कहा—चंदा इकट्ठा करने की कोई आवश्यकता नहीं। सारा व्यय वे खुद उठाने को प्रस्तुत हैं। और उन्होंने एक साल का पूरा खर्चा जोड़ कर अग्रिम तीन-सौ रुपये मेरे हाथों में थमा दिए। अब तक रेमणा स्कूल का कार्य उन्नत अवस्था में चल रहा है। रेमणावासी वैकुंठगत महाराज बैकुंठनाथ दे बहादुर का पवित्र नाम चिरकाल तक स्मरण करते रहेंगे।

17. ओड़िआ भाषा का संकट

बालेश्वर जिले के सोरों-निवासी पंडित सदाशिव नंद बालेश्वर के गवर्नमेंट स्कूल में ओड़िआ पंडित के पद पर नियुक्त थे। ओड़िआ और संस्कृत पढ़ाना उनका कार्य था। नंद महाशय ने पेंशन ले ली तो उनकी जगह बंगदेश-निवासी कांतिचंद्र भट्टाचार्य नियुक्त होकर आए। लगता है, वे पहले ही से सोचकर आए थे कि ओड़िआ पढ़ाना उनके लिए कदाचित कठिन नहीं होगा। भट्टाचार्यजी ने चार-पांच महीने की मेहनत से मुद्रित ओड़िआ पाठ्य-पुस्तकों को पढ़ लिया, पर सारा गोलमाल मूल बात में रह गया। कठिन प्रयास के बावजूद वे ओड़िआ नहीं बोल सके और 'ण' और 'ळ' का उच्चारण उनके लिए असाध्य हो गया। भट्टाचार्यजी की उम्र उस समय 'पंचाशतं वनं ब्रजेत' थी। बूढ़ी और अकड़ी जीभ से अनभ्यस्त अक्षर का उच्चारण करना क्या आसान है ? वे 'ळ' का उच्चारण 'ड' और 'ण' का 'नो' करते। यथा – हे बाड़क गनो !' उनकी बात सुन कक्षा के सभी लड़के खिलखिलाकर हंस पड़ते। वैसा अपमान उन जैसे महान पंडित को कैसे सह्य होता ? काम रुकने पर बुद्धि काम शुरू करती है। एक रोज भट्टाचार्यजी ने कक्षा में लड़कों से कह ही दिया–

"आरे उड़िआ त स्वतंत्र भाषा नय। बांगलार विकृति मात्र। उड़े पढ़ार आउ दरकार नाई।" (अरे, ओड़िआ तो स्वतंत्र भाषा नहीं है। बंगला का विकृत रूप मात्र है। और, ओड़िआ पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है।)

मुझे ठीक से पता नहीं है, शायद लड़कों ने भी खुशी-खुशी कहा होगा, 'पंडितजी, आप दीर्घजीवी हों और निश्चिंत मन से बैठे रहें।' क्योंकि ओड़िआ पढ़ना उस समय बच्चों के लिए झमेले की बात थी। अब की तरह उस समय ओड़िआ सैकंड लैंग्वेज थी, इसलिए उसकी पढ़ाई अनिवार्य नहीं थी। जिसकी इच्छा हुई वह पढ़े, नहीं पढ़ता तो कोई हानि नहीं। उधर सिर से पैर तक हर कक्षा में मास्टर बंगाली थे। ओड़िआ का पक्ष लेकर एक शब्द तक कहने वाला कोई नहीं था। पंडितजी की चाल खूब चली।

'उड़िआ स्वतंत्र भाषा नय' सिर्फ मुंह से कहने से नहीं चलेगा। प्रमाणित करना होगा। पंडितजी एक ग्रंथ की रचना करने बैठ गए। उसका नाम रखा–'उड़िआ स्वतंत्र भाषा नय'। पुस्तक छपकर आ गई। बंगाली हेडमास्टर साहब ने पुस्तक की एक प्रति के साथ इंसपेक्टर साहब को रिपोर्ट लिख भेजी। उस समय स्कूल इंसपेक्टर थे आर. एल. मार्टिन। उनका मेदिनीपुर में हेड आफिस था। दफ्तर के सब कर्मचारी बंगाली थे। बालेश्वर के बंगाली सब-इंसपेक्टर साहब की अनुकूल राय के साथ हेडमास्टरजी की रिपोर्ट इंसपेक्टर के दफ्तर में उपस्थित हुई।

वहां से शीघ्र ही हुक्मनामा बालेश्वर के हेडमास्टर साहब के पास पहुंच गया। उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है–'बालेश्वर गवर्नमेंट स्कूल में सिर्फ संस्कृत और बंगला की पढ़ाई

ही होगी।'

उस समय स्कूलों में ही नहीं, लगभग सभी सरकारी दफ्तरों में भी किसी भी पद पर कोई ओड़िआ नहीं था। सभी बंगाली थे। सभी समान रूप से ओड़िआ के प्रति विद्वेष और घृणा की भावना रखते थे। अब उनमें आंनद-उत्साह की लहर उमड़ पड़ी। कांति भट्टाचार्य के पैर धरती पर नहीं पड़ रहे थे। उन्हें लगता था, मानो ओड़िसा में उन्होंने कोई कीर्तिमान स्थापित कर दिया हो।

सिर्फ अंग्रेजी स्कूलों में ही नहीं, दूसरे सहायता-प्राप्त (एडेड) स्कूलों से भी ओड़िआ उठाने की बात चलने लगी। बंगाली जमींदार मंडल बाबू ने अपने जमींदारी इलाके में एक बंगाली स्कूल खोल दिया।

केवल बालेश्वर के ही नहीं, सभी उत्कल-निवासी बंगाली राज-कर्मचारियों का यही मत था। एक ही परामर्श था, उत्कल भाषा उठाने का, और उसी के लिए सब प्रयत्नशील थे।

उस समय उत्कल में बंगाली और ओड़िआ दोनों में भयानक विवाद था। अब एक दल आनंद और उत्साह के साथ अपने अभीष्ट साधन में लगा था और दूसरा पक्ष नीरव और निश्चेष्ट।

अचानक हमारे मस्तक पर घोर वज्रपात हुआ। शत्रुओं में आनंद, उत्साह और उनकी विद्रूप वाणी हृदय में तीर की भांति बिंध जाती थी। हाय, यह क्या हुआ ! क्या हम अपनी मातृभाषा ही नहीं पढ़ पाएंगे ? हमारी वही दुर्बल और छोटी-सी कमेटी बुलाई गई। दिन-रात यही चिंता बनी रही–क्या उपाय है ? शाम से रात के छठे पहर तक हम शहर के लगभग सभी प्रमुख व्यक्तियों के घर-घर घूमने लगे। कचहरी में कर्मचारियों को एकत्रित कर आत्मरक्षा का उपाय ढूंढ़ने की प्रार्थना की गई। पर सभी से एक ही वाक्य में जवाब में मिला–

"अरे बाबू ! यह हुआ सरकारी मामला ! सरकार स्कूलों में जो पढ़ाएगी, हमारे लड़के वही पढ़ेंगे। सरकारी हुक्म के खिलाफ बोलकर हम क्यों आपदा मोल लें ?''

कर्मचारियों की बातें सुनकर शहर के जमींदारों और महाजनों ने हमारी बात नहीं सुननी चाही। कुछेक ने तो साफ-साफ कह दिया–"कर्मचारियों में जिस बात की हिम्मत नहीं है, हम उसमें दखल देकर जुर्माना देंगे क्या ?''

बाबू गौरीशंकर राय के उद्यम को शत-सहस्र प्रणाम। वे उस समय 'उत्कल दीपिका' में उत्कल भाषा के पक्ष में हर सप्ताह युक्तिपूर्ण निबंध प्रकाशित कर रहे थे। हम बालेश्वर-निवासी उत्कल भर में केवल उन्हीं की अमृतवाणी सुन रहे थे। बालेश्वर से प्रकाशित हमारी पत्रिका 'बालेश्वर-संवाद वाहिका' में कुछ-कुछ लिखते थे।

उधर हम लोग खामोश नहीं बैठ गए थे। हर रोज, प्रतिक्षण उपाय ढूंढने के लिए तत्पर थे। एक रोज कचहरी की छुट्टी के बाद सभी कर्मचारियों को एकत्रित कर भाषण किया। उस भाषण का संक्षिप्त मर्म था–

'महाशय ! अब जो स्कूलों में ओड़िआ के बदले बंगाली पढ़ाई जा रही है, यह सरकारी हुक्म नहीं है, बंगलियों ने चाल चली है और इंसपेक्टर साहब को बहकाकर ऐसा करवाया है। थोड़े ही दिनों में कचहरी से भी ओड़िआ भाषा को हटा लेंगे। क्या आप समझ नहीं रहे, इसका कारण क्या हो सकता है ? बड़ी-बड़ी तनखाह वाली नौकरियों और मुंशियों तक के पदों पर बंगाली पालथी मारकर बैठ गए हैं। आप सभी फारसी में प्रवीण हैं– मौलवियों की तरह। उसी फारसी को हटाकर बंगाली मुंशी बन बैठेंगे। आप लोगों की सारी विद्या मिट्टी में मिल गई। अगर ओड़िआ भाषा हट गई तो इन्हीं बंगालियों के बेटे, भाई, जाति, कुटुंब के लोग मुंशी बनेंगे। आप लोग तो जरूर बरखास्त हो जाएंगे। बाद में आपके लड़कों-पोतों को कोई सरकारी नौकरी मिलेगी ही नहीं।'

हमारे इन शब्दों से सभा में सनसनी फैल गई। सभी चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे– 'नहीं...नहीं, यह कभी नहीं होगा। हमारे लड़के स्कूलों में ओड़िआ पढ़ेंगे।'

तब सभी ने हमें पकड़ा–'तरकीब करो, उपाय सोचो।'

हम लोगों ने जवाब दिया–'तरकीब आसान है। सरकार को दरखास्त दें, स्कूलों में ओड़िआ पढ़ाई जाए और कोई बंगाली कर्मचारी नियुक्त न किया जाए।'

अब धैर्य नहीं रहा, सभी उतावले हो कहने लगे, 'जल्दी दरखास्त तैयार की जाए।'

शुभ कार्य में देर करना अनुचित था। रात-दिन लगकर एक दरखास्त तैयार की गई। लगभग पांच सौ लोगों ने उस पर हस्ताक्षर किए और उसे कलेक्टर साहब के हुजूर में दाखिल कर दिया गया।

कई कारणों से उस समय बालेश्वर-निवासी सभी अंग्रेज अफ्सरों और मिशन वालों की हमारे प्रति सहानुभूति थी। हमारा पक्ष उन सभी महानुभावों ने लिया।

उस समय बालेश्वर के कलेक्टर जान बीम्स गवर्नमेंट में एक भाषाविद पंडित के रूप में परिचित थे। हमारी दरखास्त जब उनके हुजूर मे पेश की गई तो उन्होंने अनुकूल राय देकर कमिशनर साहब के पास भेज दिया–ओड़िआ अति प्राचीन और स्वतंत्र भाषा है। देश भर में उस भाषा की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसी आशय से अंग्रेजी में एक पुस्तक भी उन्होंने लिखी और सरकार के पास भिजवाई।

ओड़िसा के परमबंधु टी. रेवेनशा उस समय उत्कल के कमिशनर थे। उन्होंने लिखकर सिफारिश कर दी। सरकार से हुक्म आया–

'ओड़िसा के सभी स्कूलों से बंग भाषा संपूर्ण रूप से हटाई जाए और ओड़िआ भाषा के बहुल प्रचार के लिए जगह-जगह स्कूलों की स्थापना की जाए।'

कलेक्टर जान बीम्स और कमिशनर टी. रेवेनशा का अनुग्रह उत्कलवासी सदा स्मरण करते रहेंगे।

18. साधारण शिक्षा और उच्च शिक्षा

सन् 1868 ई. में केम्बल साहब बंग-बिहार-ओड़िसा के लेफ्टीनेंट-गवर्नर थे। उन जैसे असाधारण कर्मवीर और शक्तिशाली लेफ्टीनेंट-गवर्नर कभी आए नहीं थे। प्रत्येक सरकारी विभाग में प्रचलित पुरानी कार्यप्रणाली के बदले वे नई व्यवस्था लागू कर गए हैं। रोज हर महकमे के देहातों में रहने वाले पदाधिकारी डाक की प्रतीक्षा में रहते थे—क्या पता कब कौन-सी अधिसूचना आ टपके ! वास्तव में नए विधान का कुछ-न-कुछ समाचार रोज हर दफ्तर में पहुंचता था। कचहरी में अफसरों और कर्मचारियों से पता चलता था आश्चर्य की बात है; एक ही आदमी इतना अनुसंधान और इतना कार्य कर सकता है ! सबडिप्टी और कानूनगो पद केम्बल साहब की देन हैं। डिप्टी और सबडिप्टियों के लिए घुड़सवारी और सर्वे का काम जानना जरूरी था; यह विधान केम्बल साहब के समय से प्रचलित है।

लेफ्टीनेंट-गवर्नर केम्बल साहब ने प्रचार किया कि प्रदेश के साधारण लोगों को शिक्षित करने के लिए सरकार की ओर से नियम बनाए जाएं और अधिक धन-राशि की व्यवस्था होनी चाहिए। इस संबध में उन्होंने जनसाधारण से राय चाही। लेफ्टीनेंट-गवर्नर साहब के प्रश्न का उत्तर देने के लिए बालेश्वर में महत्वपूर्ण लोगों की एक सभा बुलाई गई। राजा श्यामानंद दे के देवी मंदिर के दुमंजिले बरामदे में संध्या सात बजे सभा का कार्य आरंभ हुआ। सभा में डिप्टी, मुनसिफ, इंजीनियर, सभी स्कूलों के शिक्षक और बड़े-बड़े कर्मचारियों को लेकर तीस-चालीस बंगाली और ओड़िआओं की तरफ से सात-आठ व्यक्ति उपस्थित थे। उस समय बालेश्वरवासी महाजन और संभ्रात व्यक्ति साधारण सभा-समितियों में शामिल होना पसंद नहीं करते थे। सभा-समिति के नाम से वे बीमार पड़ जाते या कोई जरूरी काम से बाहर चले जाते थे। साधारणतया वे सभा-समितियों का अर्थ चंदा देना समझते थे।

उस समय ओड़िआ भाषा को लेकर बंगाली और ओड़िआ-भाषियों में विवाद चलता ही रहता था। गवर्नमेंट स्कूल के पंडित श्री कांतिचंद्र भट्टाचार्य बंगालियों के नेता थे।

एक बंगाली इंजीनियर ने उठकर उपस्थित सदस्यों को विस्तार से सभा का उद्देश्य समझाया। उसके पश्चात एक और बंगवासी तथा पंडित कांतिचंद्र ने विस्तृत भाषण के जरिए प्रथम वक्ता के पक्ष का अनुमोदन और समर्थन किया। उनके भाषणों से सभी सदस्यों ने यही समझा कि, सरकार हाई एजूकेशन अर्थात उच्च अंग्रेजी शिक्षा के विद्यालयों को शहर से उठाकर देहातों में देशी भाषा के विद्यालयों की स्थापना करेगी और साधारण लोगों के लड़कों को शिक्षित करेगी। इससे हमारा घोर अनिष्ट होने की संभावना है। इसलिए इस सरकारी सुझाव का विरोध कर प्रतिवाद करना हमारे लिए पूर्ण रूप से उचित होगा।

देश के सामान्य जन और असमर्थ लोगों के लड़कों को किसी तरह शिक्षा मिलनी चाहिए। उस समय मेरे मन में इस विचार का क्षीण उदय हुआ था। इसलिए मैं अपने और पास के गांवों से लड़के इकट्ठे करके स्कूल में पढ़ाया करता था। किताब खरीदने या स्कूल की फीस देने में असमर्थ लड़कों को अपनी जेब से देता था। मिशनरी स्कूल में शुल्क था एक-दो आना, पर असमर्थ लड़के निःशुल्क पढ़ते थे।

सरकार गरीब लड़कों को पढ़ाने की व्यवस्था करने जा रही है, यह जानकर मुझे खुशी हुई थी। लगा, अगर सरकार अंग्रेजी स्कूलों को बंद कर देगी तो बड़े घरों के लड़के तो किसी-न-किसी तरह पढ़ ही जाएंगे, पर देहातों में स्कूल खोले जाएं तो अनेक गरीब छात्रों को पढ़ने का मौका मिलेगा और उससे ओड़िसा में बहुत-से लोग शिक्षित हो सकेंगे।

पंडित कांतिचंद्र भट्टाचार्य के भाषण के उपरांत मैं खड़ा हो गया और साधारण शिक्षा की उपयोगिता के बारे में विस्तार से समझने लगा। भाषण के पश्चात मैं अपनी जगह बैठा ही था कि बारूद में अचानक आग लगने की तरह कांति पंडित उत्तेजित स्वर में चीखते-से भाषण देने लगे। उनका भाषण समाप्त होते ही मैं फिर खड़ा हो गया और उनके मत का खंडन कर अपने मत का पोषण करते हुए कई बातें कह डालीं। उस विकट चीत्कार से वह दुमंजिला मकान कांप रहा था। इस तरह का वाद-प्रतिवाद एक-दो बार नहीं, आठ-दस बार चला। एक सुराही में ठंडा पानी रखा हुआ था। बीच-बीच में वक्तागण एक-एक गिलास ठंडा जल पी लेते थे। सभी बंगाली सज्जन मेरे खिलाफ उत्तेजित हो उठे थे। सिर्फ बगलानंद नामक बंगवासी डिप्टी बाबू ने साधारण शिक्षा के पक्ष में कुछ बातें कही थीं। अंत में धूर्त कांतिचंद्र पंडित ने एक सुंदर उपाय का सहारा लिया। खड़े होकर ऊंचे स्वर में चीखते-से कहने लगे, हे सभागण ! सोच लें, सरकार अगर हाई एजूकेशन उठा देगी तो क्या आप लोग हर महीने पचीस-तीस रुपये खर्च कर अपने एक-एक लड़के को पढ़ा सकेंगे ? तो उच्च शिक्षा के पक्ष में जो हैं वे अपना हाथ उठाएं।'

सबने हाथ उठाया। हे हरि ! जो कुछ ओड़िआ सदस्य वहां उपस्थित थे वे भी हाथ उठाए हुए थे ! तत्काल सभी से हस्ताक्षर लिए गए। कांति पंडित ने चीखकर कहा–'फकीरमोहन बाबू से हस्ताक्षर न कराएं !' मैंने मन-ही-मन सोचा–तथास्तु !

19. स्कूल कमेटी की सदस्यता

उस समय उत्कल में सभी सरकारी दफ्तरों में प्रमुख कर्मचारी बंगाली थे। ओड़िआ भाषा को हटाकर उसके बदले बंगाली भाषा चलाने के लिए सभी एकमत थे। अपने-अपने दफ्तरों में बंगला चलाने को सभी सचेष्ट थे। कोई सरकारी जगह खाली होने पर अपनी तरफ के लोगों को नियुक्ति देने के लिए सभी पूरी चेष्टा करते थे। पब्लिक वर्क्स और डाक विभाग में ओड़िआ का प्रवेशाधिकार नहीं था।

उस समय बालेश्वर में बाबू वृंदावनचंद्र मंडल सर्वप्रधान जमींदार थे। इनका निवास था चुंचुंडा। बालेश्वर जिले में उनकी विस्तृत जमींदारी थी। वह आदमी बड़ा ही साहसी, बुद्धिमान और दानी था, पर अति मद्यप ओर क्रोधी स्वभाव का। दिन-रात शराब की बोतल पास रहती। गिलास और बोतल बिस्तर पर न हो तो नींद ही न आए! बालेश्वर के सभी बंगाली कर्मचारी उन्हें मुखिया मानते थे। शाम से रात के नौ बजे तक मंडल बाबू के कचहरी-कक्ष में सभी बंगाली बाबुओं की बैठक होती थी। अब बैठक में चर्चा का प्रधान विषय होता कैसे सरकारी दफ्तरों से ओड़िआ हटाकर बंगला का प्रचलन किया जाए? सभा-समिति में भाषण, कर्मचारियों के साथ विचार-विनिमय, 'संवाद वाहिका' में प्रस्तावों का प्रकाशन, बंगालियों के साथ तर्क-वितर्क आदि के कारण मैं बंगाली समाज का परम शत्रु बन बैठा। बंगाली बाबू अत्यधिक घृणा के कारण मेरा नाम तक नहीं लेते थे। उन्होंने मेरा नाम रखा था – 'बेटा रिंग-लीडर'।

बाबू वृंदावनचंद्र मंडल ने दूर देहात के एक गांव में एक बंगला स्कूल खोला। वास्तव में वह स्कूल की तरह नहीं था, बंगाली बाबुओं के अनुरोध पर वह दिखावा मात्र था। उसी के संबंध में 'वाहिका' में एक विद्रूपात्मक निबंध निकला, जिससे वृंदावन बाबू मुझ पर आग-बबूला हो उठे। वे मौका मिलते ही बंगालियों को भड़काते।

बालेश्वर के बाराबाटी स्कूल के सात मेंबर थे। और सभी तो बंगाली थे, अकेला मैं ओड़िआ था। एक दिन कमेटी की बैठक हुई। दैवयोग से मैं उस दिन अनुपस्थित था। वृंदावन बाबू ने खड़े होकर प्रस्ताव किया – 'या तो फकीरमोहन का कमेटी से बहिष्कार किया जाए, या मेरा।' कमेटी वालों के लिए आफत हो गई। क्योंकि स्कूल चंदे से चलता था। बंगाली और ओड़िआ चंदा देने वालों की संख्या बराबर थी। फकीरमोहन को छोड़ने पर सभी ओड़िआ स्कूल के साथ संपर्क तोड़ लेंगे और वृंदावन बाबू को छोड़ें तो बंगालियों से चंदे की वसूली बंद हो जाएगी। कमेटी किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गई। काफी तर्क-वितर्क के बाद जब वृंदावन बाबू खुद राजी हुए कि स्कूल का सभी व्यय वे ही संभालेंगे, तब मुझे कमेटी से बाहर कर देने वाली बात निश्चित हो गई। बंगाली बाबू लोग आंनद से नृत्य करने लगे। पर हाय! धरती पर कोई भी बात चिरस्थायी नहीं होती। "नीचैर्गच्छत्युपरि

च दशा चक्रनेमि क्रमेण ।'' सुख और दुख परिवर्तनशील हैं। बंगाली महानुभावों का आनंदोल्लास दीर्घकाल के लिए स्थायी नहीं हुआ। इस घटना के अगले हफ्ते सरकारी गजेट मे निकला – "बाबू फकीरमोहन सेनापति इज एपाइंटेड एज ए मेंबर आव बालासोर जिला स्कूल कमेटी।''[1] गजेट पढ़कर बाबू लोग मौन रह गए। बाबू श्रीनाथ दत्त बालेश्वर जिला स्कूल के हेडमास्टर थे। वे भद्र, सदाशय, निरपेक्ष और स्पष्टवादी थे। वे बंगाली दल में शामिल थे, पर वाद-विवाद पसंद नहीं करते थे। बाराबाटी स्कूल कमेटी से मुझे निकाले जाते समय उन्होंने आपत्ति की थी। वे भी उस कमेटी में मेंबर थे। गजेट में निकल जाने के बाद एक दिन मिले तो उन्होंने हंसते हुए कहा – "मोशाय, किछुतेई आपनाके आण्टते पारागेल ना।''

बाबुओं के लिए एक और अप्रीतिकर घटना उस समय घटी। मैंने ओड़िआ में भारतवर्ष का इतिहास लिखा था। वह पुस्तक दो भागों में थी। उत्कल में छात्र-वृत्ति परीक्षा के लिए पाठ्य-पुस्तक के रूप में वह स्वीकृत हो गई। उस पुस्तक पर स्कूल इंसपेक्टर साहब ने सात सौ और ओड़िआ के कमिशनर रेवेनशा साहब ने तीन सौ रुपये मुझे पुरस्कार के रूप में प्रदान किए थे।

उस समय बालेश्वर में म्युनिसिपैलिटी नहीं थी। शहर में चौकीदारी टैक्स लागू था। कमिशनरों में मैं और बाबू वृंदावनचंद्र मंडल दोनों थे। कमेटी में हम दोनों में सदा मतभेद रहता था, यहां इस बात का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

बालेश्वर बाराबाटी स्कूल कमेटी से मुझे बाहर कर देने के कारण सभी ओड़िआ चंदा-दाताओं ने अपना-अपना चंदा देना बंद कर दिया। बाबू वृंदावनचंद्र मंडल ने कई महीने का खर्चा दिया और बाद में बंद कर दिया तो वह स्कूल ही बंद हो गया।

---

1. बाबू फकीरमोहन सेनापति को बालासोर जिला स्कूल समिति का सदस्य नियुक्त किया जाता है।

20. समाज की रीति-नीति में परिवर्तन

अंग्रेजी शिक्षा तथा विदेशियों के संसर्ग के कारण बालेश्वर के उत्कलीय समाज में एक भयानक परिवर्तन का समय उपस्थित होने लगा। वेशभूषा, आहार-विहार, रीति-नीति, पाप-पुण्य आदि सभी विषयों में परिवर्तन। पहले बालक से लेकर वृद्ध तक सभी के मस्तक पर बालों का घना गुच्छा रहता था। उसे 'पिंडाबाल' कहते थे। उसी गुच्छे का उच्छेदन पहले स्कूली लड़कों से आरंभ हो गया और उन्हीं की देखा-देखी शहर के अन्य युवकों के मस्तक पर से भी वह अदृश्य होने लगा। सिर्फ कुछ धर्मप्राण अभिभावकों के भय से अति सूक्ष्म कर केश का नामकरण 'चुर्कि' करके प्रच्छन्न भाव से मस्तक के ऊपर विराजित करने लगे, क्योंकि वहां कुश से गांठ न बांधी जाए तो पितृपुरुष जलग्रहण नहीं करेंगे। उस के पश्चात दीर्घकाल तक हिंदू धर्म-परायण महानुभावों के मस्तक पर चुर्कि का अस्तित्व दिखाई देता था। अब लगता है, स्कूल के लड़कों के सामने 'चुर्कि' या पिंडाबाल' शब्द उच्चरित हो तो शायद उनका अर्थ जानने के लिए वे शब्दकोष के पन्ने उलटने लग जाएंगे। पहले कुछ सरकारी कर्मचारी कर्तव्यवश जूता, कमीज, चपकन आदि पहनते थे। जूता बाहरी दरवाजा लांघकर अंदर नहीं जाता था। गोरू चमड़ा पैरों में लगा था, इसलिए जूता पहनने वाले बाबू लोग पैर धोकर ही अंदर जाते थे। धीरे-धीरे केवल कमीज हाट-बाट में दिखाई देने लगीं। जूता धीरे-धीरे घर के अंदर आंगन और बरामदे तक आ गया। अन्य चाल-चलन, आहार-विहार आदि सब में परिवर्तन शुरू हो गया। अशुभ क्या है, उस पर विचार करना फिलहाल अप्रासंगिक होगा।

शहर के धनवानों के लड़के और स्कूलों में पढ़ने वाले नवयुवक धीरे-धीरे अधिक उद्दंड होते जा रहे थे। इसे अभिभावकों की निर्बोधता या शासन की अक्षमता कहा जा सकता है। पांच-सात साल की उम्र में लड़के को पढ़ने के लिए किसी मास्टर की निगरानी में छोड़ देना, उसके बाद किसी स्कूल या मकतब में दाखिल करा देना उस समय पिता या अभिभावक का अंतिम कर्तव्य माना जाता था। बड़े घर के बच्चों के संगी निम्न वर्ग के नौकर, रावत, नाई आदि सखा बन जाते थे। पिता और पुत्र में कदाचित ही साक्षात होता। पिता के सम्मुख सिर ऊंचा करके चलना या बात करना पुत्र के लिए एक निंदनीय कार्य माना जाता था। साधारणतया धीर होकर चलना और धीरे-धीरे बात करना सुशीलता का परिचायक था। दौड़कर जाना, पानी में तैरना, और हर समय खेलते या घूमते रहना—ये सब बुरी आदतें मानी जाती थीं। शिक्षा के विस्तार के साथ-साथ समाज में धर्मभाव बढ़ा है। पहले मिथ्याभाषण या पुरुष के लिए व्यभिचार दोष नहीं माना जाता था। बड़े लोग, विशेषकर कायस्थ और खंडायतों के घर पिशाची उपपत्नियों के लिए आरामदेह आवास बने

हुए थे। कुछेक लज्जा-शून्य धनवान व्यक्ति वेश्याओं को आभूषणों से मंडित करने में या उनके लिए कोठियां बनवाने में गर्व-गौरव अनुभव करते थे।

घूस लेने को दोषपूर्ण कार्य न मानकर वरन् कुछेक प्रशंसा का विषय मानते थे। जिस कर्मचारी की ऊपरी आय जितनी होती, उसे समाज में उतनी ही प्रतिष्ठा मिलती। मुहावरा प्रचलित है–'झूठा व्यापार, चाकर चोर।' मिथ्याभाषण, व्यभिचार और घूस थी और हमेशा रहेगी। पर अब शिक्षित वर्ग झूठ बोलने में कुछ हद तक डरने लगे थे। असत्यभाषी संभ्रांत व्यक्ति जनसाधारण में उपहास्य माने जाने लगे थे। अब व्यभिचारी के लिए समाज में स्थानाभाव था। घूस जनसाधारण के हृदय में फलगुधारा की तरह प्रच्छन्न रूप से प्रवाहित थी।

और धर्मचर्चा–घर के अंदर कर्त्तव्य-कर्म के विभाग थे ! धर्मानुष्ठान, यह काम बड़े-बूढ़ों का, विशेषकर बूढ़ियों के जिम्मे था। वे स्नानकर पूजा-पोटली फैलाकर सेवा-पूजा करने बैठ जातीं। पोटली के अंदर श्री जगन्नाथ महाप्रभु के निर्माल्य महाप्रसाद और एक डोरी में माला की तरह गुंथे हुए छोटे-छोटे बटुओं में रखे श्रीक्षेत्र, वृंदावन, मथुरा, प्रयाग आदि पुण्यक्षेत्रों की पुण्य रेणु संचित रहती। तिलक लगाकर महाप्रसाद और रेणुकणों का प्रसाद-सेवन कर एक बार माला फेर लेने पर पूजा समाप्त ! प्रत्येक संपन्न घर में शालिग्राम विराजित रहते। सवेरे लगभग एक प्रहर बाद गृहस्थों की मंगल-कामना और पुण्य संचय के लिए पुरोहित आते। पूजा करके सहस्रनाम का पाठ कर चले जाते। पुरोहितों के आस-पास रहकर पूजा का आयोजन कर देना बूढ़े-बूढ़ियों का कार्य था। संध्या समय आकर पुराण बांचनेवाले पुराण का पारायण कर जाते। माला हाथ में लेकर या फेरते हुए पुराण का श्रवण करना वृद्ध-वृद्धाओं के धर्मानुष्ठान का अंग माना जाता था। प्रत्येक व्रत-पालन और उपवास भी कर्तव्य की गिनती में आते थे। घर के पुरुष दैनिक कार्यों में लिप्त रहते तो गृहिणियां घर संभालती, बच्चे पढ़ाई में लगे रहते–धर्मानुष्ठान के लिए उनके पास समय कहां ? मैं अपने बचपन, यौवन और वर्तमान अवस्था तक देखता आया हूं। अब यह पौरोहित्य और पूजापाठ क्रमश: दस-बारह आना-भर समाप्त हो चुका है। आंशिक अंग्रेजी शिक्षा और पूर्ण रूप से लोगों की विपन्नता इसका कारण है। जहाजी कारोबार के समय पुरोहितों को विशेष लाभ और सम्मान मिलता था। जहाजों की समुद्रयात्रा के समय प्रत्येक महाजन के घर पर चंडीपाठ, शिवालय में सहस्रकुंभाभिषेक, विष्णुसहस्रनामस्तोत्र का पाठ, सत्यनारायण पूजा आदि के लिए तीन-चार पुरोहितों की आवश्यकता होती थी। बालेश्वर में इतने पुजारी कहां थे ? कटक और पुरी जिले के कई पुजारी-ब्राह्मणों की यजमानी और वार्षिक दक्षिणा निर्धारित थी। शीतकाल जहाजी कारोबार का समय था। वे पुरोहित उसी समय आते और पूजापाठ के पश्चात निर्धारित धन लेकर चले जाते थे। सभी की धारणा थी कि जहाज धर्म-नाव है। धर्मानुष्ठान के न होने पर जहाज डूब जाएगा। हाय, हाय, बालेश्वर में पता नहीं किस महापाप के कारण वे धर्म-नावें सदा-सदा के लिए डूब गईं !

हम बालेश्वर-वासियों ने बंगाली बाबुओं के संपर्क में आकर सभ्यता, साधुव्यवहार,

विद्या आदि विषयों पर शिक्षा पाई है। इसे मुक्त कंठ से स्वीकारने को बाध्य हैं। पर अशेष दुर्गुण के हेतुभूत मद्यपान की शिक्षा भी हमने उन्ही बंगाली बाबुओं से पाई, यह भी साहस के साथ कहने का तैयार हैं। मैं जिस सभ्यता या ज्ञान-संचार की बात कह रहा हूं, मद्यपान उस समय उसी सभ्यता का अंग-विशेष माना जाता था। उस समय बालेश्वर में छोटे-बड़े जितने बंगाली कर्मचारी थे, लगभग सभी मद्यप थे। केवल तीन-चार मदिरा-विरोधी स्कूल-शिक्षकों के नाम अब तक मुझे याद हैं। उस समय मद्यपान से अनभ्यस्त शिक्षित युवक तथाकथित सभ्य समाज में अवज्ञा का पात्र बन जाता था। मद्यत्यागी एक-आध शिक्षित युवक अपना मान-सम्मान बनाए रखने के लिए किंचित मद्य खरीद कर एक छोटी-सी शीशी में घर पर रख लेते और भद्र समाज में सम्मिलित होने के लिए चलते समय मूंछ पर थोड़ी-सी शराब मल लेते और नशे का बहाना करते।

पहले शराबियों से मैं विष के समान घृणा करता था। उस समय युवा गोष्ठी में फीस्ट या भोज मनोविनोद का विषय माना जाता था। भोज के लिए खाद्य सामग्री में मांस मुख्य था, मिष्ठान्न आदि अन्य सामग्रियां आनुसंगिक मात्र थीं। जिस भोज में भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग सम्मिलित होते वहां छिपे तौर पर मद्यपान चलता। पता नहीं किस लिए युवादल मेरा किंचित सम्मान करते थे और मुझ से डरते भी थे। मैं शराब नहीं लेता, फिर भी साहस कर कोई कुछ कह नहीं पाता था।

बालेश्वर के प्रमुख व्यापारी बाबू मदनमोहन दास के भाई बाबू किशोरीमोहन दास का एक सुंदर बगीचा था। वह उद्यान बालेश्वर के मोतीगंज बाजार के पूर्व में एक निर्जन स्थान पर था। हर शनिवार संध्या से लेकर रात के ग्यारह बजे तक वहां बंधु-मिलन होता। वहां ताश, शतरंज, शराब, वेश्या-नाच आदि मनोरंजन के किसी भी साधन का अभाव नहीं था। आमोद-प्रमोद के लिए खर्चे का प्रबंध एक धनवान पुरुष खुशी-खुशी करते थे। सदस्यों में से एक भद्र व्यक्ति के साथ मेरी विशेष बंधुता थी। एक रोज संध्या समय उन्होंने मुझे अपने घर बुलाया। पहले ताश खेली गई, उसके पश्चात मेज पर कई तरह की खाने की चीजें सजाई गईं। मेज के मध्य एक स्वच्छ बोतल में सुरादेवी या पिशाचिनी थी। पता नहीं क्यों मेरे मन में मदिरा के प्रति जो कुछ घृणा या विद्वेष था, वह अचानक चला गया। मैंने एक अभ्यासी की तरह बंधुओं के साथ सुरापान व भोजन किया। उसके पश्चात हर शनिवार को किशोरीमोहन बाबू के बगीचे से आमंत्रण आने लगा। मैं मद्यपान का अभ्यासी नहीं था। सिर्फ मौज-मस्ती में बंधुओं के समय कभी-कभार पी लेता था। वह सामयिक मद्यपान भी मेरे लिए स्वास्थ्य, संभ्रम और आंशिक रूप से अर्थ-नाश का कारण बन गया। अंत में उस सुरापान का विषवत् परित्याग न किया होता तो अपना कलंकित अति तुच्छ जीवनचरित लिखकर निर्लज्ज की तरह सभी को जताने के लिए मेरी सत्ता पृथ्वी पर विद्यमान न रहती।

21. ब्राह्म धर्म-ग्रहण

बचपन में मेरे मन में देवी-देवताओं के प्रति विशेष भय और भक्ति थी। हमारे घर से थोड़ी दूर एक पुराना बकुल का पेड़ था। उसी के नीचे ग्राम-देवी विराजित थीं। एक मिट्टी की गगरी के मुंह पर खोपड़ी की तरह बनाई गई मिट्टी की खोपड़ी रखी गई थी। वे ही 'बउल मंगला' कहलाती थीं। उनके सामने पाव से लेकर सेर-दो सेर वजन वाले आड़े-तिरछे आठ-दस पत्थर भी अनाम देवियों के रूप में विराजित थे। देवी-स्थान के पास ही पुजारी का घर था। देवियों के शरीर पर इतने सिंदूर का प्रलेप रहता था कि कुरेदा जाए तो लोंदे निकल आएं। देवियों के आस-पास विचित्र आकार के हाथी-घोड़ों की मिट्टी से बनी मूर्तियां थीं। वे मूर्तियां देवियों के वाहन थीं। देवियों को उन वाहनों पर चढ़ते हुए किसी ने नहीं देखा, परंतु पूजा के समय एक खास तिथि या पर्व के दिन पुजारी या ओझा 'कालिसी' (एक खास देवी) का प्रतिरूप बनता था। कालिसी को उन वाहनों में से दो-एक को कंधे पर उठाकर नाचते हुए हमने देखा है। हैजा या चेचक के समय गांव वालों से मिले चंदे के पैसे से देवी की पूजा होती। पूजा के साथ-साथ मनौतियां भी चढ़ाई जातीं। गांव में शादी-ब्याह के अवसर पर पहले ग्राम-देवी की नियमपूर्वक पूजा होती। पूजा के साथ 'कालिसी' देवी गांव की अच्छी-बुरी बातें बखानतीं। मैं सदैव उस देवी को प्रणाम कर आता। बीमार हुआ, या आपदा के समय मैं देवी पर सिंदूर चढ़ाने की मनौती कर आता। बाद में एक पैसे का सिंदूर लेकर 'माली देउरी' (पुजारी) को देने से वह 'ठकुरानी' (देवी) पर चढ़ा देता और दक्षिणा के रूप में एक पैसा ले लेता।

गांव के हमारे घर से थोड़ी दूर 'नंडा गोसाईं' मठ था। मठ के मंदिर में सिंहासन पर चैतन्य नित्यानंद की दो बड़ी-बड़ी मूर्तियां थीं। शायद काठ की। इसके अलावा पाषाण और पीतल की अनेक मूर्तियां भी विराजित थीं। उसी मंदिर के सामने बकुल के पेड़ तले एक मास्टर की पाठशाला थी। मैं उसी में पढ़ता था। जब पढ़ने जाता, ठाकुरों का दर्शन भी कर लेता। प्रणाम कर आता। उस समय मुझे लगा था कि 'बउल मंगला' से चैतन्य महाप्रभु बड़े हैं। तब से मुझ में ठकुरानी के प्रति भक्ति न रही। ठाकुर मां स्नान कर पूजा करतीं, संध्या के 'पापोऽहं पाप कर्मोहं' इत्यादि मंत्र पढ़कर नहा आता। नहाने के बाद उमा, कात्यायनी, गौरी इत्यादि दुर्गा और महादेव के जितने नाम शब्द-कोष में पढ़े थे, उन्हीं देवी-देवताओं के नाम दोहराया करता। ठाकुर मां को माला फेरते देख मेरी भी इच्छा हुई। तुलसी की एक माला कहां से पाऊं, मन-ही-मन ढूंढा करता। एक रोज सध्या के समय मोतीगंज बाजार से घर लौट रहा था। देखा कि मेरे सामने एक सुंदर तुलसी की माला पड़ी हुई थी। मानो मेरे लिए कोई उसे वहां रख गया था। मैं मन-ही-मन एक माला खोज रहा हूं, यह बात किसी से कही नहीं थी। प्रभु ने मेरा मन जानकर यह माला

दी है, ऐसा मानकर उसे ले आया।

"हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे
हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे॥"

ठाकुर मां यही मंत्र पढ़कर माला फेरा करती थीं। मैं भी उनकी भांति जाप करने लगा।

हमारे घर पर शालिग्राम थे। पुरोहित रोज आकर पूजा करके सहस्रनाम पढ़ जाते। समय-समय पर चंडी-पाठ भी होता। मेरे मंत्र-पाठ पर कोई-कोई हंसने लगते।

हमारे घर से आधा कोस दूर 'नूआ बाजार' के पास झाड़ेश्वर महादेव का मंदिर है। मेरी ताई उन महादेव की बड़ी भक्तिन थीं। बगीचे के पके केले, दूध, दही और गुड़–ये सब मिलकर पंचामृत बनते। इस पंचामृत का भोग लगाया जाता। ताई घर पर पंडा-ब्राह्मण बुलाकर उन्हीं से पंचामृत बनवाकर मंदिर भिजवातीं। महादेव का ब्राह्मण पंडा महादेव की महिमा बखानता। कहता, महादेव को भोग चढ़ाकर कोई वर मांगो तो अवश्य मिलेगा। बचपन में देखा था, महादेव की प्रबल महिमा थी। बीमारी से छुटकारा पाने के लिए लोग धरना देते। कचहरी के पास मंदिर है। मामला-मुकदमों में आए वादी-प्रतिवादी दोनों पक्ष आकर मनौतियां कर जाते। पहले पैरोकार-दलालों की ओर से भोग चढ़ाने के लिए काफी मिठाइयां आती थीं। अब काफी कम आती हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी तक 'नमक पोक्तान' के पहले झाड़ेश्वर महादेव की पूजा की व्यवस्था करते थे। पुजारी-पंडा कहता–'झाडेश्वर प्रत्यक्ष देवता हैं, पुकारो तो जवाब दें। पानी और दूध मिलाकर चढ़ाने से पानी बह जाता है और दूध वे पी लेते हैं।'

झाड़ेश्वर का दर्शन करने गया। बम्, बम्, बम् पुकार कर दूध-पानी चढ़ाने से ईषत 'भुड़-भुड़' शब्द सुनाई देता। उसी से मेरे हृदय में प्रगाढ़ भक्ति जागृत हुई थी। विश्वास करने लगा। सच है, पुकारने पर महादेव उत्तर देते हैं। दर्शन करने के लिए हर सोमवार के दिन जाता। कदाचित दूसरे दिन भी जाता। पुजारी लाकर पादोदक अर्थात चढ़ाया हुआ पानी और बेल-पत्र लाकर देता। मैं भक्तिपूर्वक उसका सेवन करता। कई दिनों तक ध्यान लगाकर देखा, दूध और पानी मिलाकर लिंग पर चढ़ाने से ठीक वही दूध मिला पानी बह जाता है। महादेव दूध पी लेते हैं और छनकर पानी बह जाता है, यह बात कहां ? मेरा मन नितांत दुर्बल है। उस पर बुद्धि और भक्ति भी काफी कम थी। महादेव के प्रति धीरे- धीरे मेरी भक्ति घटती गई।

उस समय बाइबिल तथा अन्यान्य पुस्तकों को पढ़कर और पादरियों के साथ वार्तालाप से जाना कि 'एक ही प्रभु परमेश्वर इस जगत के सृष्टिकर्ता हैं और प्रभु का पुत्र ईसामसीह आत्मा के त्राणकर्ता हैं। ईसामसीह का धर्म न स्वीकार करने पर मृत्यु के बाद अनंत नर्क में पड़ना होगा।' उस समय मन में यह भावना जागी कि जब ईश्वर ने सबकी सृष्टि की है तो उनकी उपासना करने से उद्धार करेंगे। ये सब देवी-देवता कौन होते हैं ? प्रत्येक गांव में गांव-देवता, मंदिरों में देवी-देवता, इतनों की पूजा कैसे करूं ? ये सब तो त्राण

नहीं कर पाएंगे ! पूजा करने पर भी क्या होगा ? राधानाथ बाबू (कविवर राधानाथ राय) से मैंने यह बात कही। इसके लिए कर्तव्य क्या है ? दोनों ने मिलकर इस पर काफी विचार किया। अंत में दोनों ने एक ही दिन ईसाई धर्म ग्रहण करने का निश्चय किया। एक दिन राधानाथ बाबू ने स्पष्ट रूप से कहा कि वे हिंदू धर्म का त्याग नहीं कर सकेंगे। मैं अकेला ईसाई बनने का साहस नहीं कर पाया !

अब और देवी-देवताओं के प्रति आस्था नहीं रही । मन में ईश्वर की चिंता ही करता था। पर ईश्वर की पूजा किस तरह होती है, मुझे पता नहीं था। उस समय कलकत्ता से एक ब्राह्म धर्म के प्रचारक बालेश्वर आए। नाम–ईशानचंद्र बसु। उनसे मुलाकात हुई। उनके साथ नित्य संध्या समय धर्म के संबंध में बातचीत होती। उसी समय बंकिम बाबू का 'दुर्गेशनंदिनी' उपन्यास निकला। वह बालेश्वर में आया नहीं था। ईशान बाबू वह उपन्यास पढ़ आए थे। उन्होंने उस उपन्याय की भाषा और विषय की बड़ी प्रशंसा की। साथ-साथ उन्होंने प्रमाणित कर देना चाहा कि बंगला भाषा अच्छी है और ओड़िआ भाषा अच्छी नहीं। एक-दो बार नहीं, अंत में वे तीन-चार दिन लगातार धर्म-चर्चा छोड़ भाषा-चर्चा करने लगे। मेरे मन में क्रोध होने लगा और उनसे मिलने नहीं गया।

उस घटना के काफी दिन बाद बालेश्वर के नमक महाल दफ्तर में प्रसन्नकुमार चटर्जी नाम के एक बंगदेशी बाबू आए। सुना, वे ब्राह्म हैं। उन से मिलकर ब्राह्म धर्म के संबध में बातें की। प्रसन्न बाबू का आवास झाड़ेश्वर मंदिर के आगे ही था। उनके आवास और मंदिर के बीच एक संकरी गली भर का व्यवधान था। हर इतवार की रात को उनके आवास पर ब्रह्मोपासना होती। उपासना के पश्चात सब उपासक मिलकर शराब पीते। उस समय कुछेक ब्राह्मों में मद्यपान उपासना का अंग बन गया था। बंगदेश में ऋषितुल्य प्रमुख व्यक्ति तक भी मद्यपान से नहीं बचे थे। पर अंत में उन्होंने भी उसका विषवत् त्याग किया था। उन्हीं व्यक्तियों के भारी प्रयत्न से युवकों में सुरापान काफी हद तक बंद हुआ था।

कुछ महीनों के बाद खुले रूप में एक स्वतंत्र ब्राह्म समाज की स्थापना करने का निश्चय हुआ। उपासक सदस्य थे–दामोदरप्रसाद दास, गोविंदप्रसाद दास, जयकृष्ण चौधुरी, भोलानाथ बाबू आदि। इनके अलावा बीच-बीच में कई दूसरे साथी भी आकर उपासना में शामिल होते। बालेश्वर के मोतीगंज बाजार के पश्चिम में मयूरभंज के महाराज की एक कोठी थी। शहर में उसका नाम था 'राजा कोठी'। (अब उस हवेली पर मयूरभंज का कोई अधिकार नहीं है। स्वर्गीय महाराज श्री रामचन्द्र भंनदेव ने इस हवेली को ब्राह्म समाज के लिए दान किया तो उस पुरानी हवेली को तोड़कर एक बृहत उपासना-मंदिर बनाया गया।) उस 'राजा कोठी' में सन् 1867 या 68 में शायद ग्रीष्मकाल में उपासना आरंभ हुई । तब तक बालेश्वर- निवासियों ने ब्राह्म धर्म का नाम तक नहीं सुना था। समाज-स्थापना की बात सुनकर शहर के सभी प्रमुख व्यक्ति चमत्कृत-से हुए। सवाल उठा – ब्राह्म धर्म क्या है ? कचहरी में सभा हुई। अनेक आंदोलनों के बाद ज्ञानी और बहुदर्शी

महानुभावों ने अर्थ लगाया—ब्राह्म धर्म का अर्थ यह है कि ठाकुर, देवताओं को पैर से ठुकरा देंगे। ब्राह्मण-वैष्णव को नहीं मानेंगे। उनकी कोई जात नहीं। ब्राह्म समाज का अर्थ है—एक बड़े पत्तल में भात जमा कर उस पर शराब ढालेंगे; ब्राह्मण, डोम, पठान छत्तीस जात के लोग इकट्ठे मिल कर खाएंगे। कचहरी में हलचल मच गई। निश्चय कर लिया गया—सब उसी चुप शैतान का काम है। कुल-मर्यादा सब तो मिट्टी में मिला चुका है, अब जात बिगाड़ने पर उतारू हो गया। पर बात सच है या झूठ, देखना चाहिए। हर रविवार संध्या के बाद 'राजा कोठी' में उपासना होती। राधानाथ बाबू के पिता श्री सुंदरनारायणजी तथा कुछ और लोग छुपकर देखने आए। उपासना के समय बाहर रहकर खिड़की की दरार में से झांककर उन्होंने देखा। दो-तीन बार उसी तरह देखकर उन्होंने कचहरी में कहा—नहीं, नहीं, भात-वात कुछ नहीं। चार-पांच आदमी बैठ गए। पहले उन्होंने गीत गाया। उसके बाद किताब पढ़ी और आंख मूदकर बैठ गए। अंत में फिर गाया और उठकर चल दिए। सारे गोलमाल का अंत हुआ, जैसे सोडा-बोतल का कार्क अचानक ऊपर उठा और गिर गया हो।

लगभग चार-पांच महीनों के बाद चंदा कर एक मकान बनाया गया, 'समाज' (गोष्ठी) के लिए। वह कच्चा मकान अब ढह गया है। बालेश्वर में ब्राह्म अल्पसंख्यक थे।

उस समय मैंने नारी जाति में परिवर्तन पर केंद्रित एक दीर्घ निबंध 'संवाद वाहिका' में लिखा था। सर्दी से बचाव और संभ्रम-रक्षा के लिए नारियों के परिधान में परिवर्तन की आवश्यकता है। यही था उस निबंध का प्रतिपाद्य विषय। उसमें लिखा था—'साड़ी के नीचे और कोई सिलाया गया कपड़ा हो तो उससे सौंदर्य-वृद्धि होगी और साथ-साथ सम्मान की रक्षा भी।' अब शिक्षित समाज की महिलाएं 'सेमिज' पहनती हैं। लेखक ने उसी तरह के किसी पहनावे का प्रस्ताव किया था। पर 'सेमिज' निर्माण-कला उसके मन में उदित नहीं हुई थी। निबंध पढ़कर साहब लोगों ने खुलकर लेखक की प्रशंसा की थी। इसे एक विद्रूपात्मक रचना मानकर कर्मचारी खूब हंसे थे। महिलाएं अंगा पहनेगी, इस तरह का असंगत और अद्भुत विषय उनमें हंसी का कारण बन गया था। बात हंसी-हंसी में उड़ गई। इस तरह के असंगत तथा अद्भुत प्रस्ताव के लिए लेखक पर किसी ने आक्रमण नहीं किया।

22. द्वितीय विवाह

ठाकुर मां की मृत्यु के बाद गृहवास मेरे लिए नितांत यंत्रणा-दायक बन गया। 'माता यत्र गृहे नास्ति भार्याचाप्रियवादिनी'। उस गृह से शांति की प्रत्याशा रखना विडंबना मात्र है। ताई हर महीने तनखाह के रुपये गिन लेतीं। अपने लिए एक भी रुपया खर्च कर दूं तो गर्जन-तर्जन करतीं। उनके साथ मेरा उसी एक दिन संपर्क होता था। मेरी तनखाह का बड़ा भाग उनके कनिष्ठ पुत्र की पोशाक और अलंकार तथा आमोद-प्रमोद पर खर्च होता। मेरे लिए भोजन आदि की व्यवस्था पर किसी का ध्यान नहीं रहता। शाम को उनके लड़कों के लिए घर पर जलपान बनता। मैं अपने लिए बाजार से खरीद कर ले आता। उसे भी कभी-कभी किसी-न-किसी बहाने वे ले जातीं तो उस दिन मेरा उपवास...। मैं सिर्फ सुबह घर से जो कुछ खाकर निकलता उसी से गुजार लेता। दिन तो काम में लगे रहने के कारण अनायास बीत जाता। संध्या समय छापेखाने का एक नौकर मेरे लिए दो रोटियां बना देता। वही दो सूखी रोटियां खाकर मैं घर आ जाता। अधिक परिश्रम और अनियमित आहार के कारण मैं दुर्बल होता गया। 'संवाद वाहिका' के अलावा और किसी प्रकार के लिखने-पढ़ने के लिए मुझ में शक्ति नहीं रही। सप्ताह में छह दिन कई तरह के कर्त्तव्य-कार्य-साधना में निकल जाते। शनिवार की रात्रि आमोद-प्रमोद के लिए निर्धारित थी। शनिवार संध्या से लेकर रात के ग्यारह बजे तक का समय वहीं बाबू किशोरीमोहन दास के बगीचे में बंधुओं के साथ आमोद-प्रमोद में बीत जाता। उस आमोद-प्रमोद का मतलब था ताश, शतरंज खेलना, तरह-तरह के भोजन, मद्यपान, कभी-कभार बाई का नाच ! कभी-कभी अत्यधिक मद्यपान के कारण एकाध व्यक्ति उन्मत्त हो जाता। शराबियों का स्वभाव है कि वे दूसरों से अधिक पीने का अनुरोध करते हैं। पर उनमें मैं बहुत ही सचेत रहता था। नशा चढ़ जाएगा, इस डर से अधिक मात्रा में मद्यपान नहीं करता, पर शारीरिक दुर्बलता के कारण थोड़ी-सी भी मेरे लिए अधिक बन जाती। चार घंटों के आमोद के मोह में पड़कर चार दिन तक यंत्रणा भोगनी पड़ती। मद्यपान के दूसरे दिन से जो अवसाद आता उसे मिटाने में चार-पांच दिन लग जाते। पर कुछेक बंधु मुझसे चार-पांच गुना अधिक पी लेते। उस पर अफीम की गोली निगलकर भी चुस्त-दुरुस्त बने रहते। उन शिथिल-चरित्र बंधुओं के साथ मिलना-जुलना और शनिवासरीय, नैश दोषाश्रित आमोद-प्रमोद उस समय मेरे लिए एक मात्र विनोद था। गार्हस्थ्य संपर्क को मैं यंत्रणा मानता था।

मेरी पत्नी बीमार पड़ गईं। धीरे-धीरे व्याधि-वृद्धि होकर साल भर बाद पता चला कि रोग लाइलाज और प्राण-लेवा है। उनकी उत्तम चिकित्सा और सेवा-सुश्रूषा के

लिए उनके माता-पिता उन्हें अपने साथ ले गए। उनके पिता के घर में ही उनका देहावसान हुआ। उस समय मैं पुरी क्षेत्र में था।

द्वितीय बार पत्नी ग्रहण न करने पर मेरे पिता का नाम विलुप्त हो जाएगा, उस पर पितृगण पिंड-प्राप्ति से निराश हो जाएंगे, इसी आशंका से मेरी एक हितैषिणी आत्मीया मुझे समझा-बुझाकर कन्या ढूंढ़ने में जुट गईं। कन्या निश्चित हो गई। नाम था कृष्णकुमारी देई। मोतीगंज बाजार के समीपवर्ती पाटणाजात ग्राम में उनका निवास था। मेरा विवाह हो गया। उस समय बालेश्वर के अभिजात और गण्यमान्य वर्ग में मेरे श्वसुर का परिवार भी गिना जाता था। अस्सी-नब्बे साल पहले बालेश्वर में ईस्ट इंडिया कंपनी की एक पलटन रहती थी। मेरे श्वसुर के पिता चौधुरी बलराम मल्ल उस पलटन के गुमाश्ता थे। मेरे श्वसुर शिवप्रसाद मल्ल चौधुरी फौजदारी के हेड-क्लर्क थे। शिवप्रसाद बाबू के पुत्र प्रसन्नकुमार मल्ल चौधुरी कस्टम में हेड क्लर्क थे। प्रसन्न बाबू के समय से उस वंश के पतन का सूत्रपात हुआ था। उनके परवर्ती शराबी, दुराचारी और अत्याचारियों के अपवित्र नामों का उल्लेख करने की इच्छा नहीं हो रही। कई तरह के मादक द्रव्यों का सेवन और दुश्चरित्रता के कारण उस वंश का सत्यानाश हो गया। कुल के नाम का उल्लेख करने के लिए एक भी व्यक्ति विद्यमान नहीं है। गृहोपकरण, खूब बड़ा घर, सुंदर आम्रकानन से युक्त उद्यान-भूमि दूसरों के हाथों में चले गए।

सभी प्रकार के सांसारिक दुख, दुर्दशा के मोचन और सुख-संपत्ति के वर्धन के लिए मानो दयामय परमेश्वर ने कृष्णकुमारी को मेरी भार्या के रूप में मेरे पास भेजा था। सत्यनिष्ठा, पतिपरायणगता, धार्मिकता--ये सभी सद्गुण उनमें पूर्ण रूप से विद्यमान थे। उनकी दृढ़ धारणा थी कि मेरी सेवा-सुश्रूषा करना, सब तरह से और सभी विषयों में मेरी आज्ञानुवर्त्तिनी होना ही उनका एक मात्र कर्त्तव्य और परम धर्म है। वे मेरी कैसी सेवाकारिणी थीं, शत-सहस्र घटनाओं में से यहां एक बताने की इच्छा रखता हूं। मेरे विवाह के थोड़े दिन पश्चात (उस समय मेरी पत्नी केवल मात्र तेरह वर्ष की थीं।) मैं ज्वर से पीड़ित शैयागत हो गया। मेरी पत्नी मेरे पैताने बैठकर मेरे शरीर को दबा रही थीं। रात को मुझे नींद नहीं आती थी। मैं देखता, वे बैठी-बैठी केवल मेरे पैर दबाती जा रही हैं। मैं उन्हें सो जाने को कहता, वह 'हां' तो कह देतीं, पर सोतीं नहीं। मैं किंचित नाराज हो जाऊं तो वहीं पैताने सो जातीं और मेरी आंख थोड़ी-सी लग जाए तो फिर उठ बैठतीं और शरीर दबाने लग जातीं। उनकी इच्छा मुझे किसी भी तरह अधिक आराम पहुंचाने की थी। ठीक तीन दिन और तीन रातों के बाद हमारी गांव की किसी आत्मीया ने आकर टोका–'बहू, तू तीन दिन से एक ही जगह बैठी है। उठी नहीं। दातुन तक नहीं किया, मर जाएगी।' बात करने की शक्ति मुझमें नहीं थी। सिर्फ देखा, वह इतनी क्षीण हो गई थीं कि मैंने पहचाना नहीं। नाराज नजर से जब उन्हें देखा तो हाथ जोड़कर कहने लगीं–'मैं अभी नहाने

जाती हूं। आप नाराज न हों। बीमारी बढ़ जाएगी।'

एक-दो बार नहीं, हर बार मैंने इसी तरह की सेवा पाई और मैं जब तक अच्छा न हो जाता तब तक वह उठती ही नहीं थीं।

धरती पर अब मेरे प्रति सहानुभूति प्रकट करने वाला कोई नहीं रहा। अब मेरा जीवन शून्य हो गया है।

23. नीलगिरि में दीवानी

नीलगिरि किले का दीवान पद खाली हुआ। बालेश्वर जिले के कलेक्टर जान बीम्स साहब के प्रस्ताव के अनुसार रजवाड़े के सुपरिंटेंडेंट साहब ने मुझे उस पद पर नियुक्त करके भेजा। नीलगिरि के राजा कृष्णचंद्र मर्दराज हरिचंदन ने मुझे आदरपूर्वक ग्रहण किया। राजा साहब राज-काज की कोई खबर नहीं लेते। मेरा कोई कार्य उन्हें अप्रीतिकर लगे तो भी वे मुंह खोलकर मुझे कुछ नहीं कहते। मेरे लिए शायद उनमें चक्षुलज्जा थी। मुझ पर किसी कारण से असंतुष्ट हुए भी हों, फिर भी जिस तरह प्रेम से और हास-परिहास से बात करते, उसमें उनके मन की बात समझ पाना मेरे लिए सहज नहीं होता।

साल भर तक तो आसानी से काम किया। नीलगिरि गढ़ से बालेश्वर की दूरी लगभग ग्यारह मील थी। बालेश्वर को आने-जाने के लिए दो सड़कें थीं। एक सड़क गढ़ की पूर्वी दिशा में चार मील आने पर शेरगढ़ सराय तक आती थी। वहां से बड़ी सड़क से बालेश्वर आना सहज होता था। दूसरी एक किंचित उत्तर की ओर, जिसमें खेत-खलिहानों से होकर ऊबड़-खाबड़ रास्ते से चलना पड़ता था। मैं हर शनिवार के दिन घर आ जाता। वर्षा के दिनों खेत, खलिहान और नालों में पानी भर जाता। घोड़ा या पालकी पर चलना भी संभव नहीं होता। मैं हाथी पर आता। नीलगिरि से शेरगढ़ तक की बड़ी सड़क तक के चार मील वर्षा के समय घूम-फिरकर सर्पिल गति से लगभग छह मील बन जाते थे। विचार किया, 'निजगढ़' (राजधानी) से ठीक पूर्वी दिशा में सीधी सड़क बनाकर बड़ी सड़क के साथ मिला देने से आने-जाने के लिए सुविधा हो जाएगी। सड़क बनाने का काम शुरू कर दिया। लगभग आधे मील की दूरी पर बीच में एक नाला पड़ा। वर्षा के समय गढ़ के समीपवर्ती सुनचोट पहाड़ पर से पानी बह आता था और रास्ते को बटोहियों के लिए अगम्य बना देता था। तीन-चार हाथ ऊंचा पानी बह जाता। उस नाले के पास वाली जगह भी निविड़ और कंटीले बांस के जंगल से भरी थी। पहाड़ वन के पास था जो भालुओं का आतंक-स्थल बना हुआ था। संध्या के बाद आना-जाना बंद हो जाता। बटोही उस रास्ते पर नहीं चलते। सूर्यास्त के बाद गांव के पास चरने के लिए भालुओं और शूकरों के दल पहाड़ पर से उतर आते। एक दिन ठीक सूर्यास्त के समय पहाड़ पर से भालू को उतरते मैंने खुद देखा था। बांस का जंगल कटवाकर साफ किया और नाले पर पुल बंध गया। गढ़ से पूर्व की ओर तीन मील की सड़क बनी। जमीन पथरीली और ऊंची-नीची थी और शाल पेड़ों की जड़ें उखाड़कर सड़क बनाने में तब काफी कठिनाई हुई थी।

नीलगिरि में हाट-बाजार कुछ भी नहीं था। खाद्य या दूसरी किसी चीज की जरूरत पड़ने पर किसी को बालेश्वर के मोतीगंज बाजार या उत्तर की ओर छह मील दूर रेमणा भेजना पड़ता था। दो-तीन विधवा स्त्रियां रेमणा साहजी बाजार से हफ्ते में दो-तीन बार

साग-सब्जी लाकर गढ़ में बेचा करती थीं। कदाचित कोई गढ़ में दुकान खोल बैठे तो कर्मचारी लोग और राजा के निजी लोग उधार ले लेते और बाद में पैसे नहीं देते। दूकानदार जमा-पूंजी खोकर चल देता। सभी को असुविधा होती। इसी अभाव को दूर करने के लिए मैंने गढ़ के सामने के 'शकर खुंटा' नामक तालाब के पूर्व तट पर स्थित अमराई में हाट लगवाया । नई रानी साहिबा के नामानुसार उस हाट का नाम निर्मलाहाट रखा गया। हफ्ते में दो दिन, मंगलवार और शनिवार को हाट लगता। चारों ओर से, लगभग चार-पांच कोस के भीतर रहने वाले लोग आकर वहां खरीद-बिक्री करने लगे। लगभग चालीस-पचास साल बीत चुके, अब भी नीलगिरि का बाजार कारोबार के लिए बालेश्वर और मयूरभंज में प्रख्यात है।

उस समय नीलगिरि में लिखने-पढ़ने पर कोई चर्चा ही नहीं चलती थी। राजा साहब के बारह-चौदह साल के दो लड़के[1] और बाबू साहब का चौदह साल का पुत्र – ये तीन लड़के कई आवारा लड़कों के साथ दिन-रात खेलकूद में लगे रहते। मैना पालना उनका एक आनंदमय शौक था। उन तीनों लड़कों की पढ़ाई के लिए मैंने बालेश्वर से एक शिक्षक लाकर नियुक्त कर दिया। मास्टर बाबू उन्हें अंग्रेजी पढ़ाने लगे।

नीलगिरि के भूतपूर्व राजाओं ने कई ब्राह्मण शासनों[2] की स्थापना की थी। उनके निर्वाह के लिए उपयुक्त करमुक्त भूमि की व्यवस्था की गई थी। अत: शासन-निवासी विप्रगण निश्चिंत मन से घूम रहे थे। उनमें विद्या-चर्चा का नामोनिशान नहीं था। सारे इलाके में एक भी संस्कृत का पंडित नहीं था। मैंने सरकारी खर्चे से निजगढ़ में एक संस्कृत विद्यालय आरंभ करवाया। गढ़ के निवासी ब्राह्मण लड़के वहां पढ़ने लगे। गढ़ (राजधानी) में रहकर पढ़ने में देहात के लड़कों को सुविधा नहीं हुई। हिसाब करके देखा, जितनी कर-मुक्त ब्रह्मोत्तर भूमि है, प्रति माण (एकड़ जैसा एक नाप) के लिए अगर केवल दो पैसे सालाना कर लगाया जाए तो देहातों में भी संस्कृत विद्यालय की स्थापना हो सकती है। देहातों में रहने वाले प्रशासनाधिकारी ब्राह्मणों को बुलाकर मैंने उन्हें अपना अभिप्राय समझाया। शिक्षा की उपकारिता, ब्राह्मण लड़कों के लिए संस्कृत शिक्षा की अनिवार्यता आदि के विषय पर उन्हें कई दिनों तक हरेक तरह से समझाया, पर ब्राह्मणों ने मेरी योजना के प्रति पूर्ण रूप से असहमति जताई । उन्होंने विद्या-शिक्षा की मर्यादा तो समझी नहीं, यह सोचने लगे कि भूमि पर कर लगाने का यह एक कौशल है। यह चंदा नहीं, मालगुजारी है। आज प्रति माण दो पैसे कह रहे हैं, कल एक रुपया कहेंगे। कई तरह से प्रयत्न करके और चालाकी से काम लेने की चेष्टा करके भी लाभ नहीं हुआ तो सोचने लगा, महामूर्ख को विद्या की उपकारिता समझाना विडंबना मात्र है। किंचित क्षमता का प्रयोग करके उनसे वसूल करना उचित होगा। ब्राह्मणों के नेता पर रकम तय करके उसके एक टट्टू को जब्त कर उसकी नीलामी से पैसा वूसला।

---

1. राजा निसंतान थे। संभव है, लेखक फूलबाई के लड़कों को बारह-चौदह साल के लड़के बता रहे हैं।
2. ब्राह्मणों को दान में मिले गांव।

अपने दुष्कर्म का प्रतिफल भोगते समय अविवेकी लोग भाग्य पर दोषारोपण करते हैं, यह सच है, पर साधारण व्यक्ति अज्ञताजनित अपने कार्य का फल भोगते समय अपने कर्मों के गुरुत्व को सहज ही अनुभव करते हैं। बल-प्रयोग द्वारा ब्राह्मणों को विद्या-शिक्षा देने की चेष्टा करना मेरे लिए नितांत अविवेचना का कार्य था, इसमें कोई संदेह नहीं। किसी तरह तो 'टोल' (विद्यालय) खुला नहीं, बल्कि सभी ब्राह्मण एक मन से मेरा सर्वनाश करने के लिए प्रत्यनशीन रहने लगे।

मुझे पता नहीं था कि मैं धीरे-धीरे राजा साहब का विराग-भाजन बनता जा रहा था। राजा साहब का मेरे प्रति समान रूप से मौखिक अनुग्रह इसका कारण है। मेरे प्रति राजा साहब की विरक्ति का कारण था – वे निसंतान थे। अपने भाई हरिहर भ्रमरवर के एकमात्र पुत्र को जन्म के समय पोष्यपुत्र के रूप में ग्रहण करने का निश्चय उन्होंने किया था। पर बाद में उनका मन बदल गया। उन्होंने अपने भतीजे को त्याग कर फूलबाई के बेटे को गोद लेने का निश्चय किया। इस कारण राज-भ्राता हरिहर भ्रमरवर राय के साथ उनका मनोमालिन्य पैदा हुआ। धीरे-धीरे विवाद ने भयंकर रूप धारण किया। राजा साहब छोटे भाई को कष्ट देने लगे। राजा के भय से नौकर-चाकर बाबू साहब को छोड़कर चले गए। राजा साहब ने बाबू साहब की आय के सभी रास्ते बंद कर दिए तो उन्हें अन्न-वस्त्र के लिए भी दारुण कष्ट भोगना पड़ा। बाबू साहब रजवाड़ों के सुपरिंटेंडेंट रेवेनशा साहब के पास बार-बार फरियाद करने लगे। साहब ने दोनों भाइयों में मेल-मिलाप कराने के लिए विशेष रूप से प्रयत्न किए, पर असफल हुए। इससे वे राजा साहब पर काफी नाराज हुए। साहब ने जो खोज-पड़ताल की उससे यह साबित हुआ कि दीवान दामोदरदास सभी विवादों की जड़ हैं। तब उन्हें पदच्युत करके उनकी जगह मुझे नियुक्त कर दिया गया।

राज-घराने में शांति-स्थापना की आंतरिक इच्छा थी मेरी। और इसी भ्रातृविवाद के कारण पूर्व-दीवान कार्यच्युत भी हुए थे। शांति स्थापित करके हाकिमों को संतुष्ट करना मेरा कर्तव्य था। विशेषतया राज-भ्राता हरिहर भ्रमरवर राय के साथ नीलगिरि जाने के पहले से मेरा विशेष सद्भाव था। इन्हीं कारणों से मैं विशेष अवसरों पर बाबू साहब की कोठी पर आता-जाता था। राजा साहब भी आकर बाबू साहब के यहां बैठा करते। दोनों भाइयों में प्रेम और श्रद्धा जागृत होते देख मैं अत्यंत आनंदित हुआ। पर मन में द्वेष प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है, बुद्धि की स्वल्पता के कारण मैं समझ नहीं सका। विवाद का मूल कारण था पोष्यपुत्र। फूलबाई के पुत्र को गद्दी पर बिठाने की बड़ी इच्छा थी राजा साहब की। इस बात का उन्होंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया था। यह विश्वास मुझ में भी था कि मेरे सहायता करने पर उनकी इच्छा पूरी हो सकेगी।

मैं प्राय: बाबू साहब की कोठी पर जाता। बाबू साहब भी मुझसे मिलने आते थे। इसी कारण राजा साहब दीर्घकाल तक मेरे आगे इच्छा प्रकट करने का साहस नहीं कर पाए। पर अधिक दिन तक चुप भी नहीं रह पाए। एक दिन मुझे एकांत में बुलाकर उन्होंने कहा – 'जिस तरह भी क्यों न हो, उमाकांत को उत्तराधिकारी बनाना होगा। तुम प्रयत्न

करो।'' (राजा साहब की बहन फूलबाई के पुत्र का नाम था उमाकांत।) मैंने सोचा, इस विषय पर वृथा प्रयत्न करने लगूं तो दोनो भाइयों में विलुप्तप्राय विवादग्नि फिर से प्रज्ज्वलित हो जाएगी। तब कार्य में सफलता पाना असंभव-सा हो जाएगा। राजा साहब को भी अंधेरे में रखना ठीक नहीं होगा। मैंने स्पष्ट रूप से कह दिया – "हुजूर, आप इस तरह की इच्छा का त्याग करें। रजवाड़ों के लिए जो कानून है उसी के अनुसार भ्रात-पुत्र के रहते फूलबाई का लड़का वारिस नहीं हो सकता।'' उस समय के राजा-महाराजा नियम-कानून समझते नहीं थे। धारणा थी कि वे राजेश्वर हैं, कुछ भी इच्छा करें, मनमानी कर सकते हैं। सरकार उनके राज्य में कौन होती है ? राजा साहब ने सोचा, मैं उनके शत्रु-पक्ष में हूं; मैं नीलगिरि में दीवान बन कर रहूं तो उनकी इच्छा पूरी नहीं हो पाएगी। मैं उनकी नजर में पूर्णरूप से विपक्षी बन गया। मेरे प्रति राजा साहब का और अधिक विश्वास नहीं रहा। पर मैं रजवाड़ों के सुपरिंटेंडेंट के द्वारा नियुक्त होकर आया था। मुझे कुछ कहने का अधिकार उन्हें नहीं था।

मेरी दीवानी के तीसरे साल के आरंभ से नीलगिरि प्रजा में एक भयानक विद्रोह हुआ।

नीलगिरि पर्वतमाला में एक पहाड़ का नाम है विष्णुपुर पहाड़। यह पर्वत-चोटी नीलगिरि गढ़ की दक्षिण दिशा में लगभग दो मील की दूरी पर है। उसी पर्वत के शिखर पर मर्मर पत्थर की दो खानें हैं। एक का नाम है "विष्णुपुर' और दूसरे का 'तालसजिआ'। एक वर्ग के लोग हैं जो 'पथुरिआ' नाम से परिचित हैं। ये लोग खान से पत्थर काटकर थाली, गिलास, कटोरी आदि तरह-तरह के बर्तन बनाते हैं। ये बर्तन बंग देश के निवासियों को प्रिय हैं। हर साल बंग देश को यहां से लगभग बीस-पच्चीस हजार मूल्य के बर्तन भेजे जाते थे। पथुरिए छेनी-हथौड़ी से पत्थर काटते थे। राजा को हर कारीगर से सालाना साढ़े छह रुपये की मालगुजारी मिलती थी। जो उन पथुरियों से मालगुजारी वसूलता था, उसकी पदवी थी 'महालदार'। नीलाम में जिसकी बोली अधिक होती, महालदारी उसे ही मिलती।

मेरी दीवानी के प्रथम वर्ष में कन्हाई मिश्र नाम के एक व्यक्ति ने सालाना चार हजार रुपये में पत्थर खान को ठेके पर लेने के लिए दरखास्त की। इससे पहले कभी भी ढाई हजार से ज्यादा नहीं होता था। मालगुजारी की रकम न बढ़ाकर किस तरह पथुरियों से अधिक पैसे वसूलेंगे, पूछे जाने पर उसने जवाब दिया–'कई लोग इकरारनामा नहीं करते और चोरी से पत्थर काटते हैं। उन्हीं लोगों से वसूल करके मालगुजारी अदा कर दूंगा।' राज-सरकार को अधिक फायदा होगा, इस प्रलोभन से मिश्र के साथ इकरार कर महालदारी का ठेका उसे दे दिया गया।

पर्वत पर ऊपर पड़े पत्थर काम में नहीं आते। गहरी खान से खोदकर भीतर से बर्तन बनाने लायक पत्थर निकाले जाते हैं। इन्हीं खानों में पत्थर की किस्म के अनुसार अलग-अलग जगहें होती हैं। सब अपनी-अपनी जगह से पत्थर निकालते हैं। यह सच है कि किसी एक के नाम से इकरारनामा होता, पर भाई-बेटे मिलकर चार-पांच आदमी पत्थर

काटते हैं। पिछले महालदारों के घर पत्थर महाल में थे। मोहल्ले के संगी-पड़ोसियों के प्रति शर्म-लिहाज से वह इस बात का विरोध नहीं करता या कुछ पैसे लेकर छोड़ देता।

कन्हाई मिश्र का घर उसी पत्थर महाल में था। उसे खान की स्थिति का सही पता था। अपने नाम से ठेका लेकर महालदारी मिलने के पश्चात उसने दूसरे लोगों को पत्थर काटने से मना कर दिया। सरकार से एक को पट्टा मिलता है और उसके घर पर भाई-बेटे मिलकर जितने होते हैं सभी मिलकर पत्थर काटते हैं। इसी तरह अनादिकाल से करते आ रहे थे, अब उन्हें बंद किया जाए तो भयानक क्षति होगी। और, क्या उसे वे आसानी से मान लेंगे ? वे उसी के कारण भयानक गोलमाल करने लगे। सभी ने मिलकर पत्थर काटना बंद कर दिया। कन्हाई मिश्र थोड़ा-सा साहसी और अत्याचारी था। उसने पथुरियों पर अत्याचार भी किया था। नीलगिरि इलाके की सभी प्रजा सरल और निरीह थी, पर पत्थर महाल की प्रजा बुद्धिमान, बदमाश और प्रताड़क थी। खड़गपुर में तीन हाट थे। उन हाटों में रोज काफी रुपयों के बर्तनों की खरीदारी होती थी। कई जगहों के व्यापारी आकर उन हाटों से बर्तन खरीदते। उन्हीं के संपर्क मे आकर वे लोग चालाक बन गए थे। पथुरियों की अच्छी कमाई थी। पर लगभग सभी थे अपव्ययी। अत: सभी दरिद्र और ऋणग्रस्त थे। पत्थर का कारोबार करने वाले साहूकारों से पत्थर देने के लिए इकरार कर पेशगी ले लेते और अदा नहीं करते। इसी तरह एक-एक पथुरिया चार-पांच साहूकारों का कर्जदार बना रहता था। यह बात उस समय प्रचलित थी–"पथुरियों की जाती, उधार मिले तो खरीदें हाथी।"

कन्हाई मिश्र के अत्याचारों का ब्योरा देकर उसे महालदारी से बरखास्त करने के लिए सभी ने मिलकर दरखास्त की। उस समय मिश्र को महालदारी से बरखास्त कर दिया होता तो आगे चलकर झंझट की कोई संभावना नहीं रहती। मैंने सोचा, कन्हाई मिश्र को बरखास्त कर देने से बढ़ी हुई मालगुजारी की वसूली रह जाएगी। उस पर राज-सरकार ने जिसे नियुक्त किया है, पथुरियों की प्रार्थना से उसे अगर बरखास्त कर दिया गया तो सरकार की इज्जत नहीं रहेगी। अत: पथुरियों की दरखास्त को मैंने ग्रहण नहीं किया।

तब प्रजा राज-सरकार के सभी हुक्मों की अवहेलना कर खुले रूप से विद्रोह करने लगी। राज्य के ब्राह्मण और कचहरी के कर्मचारियों ने प्रच्छन्न रूप से उनकी सहायता की। उसी से उनका साहस बढ़ा। पथुरियों में विश्वास था (जो सच भी है) कि मेरे द्वारा उसका पक्ष लिए जाने के कारण ही कन्हाई मिश्र को बरखास्त नहीं किया गया। उनके लिए मैं और कन्हाई मिश्र दोनों शत्रु बन बैठे थे।

प्रजा में चंदा वसूला जाने लगा। बीस-पच्चीस लोग खर्च के लिए पैसे लेकर सुपरिंटेंडेंट के इजलास में नालिश करने कटक पहुंचे। दीवान और महालदार के अत्याचार के कारण प्रजा त्रस्त है और काफी लोग घर-बार छोड़कर चले गए हैं, इसी तरह के और कई मिथ्या आरोप लगाकर, अत्याचारों का वर्णन करते हुए उन्होंने साहब के हुजूर में दरखास्त की तो खुद सुपरिंटेंडेंट रेवेनशा साहब फरियाद की जांच करने के लिए मौके पर पहुंचे। साहब

की सूक्ष्म जांच से दरखास्त में लिखे बयान झूठे साबित हुए। साहब ने फैसला सुनाया कि मालगुजारी में बढ़ोतरी ही विद्रोह का कारण है। गैरकानूनी काम जनता ने किया था जिससे उनके सरदारों में से कुछेकों को तीन-चार महीने की सजा हुई। महालदार कन्हाई मिश्र के अत्याचारों को रोक नहीं सका, आदि विषयों का उल्लेख कर साहब ने मेरा तिरस्कार किया था। राजा साहब तो पहले से मुझ पर नाराज थे ही, अब प्रजा-विद्रोह के कारण एक साल की मालगुजारी हाथ से चली गई। इन कारणों से राजा साहब मुझ पर अत्यंत क्रोधित हुए। पर उनमें स्वाभाविक चक्षुलज्जा थी जिससे मेरे साथ पूर्ववत् बर्ताव करते रहे। फिर भी कभी-कभार उनका मनोभाव प्रकट हो जाता था। मैंने अपने आत्म-संभ्रम की रक्षा के लिए नीलगिरि से चले जाने को निश्चय किया और नौकरी छोड़ दी।

नीलगिरि में शिक्षा के विस्तार, कृषि-वाणिज्य में उन्नति, यातायात के लिए सड़कों का निर्माण आदि कार्यों का आरंभ कर दिया था। नीलगिरि गढ़ से जगन्नाथ सड़क तक जो सीधी सड़क बनाने का कार्य आरंभ किया था, उसमें से सिर्फ तीन मील और बीच में एक पत्थर का पुल भर बन पाया था।

नीलगिरि के 'निजगढ़' (राजधानी) में एक संस्कृत विद्यालय का आरंभ किया गया था। पचास-साठ साल पहले वहां के निवासी गोभी, मटर आदि की खेती के बारे में नहीं जानते थे। टमाटर और आलू पौधे की जड़ हैं या फल, इसका पता उन्हें नहीं था। नीलगिरि में एक पुष्पोद्यान और गोभी की खेती करवाने में कामयाब हुआ था। एक शहतूत का बगीचा और रेशम की खेती का कार्य आरंभ कर दिया था। मेरे नीलगिरि छोड़ आने के पूर्व रेशम की एक जोड़ी धोती ही बुनी गई थी।

नीलगिरि में चाय उगाई जा सकती है या नहीं, उसकी परीक्षा करने के लिए पुस्तकें पढ़कर और असम में चायबागानों के बारे में जानकार व्यक्तियों से पूछकर मैंने एक पर्वत कंदर में चाय की खेती करवाई थी। मैंने जब नीलगिरि छोड़ा तब चाय के पौधे सिर्फ आठ-दस इंच के हुए थे।

अतः मुझे इस दिशा में सफलता देखने का सौभाग्य नहीं मिला। कुछ नारियल के पेड़ लगाए थे। बाद में सुना, उनमें काफी फल आए थे।

24. कटक-यात्रा

नीलगिरि से आकर मैं पूरी तरह से बेकार और अकेला पड़ गया। घर पर या परिवार भर में मेरी सहायता करने वाला हमदर्द और कोई नहीं था। वरन् मेरा दुख और दुर्दशा देख कुछेक आनंद पाते थे। केवल मेरी पंद्रह-वर्षीया पत्नी सुख-दुख की हर घड़ी में मेरी छाया की तरह बनी रही थीं। मैं दुख से कातर न हो पड़ूं इसके लिए वे सतर्क रहती थीं। उन्होंने मुझसे एक दिन कहा– "क्यों इस तरह परेशान हो रहे हैं ? मेरे पास जेवर हैं, उन्हें बेच दें। दो-तीन साल तक आराम से उसी से चलेगा। तब तक भगवान कोई-न-कोई उपाय जरूर करेंगे।"

अंत में काफी सोच-विचारकर निश्चय किया कि बालेश्वर में धनोपार्जन का कोई चारा ही नहीं है, अत: कटक जाना उचित होगा। उस समय मेरे परम हितैषी जान बीम्स साहब कटक के कलेक्टर थे। वे मेरे लिए कुछ-न-कुछ व्यवस्था कर देंगे, ऐसा दृढ़ विश्वास था। कटक जाने को पैसे चाहिए। मेरी पत्नी ने अपनी पेटी टटोलकर केवल चौदह रुपये कुछ आने और एक जयपुरी मोहर दी। मोहर गिरवी रखकर कुछ रुपये लाने के लिए अपने एक अत्यंत निकट बंधु के पास गया। बंधु धनवान और उपार्जनशील थे और मैं था बेकार। इससे मेरे लिए उनका प्रेम कम पड़ गया है; सहज बुद्धि से या बुद्धि की न्यूनता के कारण यह समझ नहीं पाया। रुपये की बात सुनते ही मुंझ पर बरस पड़े– "मेरे पास पैसा है, इसी से चले आते हैं।" उन्हें दुख होगा, इसलिए इसके बारे में मैंने पत्नी से कुछ भी नहीं बताया। हमारे पड़ोसी सरकारी वकील भूयां अबदुस शोभन खान साहब से मैंने मोहर गिरवी रखकर कुछ रुपये लिए । आश्चर्य की बात, तीन साल बाद मेरे वे अपमानकारी बंधु किसी फौजदारी मुकदमे में फंसकर जेल गए। वास्तव में वे निर्दोष थे। घटना के समय मद्यपान कर एक दुश्चरित्रा के घर पर थे। अत: वह भयानक दुर्योग आया था। उन्हें जेल से छुड़ाने के लिए मुझे दो महीने तक कड़ा परिश्रम करना पड़ा था और उस पर करीब सौ रुपये जेब से लगे थे। दयामय प्रभु उनकी परलोकगत आत्मा की सद्गति करें !

कटक जाऊंगा, वहां सभी मेरे अपरिचित हैं। रायबहादुर बाबू गौरीशंकर राय, नार्मल स्कूल के सुपरिंटेंडेंट बाबू द्वारकानाथ चक्रवर्ती के साथ मेरा पत्राचार भर था। रायबहादुर बाबू सुदामचंद्र नायक उस समय बालेश्वर में थे। उनके बड़े भैया रायबहादुर बाबू नारायणचंद्र नायक शहर के सर्वे-कार्य में नियुक्त थे। उन्हीं के नाम एक परिचय-पत्र सुदाम बाबू से लिखवाकर कटक जाने की तैयारी करने लगा।

अर्धरात्रि, धरती अंधकारमय ; मेरा मन और हृदय भी उसी तरह तिमिराच्छन्न था। घर में परिवार के सभी सोये थे। केवल मेरी पत्नी जाग रही थीं। मेरी पदस्थ अवस्था

में प्रवास-यात्रा के समय कई लोग विदा देने के लिए उपस्थित रहते। अब वे कहां हैं ?
"अवस्था पूज्यते राजन न शरीरं शरीरिणां ॥ "

घर से निकलकर पीछे मुड़कर देखा, एक विषादमयी बालिका-मूर्ति अंधकार में किवाड़ पकड़े मूर्तिवत खड़ी है। परस्पर संप्रीति और सहानुभूति ही विपदग्रस्त निराश हृदय मानव के लिए सांत्वना और धैर्यलाभ का प्रकृष्ट अवलंबन है। पहले की गई व्यवस्था के अनुसार पालकी आकर द्वार पर खड़ी थी। मैं कटक की ओर रवाना हो गया। उस समय मेरा ज्येष्ठ दामाद बाबू रघुनाथप्रसाद चौधुरी कटक में रहकर एफ.ए. पढ़ रहा था। चांदनी चौक में उसका डेरा था। मैं जाकर वहीं ठहर गया।

कटक के कोर्ट आफ वार्ड्स दफ्तर में आडिटर का पद खाली हुआ। महीने में सत्तर रुपये तनखाह थी। कलेक्टर जान बीम्स साहब ने मुझे उस पद पर नियुक्त करने का हुक्म कर दिया। पता लगाकर जाना कि कटक जिले भर में नाबालिग जमींदारी के महाल छाए हुए हैं। सभी महालों में जाकर देहात की सभी तहसीलों में हिसाब की जांच करनी होगी। एक पालकी के लिए आठ आदमी और एक रसोइया रखना निहायत जरूरी है। उनके वेतन और खुराक के लिए हर महीने साठ रुपये चाहिए। अत: सत्तर रुपये में किसी भी भलेमानस के लिए गुजर-बसर करना संभव नहीं है। जब बीम्स साहब को बताया तो उन्होंने मेरी बात को तर्कसंगत मान महीने में सत्तर की जगह पचानवे रुपये की सिफारिश कर बोर्ड को रपट लिख भेजी। अत: मुझे आदेश की प्रतीक्षा में बैठे रहना पड़ा।

25. डोमपड़ा में दीवानी

कटक में बाबू नारायणचंद्र नायक मेरे प्रिय बंधु, प्रमुख सहायक और सलाहकार थे। कचहरी से लौटते समय वे मेरे पास आते या मैं उनसे मिलने जाता। दोनों मिलकर रात के दस बजे तक एक साथ घूमते। छोटे-बड़े कई बाबुओं के घर बैठक होती। ताश, शतरंज, मद्यपान और भोज आदि होता। उस समय क्या बंगाली क्या ओड़िआ, सभी सभ्य बाबू लोग सुरासेवी थे। कटक के सर्वप्रथम वकील थे परशुराम लाला, श्रीराम बोस और ईषानचंद्र बानुर्या। प्रथम दो वंश विलुप्त हो गए हैं। ईषान बाबू के बेटे बाबू कालीपद एक शिक्षित, उत्साही और आमोदप्रिय व्यक्ति थे। संध्या के बाद उनके बैठकखाने में कई लोग सम्मिलित होते। मैं और नारायण बाबू भी वहां शामिल हो जाते। रात के दस बजे तक का समय ताश, शतरंज, गपशप और आमोद-प्रमोद में बीत जाता। उनके यहां प्राय: हर रोज भोज होता। नारायण बाबू साथ रहते, अत: हंसी-खुशी समय बीतता था। पर मैं बोर्ड के हुक्म की प्रतीक्षा में बैठा था। आज-कल होते-होते लगभग डेढ़ महीना गुजर चुका था। मेरे पास जो पैसे थे वह भी खत्म होने लगे। एक दिन सुबह रसोइये ने बताया कि रात के लिए और कुछ भी नहीं है। क्या करूं, मेरे लिए कोई उपाय ही नहीं था। मेरा जो हो, डेरे पर जो लड़का है वह भूखा रह जाएगा। अत: मेरा मन नहीं लगा वहां। चार बजे के बाद कलेक्टरी कचहरी की पूर्वी ओर काठजोड़ी पत्थर-बांध पर चुपचाप बैठा रहा और उदास आंखों से नदी की ओर देखता रहा। पीछे से किसी ने पुकारा– "अरे हो, फकीरमोहन बाबू, यहां अकेले बैठे-बैठे क्या कर रहे हो !" मुड़कर देखा, नार्मल स्कूल के सुपरिंटेंडेंट बाबू द्वारकानाथ चक्रवर्ती थे। द्वारी बाबू को मैं चाचा मानता था। उनका सम्मान करता था। उन्होंने कहा– "आओ, आज तुम्हारा हिसाब कर देंगे।" तब मेरे मन में दारुण भावनाएं थीं। हिसाब क्यों भला लगता ? मैंने हाथ जोड़ते हुए कहा– "आज के लिए क्षमा चाहता हूं। आज नहीं चल सकूंगा।" पर उन्होंने जिद पकड़ ली– "नहीं, नहीं, चलना ही होगा।" मैंने हाथ जोड़ लिए, पर वे मेरी बांह जोर से पकड़कर खींचते हुए अपने नार्मल स्कूल वाले आवास में ले गए। मैं बरामदे में कुर्सी डाले बैठा था कि द्वारी बाबू ने अंदर से अट्ठाईस रुपये कुछ आने (सही याद नहीं है) लाकर मेरे हाथों में थमाते हुए कहा– "मुझ पर तुम्हारे अड़तालीस रुपये बाकी थे। तुमने एक बंदूक ली थी, उसकी कीमत बीस रुपये काटकर बाकी अट्ठाईस रुपये कुछ आने रख लो।" चार साल पहले उन्होंने मुझसे 'भारत इतिहास' की कुछ प्रतियां ली थीं। उसी हिसाब के अड़तालीस रुपये मुझे मिलने थे। यह बात मुझे याद ही नहीं थी। कुछ रुपये हाथ लग जाने से बड़े आराम से दिन बीतने लगे। उस समय की हालत के प्रति सजग रहकर खर्च किया होता तो कुछ दिन अधिक निकल जाते। पर मैं हमेशा का

अपरिणामदर्शी हूं। रुपये-पैसे के विषय में सावधानी बरतना मेरी भाग्यलिपि में नहीं। बड़ा अर्थाभाव होने लगा। अब कई अमीरों के साथ दोस्ती हो चुकी थी। उधार मांगू तो पैसे मिल सकते थे, पर इच्छा नहीं हुई। अभाव की बात बंधु नारायण बाबू तक से नहीं कही। सोचा, वह सुनेंगे तो अपने आप अवश्य ही रुपये थमा जाएंगे। पर चुकाने का कोई उपाय तो नहीं है। वैसे उनके पास भी अधिक पैसे नहीं थे, पर वह सदा उच्चाभिलाषी और ऊंचे दिल वाले थे। चाल-चलन में बड़प्पन था। नवाबों जैसे खर्चीले थे। सदा आमोद-प्रमोद में उन्मत्त रहते। उनके पास एक सुंदर टट्टू था। मेरा भी एक कठियावाड़ी घोड़ा था। जब आर्थिक दशा ठीक हो गई तो मैंने उसे बालेश्वर से कटक मंगवा लिया था। दोनों घोड़े पर सवार हो सुबह-शाम घूमने जाया करते थे। फलत: वह मेरे एक मात्र हृदय-बंधु थे। जान बीम्स साहब हम दोनों बंधुओं और कविवर राधानाथ – सभी की उन्नति के मूल कारण थे। एकमात्र भरोसा, अवलंबनस्वरूप कलेक्टर साहब से मिला। मिलते ही साहब महोदय ने मुझसे कहा–"यही बात तो मैं भी सोच रहा हूं कि आप कब तक बोर्ड की चिट्ठी के इंतजार में निरर्थक बैठे रहेंगे ?" मैंने कहा–"हां हुजूर, व्यर्थ बैठे रहना मेरे लिए कष्टप्रद होने लगा है।" साहब ने कहा–"सही बात है, निकम्मा बन बैठे रहना बीमारी से बढ़कर भयानक कष्टदायक है।" कहकर वे मौन हो गए और देर तक सोचते रहे और अंत में कहा–"अच्छा, हम चाहते हैं कि फिलहाल आप डोमपड़ा के दीवान बन कर जाएं। आपकी क्या राय है ?" (मन-ही-मन हंसा। मेरी क्या राय हो सकती थी ? प्रार्थना के पूर्व वर-प्राप्ति। पगला रे, भात खाएगा ? पूछने पर झट से कहना ही होगा–हाथ कहां धोऊं ?) तत्काल कहा–"हां हुजूर, कहीं भी भेजें, मैं जाने को तैयार हूं।" साहब ने कहा–"तब चलिए, वहां पहुंचकर तीन महीने तक चुपचाप बैठें। कुछ करना-धरना नहीं है। आप वहां कुछ कर भी नहीं सकेंगे। पांच साल से राजा-प्रजा में झगड़ा चल रहा है। कई तरह के झमेलों की खबर आ रही है। आपको सिर्फ यह देखना है कि झगड़ा बढ़ने न पाए। लगभग यही आपका काम है। गवर्नमेंट से मुहरबंद चिट्ठी आई है, जैसे भी हो इसी साल उस झगड़े का कोई फैसला हो जाना चाहिए। एक बात और–वह राजा पगला है। हो सकता है, तनखाह देने में भी झंझट करे। कल चिट्ठी लिखकर तीन महीने की तनखाह पेशगी ले आऊंगा। वही रुपये लेकर आप डोमपड़ा के लिए रवाना हो जाएं। जगमोहन बाबू से कह दूंगा कि जहां तक हो सके जल्दी लाकर आपको पैसे दें।" उस समय बाबू जगमोहन राय कटक जिले के प्रमुख डिप्टी-कलेक्टर थे। डोमपड़ा से संबंधित प्रसंगों का वर्णन करने में सुविधा हो, इसलिए यहां उस झगड़े का संक्षिप्त विवरण दे देना उचित होगा।

डोमपड़ा के भूतपूर्व राजा पुरुषोत्तम मानसिंह भ्रमरवर राय निसंतान थे। उनकी परलोक-यात्रा के पश्चात गवर्नमेंट ने उनके कुटुंबीय भाई के पुत्र राजा रघुनाथ मानसिंह भ्रमरवर राय को सही उत्तराधिकारी घोषित किया। उस समय वे नाबालिग थे। उनके एक छोटे भाई भी थे। गवर्नमेंट उन दोनों नाबालिगों को शिक्षित कराने के लिए कलकत्ता

ले गई। उस समय नाबालिग राजपुत्रों की पढ़ाई के लिए कलकत्ता में एक विद्यालय था। प्रख्यात राजेंद्रपाल मित्र उसके संरक्षक थे।

बालिग होकर राजासाहब को राजगद्दी प्राप्त हुई। उन्होंने राज-काज संभाला। कोर्ट आफ वार्ड्स के समय मैनेजर ने बहुत ही कम मालगुजारी लेकर जमीन का बंदोबस्त कर दिया था। इससे कई सालों से आबाद जमीनों को प्रजा बगैर मालगुजारी के दखल कर रही थी। राजासाहब की इच्छा थी, इलाके भर में माप-जोख द्वारा चौहद्दी तय करके तदनुसार कर लगाएं। पर, प्रजा चाहती थी कि पिछली दर से ऊपर एक कानी कौड़ी ज्यादा नहीं देगी। इसी कारण राजा-प्रजा में विवाद छिड़ गया था। प्रजा एक होकर आंदोलन करने लगी, राजा के भूतपूर्व दीवान निधि पटनायक उसमें सरदार बने। पटनायकजी सीधे-सादे आदमी थे और विद्या-बुद्धि में रामचंद्र दूत के वंशज थे। बगावती दरबार से खुल्लम-खुल्ला हुक्म जारी हुआ कि कोई भी राजा को मालगुजारी नहीं देगा। राजा के महल को कोई नहीं जायेगा। नाई-धोबी बंद (हुक्का-पानी बंद)। शांत-शिष्ट प्रजा की बगावत में शामिल न होने के कारण सरदारों ने उनका सर्वस्व लुटवाया। उन्हें बेरहमी से मरवाया। नौकर-चाकर महल छोड़कर चले गए। महल के अंदर रहने वालों के लिए कपड़े कटक से धुलकर आने लगे। गढ़ से कटक की दूरी बीस मील है। दोनों तरफ से फौजदारी के मुकदमे कटक के मैजिस्ट्रेट के इजलास में पेश होने लगे। मैजिस्ट्रेट साहब ने राजासाहब को आदेश दिया–"आप किसी भी तरह प्रजा को मना लें। बाद में धीरे-धीरे देखेंगे।" राजासाहब माने नहीं तो मैजिस्ट्रेट साहब काफी नाराज हुए। राजासाहब और कलेक्टर के बीच इसी कारण मन-मुटाव हुआ तो प्रजा का भी साहस बढ़ गया। इस बीच दीवान निधि पटनायक बार-बार कलेक्टर साहब से मिल चुके थे और उन्हें समझाते आ रहे थे कि राजा पागल और अत्याचारी है। राजासाहब की स्थिति धीरे-धीरे शोचनीय होती जा रही थी। मालगुजारी की एक पाई वसूल नहीं होती थी। अब उनमें भी डर पैदा होने लगा था कि कहीं किसी बहाने से कलेक्टर साहब उन्हें जेल न भिजवा दें। कलकत्ता और कटक इन्हीं दो जगहों में वे लुक-छिपकर रहने लगे थे। अपने खर्च और मुकदमे के खर्च के लिए कर्ज भी बढ़ता जा रहा था। उधर महल की अवस्था भी दिन-ब-दिन शोचनीय होती जा रही थी। महल के अंदर बंद, बाह्य जगत से संपर्कशून्य होकर अन्न-वस्त्राभाव का कष्ट असह्य हुआ तो राजमाता और राजभ्राता ने खुराक-पोशाक के लिए मैजिस्ट्रेट के पास नालिश की। कलेक्टर साहब ने कहा–सच है, राजा सिर्फ पागल ही नहीं निष्ठुर भी है। नौकरों-चाकरों के विश्वासघात, माता और भाई की नालिश के कारण दिन-ब-दिन कर्ज बढ़ता गया। तब राजासाहब हताश हो गए। संसार भर के प्रति अविश्वास–हो सकता है, कोई भात ही में विष दे दे। इसी भय से वे अन्नाहार त्याग कर केवल लाई और दूध खाकर जीवन की रक्षा भर कर रहे थे।

कटक में जब मुझसे पहली बार मिले तो देखा कि वे अस्थि-पिंजर भर रह गए थे।

नियत दुर्भावनाओं के कारण मन और शरीर जल-भुन चुका था। कटक में चांदनी चौक वाले उनके दुमंजिले मकान के बैठकखाने में हम दोनों दो कुर्सियों पर बैठे थे। दोनों के बीच सिर्फ एक मेज भर का अंतर था। राजासाहब मुझे तीक्ष्ण दृष्टि से देख रहे थे। मेरे प्रति उनके भावी बर्ताव से समझा, उस समय वे सोच रहे थे कि यह आफत कहां से आ टपकी ? यह जरूर कलेक्टर साहब का कोई जासूस है। जरूर हमें पकड़वाने आया है। तब राजासाहब की शोचनीय अवस्था देख कर मेरे मन में दारुण कष्ट हुआ। सोचने लगा, इस विपदग्रस्त राजा का कोई उपकार कर सकूं तो अपना आगमन सफल हुआ मानूंगा।

राजासाहब ने मेरी तीन महीने की तनखाह पेशगी के रूप में दे दी थी। मैंने जगमोहन बाबू से रुपये ले लिए। राजासाहब के छोटे भाई मुझे गढ़ (राजधानी) में पहुंचाने के लिए तैयार हो गए। जुलाई या अगस्त का महीना था शायद, बाढ़ के लिए काठजोड़ी में पानी दोनों तटों से छलक रहा था। हम दोनों दो पालकियों में गढ़ के लिए रवाना हो गए। शाम तक पहुंचे। राजमहल कहां ? चारों ओर से जंगली पेड़-पौधों से घिरा। कई टूटे-फूटे मकान और इधर-उधर विक्षिप्त कई कच्चे घरों के मलबे !

राजमहल से मेरे लायक राशन सुबह-सुबह आ जाता था। मेरे डेरे के सामने एक काफी बड़ा आम का पेड़ था। उसके नीचे चटाई बिछाकर चुपचाप बैठा रहता। निधि पटनायक आदि पुराने कर्मचारियों और गांव के मुखियों को (जो अब बगावत के सरदार थे) बुलाकर इलाके की स्थिति के बारे में जानकारी लेता था। गढ़ में मेरे पहुंचने के बाद से अब तक कोई खास झमेला नहीं हुआ था। मैं सरकार की ओर से आया था, इसलिए सरदारों में भी काफी हद तक शांति आ गई थी।

पांच सालों से मालगुजारी वसूली नहीं गई थी। उसके लिए सरदारों को तलब किया तो वे सिर्फ एक साल की देने को राजी हो गए और मुझे समझाने लगे–"आप ही सोचें दीवान बाबू कि आपके पास एक दुधारु गाय है। पांच दिन के लिए उसे दुहेंगे नहीं और एक दिन दुहने लग जाएंगे तो क्या पांच दिन का दूध मिलेगा आपको ?" अलग-अलग पूछकर देखा, सभी सरदारों के जवाब लगभग एक-से थे।

अब मेरा कार्य-क्षेत्र संकटपूर्ण था। कुछ भी करने की हिम्मत नहीं हो रही थी। राजा और प्रजा दोनों का मेरे प्रति अविश्वास था। उधर से कोई काम न करके सिर्फ इलाके को संभालकर रखने भर का आदेश था कलेक्टर साहब का। मैं बीच-बीच में कटक जाकर राजासाहब से मुलाकात कर आता। कई विषयों पर सुझाव देता, अनुमति चाहता। उनसे सिर्फ हां या ना में उत्तर पाता। लेकिन वह भी सहज लभ्य नहीं था। राजासाहब काफी सोच-विचार के पश्चात एक उत्तर देते। प्रत्येक विषय पर मेरे प्रति उनका अविश्वास था।

दिसंबर के अंत में साहब महोदय कटक से डोमपड़ा के दौरे पर निकले। पहला पड़ाव पड़ा कटक-बाआंरा सरहद के बाआंरा गांव में। साहब के साथ थे बीस कांस्टेबल, डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेंडेंट साहब, एक एडीशनल मैजिस्ट्रेट, पेशकार, मुंशी, कर्मचारी और चपरासी आदि

लगभग सौ से अधिक आदमी। पहले से तलबाना पाकर मैंने सारी व्यवस्था कर रखी थी। डोमपड़ा में कोई चीज मिलती नहीं थी। सरकारी लोगों के लिए किसी भी चीज में कमी न रहने पाए, उसी की निगरानी करना ही मेरे लिए तब कर्त्तव्य बन गया था।

"धन कार्पण्य सेवा फले
किंवा असाध्य मही तले।"
(धन, कार्पण्य और सेवा से इस धरती पर कुछ असाध्य नहीं है।)

राजासाहब भी बाआंरा गांव में उपस्थित थे। पर न वे कुछ समझते थे, न सुनते थे। मानो यह काम उनका नहीं, मेरा था। उन्हें कुछ करना-धरना नहीं था। साहब के कुत्ते से लेकर सिरश्तादार तक के लिए रसोई का इंतजाम करना होगा। उस पर मूलतः मुकदमे के बारे में सोचना भी होगा। दिन-रात काम-ही-काम, सहायता देने वाला कोई नहीं था। हाकिमों के रंग-ढंग देख मेरा हृदय कांपने लगता था। गवर्नमेंट की ओर से कड़ी ताकीद थी कि किसी तरह डोमपड़ा का फैसला करना ही होगा। अब समस्या सामने आई। हो सकता है, राजा की अयोग्यता के कारण सरकार उसे अपने खास दखल में ले ले, क्योंकि राजासाहब मैजिस्ट्रेट की न सुनें तो उनके विरुद्ध रिपोर्ट होना एक तरह से निश्चित था। आत्मपक्ष का समर्थन करने के लिए कोई भी नहीं था। उस पर मेरे प्रति उनके मन में गहरा संदेह था। राजासाहब छिपकर एक प्रजा-जन की कुटिया में चुपचाप बैठे थे। मैंने उन्हें कई तरह से उदाहरणों के जरिए समझाने की कोशिश की, विनय से हाथ जोड़कर प्रार्थना की, डराया, अंत में असह्य हुआ तो तिरस्कार किया। फिर भी वही बात, "मालगुजारी बढ़ाकर बंदोबस्त जरूर होगा।" मैंने उन्हें स्पष्ट रूप से कह दिया, "आप राय नहीं बदलते हैं तो सरकार इलाके को खास महाल घोषित कर देगी।" राजासाहब ने अविचलित और दृढ़ स्वर में जवाब दिया–"हो जाने दो।" राजासाहब की बातें निहायत कम और संक्षिप्त होती थीं। राजासाहब इन तीन शब्दों का उच्चारण कर दृढ़ दृष्टि से मेरी ओर ताकने लगे। मैं समझ गया उनका अभिप्राय था, अगर मेरी बात ही नहीं रही तो प्रजा के कारण मेरी पराजय हुई। तब राज्य की क्या आवश्यकता ? हम दोनों एक-दूसरे को देखते हुए बैठे रहे। पल भर के लिए मैंने मन-ही-मन उनकी प्रशंसा की। क्षत्रिय इसे कहते हैं। पर दूसरे क्षण मन में उनके प्रति विरक्ति जागी। सोचा, यह उनका निरर्थक साहस ही है। उसके बाद उन्हें साहब से मिलने का अनुरोध किया। राजासाहब ने किंचित ऊंचे स्वर में जवाब दिया, "ना।" मैंने 'ना' शब्द का सही अर्थ समझ लिया–मुकदमा चल रहा है न्याय के लिए, मैं क्यों जाऊं खुशामद करने ?

पूस का महीना। साहब लोगों के बाआंरा गांव में पहुंचते ही बेमौसम की वर्षा और साथ-साथ तूफानी हवा अविराम चलने लगी थी। सब अपनी-अपनी जगह चुपचाप बैठे रहे। मैं अकेला पानी-कीचड़ में इधर-उधर दौड़-धूप कर रहा था। शाम के समय कलेक्टर साहब से मिलने गया। दूसरे प्रसंगों के उपरांत डोमपड़ा की बगावत के बारे में बात छिड़ी।

उस समय साहब को मैंने जो सूचना दी वह संक्षेप में इस प्रकार है– 'मैंने लगभग चार महीनों से डोमपडा गढ़ में रह कर अंदरूनी मामलों की बारीकी से छान-बीन की है। बीस साल पहले यहां बंदोबस्त का काम शुरू हुआ था। इस बीच कई खाली पड़ी जमीनें आबाद हो गई हैं। पहले काफी कम मालगुजारी लगाकर बंदोबस्त हुआ था। राजासाहब चाहते थे कि नए सिरे से बंदोबस्त हो, जमीन की माप-जोख के लिए लागू कानून के मुताबिक चौहद्दी की जांच, अर्थात जैसे तिगरिया, खासमहाल बांकी, खोर्धा, मोगलबंदी, नराज आदि इलाके में हुई है उसी तरह हो और उसी के मुताबिक लगान नियत हो। पर राजासाहब का एक साथ पूरा लगान लगाने का विचार नहीं है। सिर्फ प्रति माण (बीघा-एकड़ जैसा माप) दो पैसे अधिक लगाने की सोच रहे हैं। हुजूर के हुक्म के मुताबिक उन्होंने बंदोबस्त करवाया था, पर मुखियों ने जमीन नापने नहीं दी। अब जो झगड़ा चल रहा है वह राजा-प्रजा के बीच का विवाद नहीं है, सिर्फ मुखियों और पुराने कर्मचारियों की चाल है। हाल में आबाद हुई जमीनों को प्रजा बिना लगान के दखल नहीं कर रही। उनसे लगान वसूल करके मुखिये और पुराने कर्मचारी खुद हड़प रहे हैं।

'इस झगड़े के कारण इस बार राजा और प्रजा दोनों पक्षों के लिए दारुण कष्ट का समय उपस्थित हुआ है। मैंने देखा कि प्रशिक्षित राजासाहब किसी के प्रति बैर-विरोध का भाव नहीं रखते। पांच सालों से प्रजा लगान नहीं दे रही। पर राजासाहब कर्ज करके मालगुजारी दाखिल कर रहे हैं। राजासाहब का अर्थाभाव अब ऐसा है कि सिर्फ राजा को ही नहीं राजमाता, राज-भ्राता और महल के दास-दासियों को भी अन्न-वस्त्र के लिए कष्ट झेलना पड़ रहा है। अब अगर हुजूर प्रति माण दो पैसे अधिक लगान से बंदोबस्त करने का हुक्म कर दें तो सारा झगड़ा निबट जाएगा। प्रजा भी बंदोबस्त के लिए रजामंदी दे देगी।'

साहब ने मेरी सारी बातें शांत मन से सुनीं। अंत में उन्होंने कहा–"बाबू, बंदोबस्त के बारे में आपने जो कुछ कहा वह सब ठीक है। किसी भी तरह बंदोबस्त का काम इस साल कर देंगे, पर लगान अधिक नहीं लगाएंगे। हम प्रजा से कह चुके हैं कि लगान नहीं बढ़ाएंगे।"

जान बीम्स साहब एक असाधारण विद्वान, प्रजा-हितैषी, उत्कल के उन्नतिकामी व्यक्ति और गरीबों के माई-बाप थे। पर उनमें एक दोष था –अच्छा हो, बुरा हो, एक बार जो हुक्म कर देंगे उसे किसी प्रकार बदलते नहीं थे। अत: मैंने उन्हें अधिक कुछ भी नहीं कहा और विदा लेकर वापस आ गया। रात को राजासाहब से मिलकर उन्हें साहब के मनोभाव के बारे में कहा। राजासाहब ने जवाब में कहा–"दीवान बाबू, मैंने आपसे जो कहा है, वही होगा। आप दो पैसे अधिक लगाकर लगान नियत करवा दें। देहात में पांच साल का लगान बकाया पड़ा है। आप उसे वसूल कर लें, हम उसमें से एक कानी कौड़ी तक नहीं लेगें।"

उस समय राजासाहब की दुरावस्था देख मन में अपार कष्ट हुआ। वह एक छोटे-से

टूटे-फूटे मकान में एक कोने में चुपचाप बैठे हुए थे। मिट्टी के दिये की लौ टिमटिमा रही थी। राजासाहब के साथ सिर्फ दो ही नौकर थे। हाय, यह इलाका क्या 'खास' हो जाएगा ? क्या राजासाहब आपदा से उबरेंगे नहीं ?

बाआंरा गांव की दक्षिण दिशा में गांव से सटकर कटक से बांकी जाने वाली सड़क थी। सड़क के दक्षिणी ओर महादेवजी का मंदिर था। खपरैल वाले एक घर को ही मंदिर बनाया गया था। सुना था, मंदिर के अंदर सांप है। कटक आते-जाते मुझे कई बार उस गांव में ठहरना पड़ा था। मैं सांप के डर से रात के समय मंदिर की ओर कभी नहीं जाता। वहां रात को कोई भी नहीं रहता। अन्यत्र स्थानाभाव के कारण आज वही मंदिर मेरे लिए आश्रय-स्थल बना हुआ था। दिन भर के सब काम समाप्त कर मंदिर के सामने वाले खुले घर में शिव-वाहन पत्थर के वृषभ से सटकर सो गया। पर उस दिन मन में सांप का भय ही नहीं रहा। रात भर बाहर वर्षा और तूफान चलता रहा। इधर मन में भी निरंतर तूफान था। उससे क्या नींद आती ! बिछौने पर पड़े-पड़े उपाय सोच रहा था कि अचानक उपाय की एक क्षीण ज्योति मन में जल उठी।

इलाके भर के मुखियों के नाम सरकार की ओर से सम्मन जारी हो गया था। आज संध्या के चार बजे सब प्रजा और मुखिये कचहरी में उपस्थित होंगे। आज पांच सालों के झगड़ों का अंत होगा और राजासाहब के भाग्य की परीक्षा होगी।

बाआंरा गांव के पास वाले भगीपुर और शअलबांक आदि गांवों की प्रजा राजा की पक्षधर थी। भोर होते ही उन्हीं गांवों से सिपाही भेजकर मुखियों और चुने हुए प्रमुख लोगों को बुला लिया। आश्वासन भरे वाक्यों से उन्हें काफी समझाकर कहा–"तुम लोग सदा राजभक्त रहे हो। राजासाहब तुम लोगों की काफी प्रशंसा करते हैं। आज अगर राजासाहब के लिए कचहरी में सिर्फ एक ही बात कहोगे, तो राजासाहब तुम्हें सदा के लिए स्मरण करेंगे। जागीरी जमीन में हरेक को दस-दस माण जमीन देंगे और उसके लिए तुम्हें एक पाई भी देना नहीं होगा।"

सभी ने हो-हल्ला करके कहा, "कहिए, कहिए दीवान बाबू, आप जो कहें हम वही करेंगे।"

मैंने कहा, "कचहरी में तुम लोग साहब से सिर्फ यही कहना कि हुजूर, आपने जिन्हें दीवान बनाकर भेजा है उन्हें हम मध्यस्थ मानते हैं। आप हुक्म कर दें, वह सभी झगड़ों का फैसला कर देंगे।" बच्चों को पाठ रटाने की तरह सारी सुबह वही दो-एक बातें सिखाईं। उन्होंने भी जवाब में उसी बात को बार-बार दुहराया। वे साहब को किस तरह से सलाम करेंगे, किस तरह कतार बांधे खड़े रहेंगे, यह सब मैंने उन्हें परेड की तरह सिखाया। मेरा मतलब था, ये लोग सामने सटकर कतार बांध लें तो अन्य लोगों को आगे बढ़कर बोलने का अवसर ही नहीं मिलेगा। दिन-भर तूफान और वर्षा रुकी नहीं। घनघोर बादल उमड़े हुए थे। दिन की दुपहरी में शाम जैसा अंधकार था।

संध्या चार बजे तक बारिश थोड़ी थम गई। फिर भी हल्की-फुल्की बूंदा-बांदी के साथ तेज हवा चल रही थी। साहब के डेरे के निकट अपने डेरे पर राजासाहब, कचहरी के तीन कर्मचारी, और चपरासी उपस्थित थे। मैंने साहब के डेरे के अंदर जाकर उन्हें बताया कि "प्रजा मुझे मध्यस्थ मान रही है। हुजूर, अगर मंजूर करें तो राजा और प्रजा में जो झगड़ा चल रहा है उसका फैसला कर दूंगा।" साहब मेरी बात सुनकर खुश हो गए। "बहुत अच्छा बाबू, बहुत अच्छा। आप यह काम कर दें तो हमें बड़ी खुशी होगी। दो सालों से यही बात सुनते-सुनते हम ऊब चुके हैं।"

समय चार बजे से ऊपर हो चुका था। साहब के आवास के सामने से चपरासी ने आवाज लगाई – 'डोमपड़ा के मुखिया और प्रजा हाजिर हों।' अमराई से, गांव की गलियों से, बरामदों में बैठे हुए लोग, घरों से दल बांध-बांधकर लोग निकल आए। कुछेक पहुंचे नहीं थे .... वे गिरते-पड़ते दौड़े। साहब के डेरे के सामने कतार बांधे खड़े हो गए। लगभग दो हजार के लगभग होंगे। मैं उस समय आकुल आंखों से ढूंढ़ रहा था, मेरे आदमी किधर चले गए ? सारी सुबह उन्हें खूब सिखाया-समझाया था। वे कहां हैं ? मेरे लिए अब सभी दिशाएं अंधकारमय होने लगीं। उसी तरह मन में अंधेरा घिरने लगा। कोई उपाय नहीं था। साहब ने मुझसे पूछा तो क्या जवाब दूंगा ? डोमपड़ा के राजवंश को बचाने का और कोई उपाय नहीं था। राजासाहब के साथ संबंध के बावजूद मैं उनका दीवान नहीं था। वे मुझे साहब का जासूस समझते थे और अविश्वास की आंखों से मुझे देखते थे। फिर भी उनकी और राजवंश की दुर्दशा देखकर मैं मन-ही-मन दारुण कष्ट अनुभव कर रहा था। राजघराने को बचाने के लिए मैंने अपने आप को तन-मन से समर्पित कर दिया था। राजासाहब प्रतिज्ञा कर मुझसे कई बार कह चुके हैं कि लगान बढ़ाकर बंदोबस्त करवा दें तो देहात की लगान-वसूली मेरे लिए छोड़ देंगे। पर मैं अवज्ञा से उनकी बात ही नहीं सुनता। राजासाहब का उपकार करना ही मेरा एक मात्र लक्ष्य था।

साहब सिर से पैर तक एक विलायती कंबल ओढ़कर निकले और रावटी के बरामदे में खड़े हो गए। साहब की आंखें भर बाहर दिख रही थीं। मैं और पेशकार साहब हटकर दोनों ओर खड़े हो गए थे। साहब ने कहा–"वेल, तुम लोग कहते हो कि राजा और तुम्हारे बीच जो झगड़ा चल रहा है उसका फैसला मध्यस्थ होकर दीवान फ्कीरमोहन बाबू कर देंगे।" चार-पांच सरदारनुमा लोगों ने एक साथ चिल्लाते हुए कहा–"फ्कीरमोहन बाबू कर देंगे तो आप क्यों इस वर्षा-तूफान में कटक से भागकर आए हैं?" साहब ने नहीं समझा तो मेरी ओर ताककर पूछा–"क्या कह रहे हैं ये लोग ?" मैंने तत्काल जवाब दिया, "दीवान बाबू हमारा झगड़ा निबटा लेंगे। आप इस वर्षा-तूफान में कटक से आकर क्यों कष्ट पा रहे हैं !"

साहब ने कहा–"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। दीवान बाबू हर बात का फैसला कर देंगे। वे एक काबिल आदमी हैं। हमारा उन पर विश्वास है। सलाम.... सलाम....

विदा... ।" इतनी बात कह कर वे झट से डेरे के अंदर आ गए और पर्दा गिरा दिया गया। मुखिये एक-दूसरे को देखते रह गए। क्या हो गया ? साहब ने पता नहीं क्या समझा ? सरकारी कर्मचारी मेरे बंधु थे, चपरासी सब अनुगत थे। उन्होंने प्रजा को रावटी के पास से भगा दिया।

उस दिन की घटना याद आती है तो मन में अपार कष्ट होता है। साहब का मुझ पर पूर्ण विश्वास था। मैंने प्रजा की बात दूसरी तरह से उन्हें समझाकर विश्वासघात किया था। सिर्फ उसी एक बार नहीं, कई बार झूठ बोला है, निष्ठुर बर्ताव किए हैं। राजा और राज-परिवार का उपकार करने के ध्येय से उस समय मुझमें पाप और पुण्य का ज्ञान नहीं रह गया था।

डोमपड़ा में दीवानी (2)

दूसरे दिन बाआंरा गांव से पांच कोस दूर पाथपुर में साहबों का पड़ाव पड़ा। आज सभी मुकदमों की पैरवी बंद ; तूफान और वर्षा पिछले दिन की तरह लगातार हो रही थी। सरकारी लोगों की रसद के लिए एक मन घी, चार-पांच मन दही लाकर दाखिल करने के लिए रावतों के नाम परवाने जारी किए गए थे। राजपरिवार में या राजमहल में कोई ब्याह या सरकारी जरूरत पड़ने पर यही रावत बेगारी में दूध-दही पहुंचाया करते। यही नियम सभी रियासतों में सदा से चलता आ रहा था। ग्वालों के गाय-भैंस राजा के जंगल में चरते हैं, इसलिए उन्हें यह बेगारी का काम करना पड़ता था। डोमपड़ा में आंदोलन के कारण प्रजा ने यह बेगार बंद कर दी थी। सुबह, दिन एक घड़ी बीत जाने के समय मैं बाहर बरामदे में बैठा था। कर्मचारी और पाइक (सिपाही) मुझे घेरकर खड़े थे। हल्की बूंदा-बांदी हो रही थी। डोमपड़ा इलाके के षिठ बेहेरा एक कलसी में करीब दो सेर दूध और उससे एक छोटी कलसी में आधा सेर घी ले कर पहुंचा। उसे देखते ही मैं आग-बबूला हो गया। मेरे सामने गली में शाल की एक मोटी बल्ली पड़ी थी। वर्षा के कारण गली में कीचड़ भरा हुआ था। मैंने दो पाइकों को हुक्म दिया–"इस षिठ को कीचड़ में लिटाकर इस बल्ली के साथ कसकर बांध दो। एक पाइक उसकी पीठ पर दूध-दही डालता रहे और दूसरा बेंत से मारे।" झट से हुक्म की तामील होने लगी। षिठ पर तीन-चार बेंत ही पड़ी थीं कि आठ-दस रावत दौड़ते हुए आए और पैरों में पड़ गए। गिड़गिड़ाने लगे–"धर्मावतार ! षिठ को खोल दें। अभी दूध-दही हाजिर कर देते हैं।" सचमुच आध घंटे में भार-भार दूध-घी पहुंचने लगा और बगैर कहे मछली का भार भी पहुंच गया। कर्तव्य की बात उन्हें सही-सही मालूम थी। पर उन्होंने सोचा था, बगावत का लाभ उठाकर अगर न देना पड़े तो उनके लिए फायदा ही है।

शासन करने के उपाय चार हैं–साम, दाम, दंड और भेद। यथोचित उपाय करके भी प्रथम दोनों में असफल रहा हूं। अतः अब मैंने अंतिम दोनों का सहारा लिया था। सभी

राज्यों के राजमत्रीगण कार्य-क्षेत्रों में इन्हीं चार उपायों का प्रयोग करते हैं। अतिक्षुद्र डोमपड़ा राज्य के क्षुद्रतम राजमंत्री क्या अब महाजनों की उसी प्रथा को अपनाएंगे नहीं ? दो-चार सरदारों को तब तक प्रलोभन और भय दिखाकर राजपक्ष की ओर खींच लिया था।

संध्या के समय खबर मिली कि शिमिलिपुर गांव में बगावत करने वाले सरदारों की एक विराट सभा हुई थी। उसी सभा में उन्होंने निर्णय लिया था कि वे दूसरे दिन कचहरी में उपस्थित रहकर साहब को समझाएंगे कि दीवान राजा के पक्षधर हैं। वे कभी भी प्रजा के प्रति न्याय नहीं करेंगे। साहब खुद उनकी फरियाद सुनें।

दूसरे दिन सुबह मैं रावटी में जाकर साहब से मिला। देखा, साहब व्यस्त थे। पिछली रात बारिश में पानी भीतर घुस आया था और सभी चीजें भीग गई थीं। साहब खुद उन चीजों को इधर-उधर करके इस-उस कोने में सजा रहे थे। मुझे देखकर पिछली रात की परेशानी का बखान करने लगे। उसके बाद स्थिर हो बैठ गए और पूछा–"क्यों, क्या खबर है ?"

मैंने कहा–"हुजूर, परसों शाम को आपके सामने लगभग दो हजार प्रजा ने मुझे अपना मध्यस्थ माना था। वह तो आप जानते ही हैं।"

साहब–"हां, हां... प्रजा ने तो मुझसे यही कहा था ! फिर क्या हुआ ?"

मैंने कहा–"कल शाम को मुखियों ने फिर प्रजा को बुला कर सलाह दी है कि उन्होंने जो कुछ कहा था उसे न मानें और फिर से बगावत शुरू कर दें।"

साहब–"किस लिए प्रजा उन बुरे आदमियों की बातों में आ रही है ?"

मैंने कहा–"हुजूर, गरीब प्रजा वास्तव में निरीह है। सारे झगड़े की जड़ हैं ये मुखिये। जिस किसी ने इनकी बात नहीं मानी उसका सब-कुछ लूट रहे हैं। घर-बार तोड़-फोड़ रहे हैं। परिवार के सभी को बेरहमी से मार रहे हैं। संपत्ति के नाश और मार के डर से वे उनकी बातें मानते जा रहे हैं।"

साहब–"ऐसा अत्याचार किस-किस पर हुआ है ?"

मैंने कहा–"इसके पहले तो कई बार हुआ है। लगभग चार दिन पहले एक धोबी ने राजा के परिवार के लोगों के कपड़े धोने के लिए लिए थे, इसलिए उसे लूटकर इन्हीं लोगों ने उसे निर्दयता से मारा है।

साहब–"ठीक है, तब इसी एक घटना का सबूत दें।"

मैंने कहा–"साहब, मुखियों के डर से कोई गवाही देने नहीं आएगा।"

साहब–"ठीक है, ठीक है। आप जाएं, कोशिश करें।"

मैं साहब से विदा लेकर उठ आया। सिर झुकाकर धीरे-धीरे अपने डेरे की ओर चलने लगा। मन में घोर दुश्चिंता उमड़ रही थी। क्या करूं ? राजा से कुछ भी सहायता मिलने की आशा नहीं थी। बात सच थी, पर मेरे कहने भर से कोई क्यों गवाही देने आएगा ? यही सोचता हुआ आ रहा था कि मेरे कानों में ये शब्द पड़े–"अरे ओ दीवानजी, साहब

की रावटी से इस तरह सिर झुकाए धीरे-धीरे कैसे चले आ रहे हैं ?"

सिर उठाकर देखा, निधि पटनायक एक संकरे बरामदे में बैठे थे। मैंने अचानक कह दिया–"क्या कहूं पटनायकजी, सब कुछ खत्म हो गया। आज से कायस्थ-कुल का मुंह काला हो गया।" पटनायक जी बरामदे पर से कूदते-से उतर आए और जोर से मेरी बांह पकड़कर आलिंगन करते हुए पूछने लगे–"बात क्या है, क्या हो गया, दीवानजी !" मैंने कहा–"छोड़िए भी, छोड़िए... जाने दें मुझे। आपको इस इलाके भर में कौन नहीं जानता ? कटक जिले भर में आपका नाम है। उसी वंश से एक के हाथ में हथकड़ी लगे, वह डोम के हाथ का खा आए तो जात-पांत बनी रहेगी क्या, कोई छूएगा क्या ? गया, सब गया। आपके साथ खूब मेल-मिलाप है यह सही है; पर सरकारी बात, सरकारी मामले में मैं क्या कहूं ? छोड़िए भी, जाने दें मुझे !"

मैंने देखा, वह डर से भयभीत-से दिखाई पड़ने लगे।

निधि पटनायक ने मुझे और जोर से पकड़ लिया–"नहीं, नहीं जी, मैं आपको छोडूंगा नहीं। क्या बात है, आपको कहना ही होगा।"

मैंने कहा–"मैं क्या कहूं, पटनायकजी ! आप के साथ इतना मेल-मिलाप है। आप बाद में कहेंगे कि इस तरह घोर विपदा के समय मैंने कुछ भी नहीं कहा।" फिर मैं चुप रह गया और चारों ओर सावधान होकर देखने लगा। उन्हें धीरे-धीरे एक एकांत कोने में खींचकर उनके कानों में बुदबुदा कर कहा-"चार दिन पहले मुखियों ने निस्तिपुर वाले अमुक सेठी का घर लूट कर उसे मारा है, यह तो आपको पता है। डोमपड़ा के बच्चे से लेकर बूढ़े तक किस को यह बात मालूम नहीं है ? कुछ बुरे लोगों ने साहब तक यह खबर पहुंचाई है। जगु ने कई लोगों को साथ लेकर यह कांड किया है। हां पटनायकजी, क्या यह बात सच है ? मैंने तो जगु का नाम तक नहीं सुना था। शिमिलिपुर का जगुनि सुबुधि और उसके साथ कुछ और लोग। मैं सुन कर आया हूं। साहब हुक्म दे रहे थे–पुलिस हथकड़ी लगाकर; पैरों में बेड़ियां डालकर, बीच गली में घसीटकर ले जाएगी। हाय, क्या हो गया ! आप जाएं। इसके लिए शीघ्र कोई उपाय करें। देर करने से नहीं चलेगा।"

निधि पटनायक ने मुझे और भी जोर से पकड़ा। कहा–"बाबू, जगु को बचाने का क्या उपाय है, आप ही बताएं और आप ही उसके लिए कोई उपाय करें।"

मैंने उपाय सोचने का बहाना कर थोड़ी देर के लिए आंखे मूंद लीं। कहा–"सुनिए पटनायकजी, साहब का आप पर काफी विश्वास है। आप जो कहेंगे, साहब उसे सच मान लेंगे। पर एक भी झूठ मिलने से या जानबूझकर कुछ छिपाने से नहीं चलेगा। यह भी कैसा न्याय है, एक जुर्म करे और दूसरा सजा भुगते ! यह तो अनुचित है। आप क्यों झूठ कहकर अपना मान-सम्मान बिगाड़ेंगे ? आप सिर्फ साहब से यही कहेंगे कि जगु ने निस्तिपुर वाले धोबी को लूटा नहीं है, न वह उन लोगों के साथ मिला हुआ है। तब वह रिहा हो जाएगा। किसी और से न मिलकर आप सीधे साहब के पास चले जाएं। देखिए सावधान !

देर न करें।"

निधि पटनायक ने मेरा हाथ पकड़ लिया। मुझे खींचकर साथ लेते हुए साहब की रावटी की ओर चलने लगे। वह कहते जा रहे थे–"आइए, आप साथ नहीं चलेंगे तो कुछ भी नहीं बन पाएगा। मेरे लिए आप भी एक-दो बात कह देंगे।"

मैंने जवाब दिया,"मैं क्या कर सकता हूं ? पर आप बुला रहे हैं, न भी कैसे चलूं ? दो बातें ही क्यों, आपके लिए बहुत कुछ कहूंगा। सूनेंगे, चलिए !"

निधि पटनायक को रावटी के आगे खड़ा करके मैंने अंदर जाकर साहब से कहा–"हुजूर, निस्तिपुर के धोबी के घर लूटने वाले की सारी बातें निधि पटनायक को मालूम हैं। हुजूर, आप उनसे पूछें तो वे सब बताएंगे और मेरी प्रार्थना है कि आप अभी उसका बयान ले लें, नहीं तो बाद में वह मुखियों के साथ मिल जाए तो सच-सच नहीं बताएगा।"

साहब ने कचहरी के दफ्तर में बैठकर निधि पटनायक को बुलवाया। पटनायक ने पहुंचते ही बिना पूछे कहना आरंभ कर दिया-"साहब, धोबी के घर लूट होते समय वहां जगु नहीं था, मुझे मालूम है।"

साहब ने गवाही फारम पूरा कर लिख लिया तो मैंने प्रश्न पूछा–"अच्छा पटनायक जी, किस धोबी का घर लूटा गया है ? किस गांव में है उसका घर ? क्या नाम है उसका ?''

उत्तर–"उसका घर है निस्तिपुर में! (नाम बताया था, पर अब मैं याद नहीं कर पा रहा हूं।)"

प्रश्न–"उस समय और कौन-कौन मुखिए थे वहां ?"

उत्तर–"जगुनि सुबुधि और अमुक-अमुक छह आदमी (उन्होंने सभी के नाम बताए)।"

प्रश्न–"जगबंधु पटनायक आपके क्या लगते हैं ?"

उत्तर–"मेरा भतीजा।"

प्रश्न–"एक ही घर में, एकांतवर्ती हैं क्या ?"

उत्तर–"हां।"

साहब ने मुजरिमों की गिरफ्तारी के लिए पुलिस के नाम परवाना लिखकर हमें विदा किया।

निधि पटनायक ने वापस आते समय मुझसे पूछा–"बाबू, जगु का क्या होगा ?" मैंने कहा, "आपने तो सब कुछ ठीक-ठाक कह दिया है। अब आप निश्चिंत मन से घर पर बैठे रहें।''

उस दिन सुबह से लेकर दस बजे तक मैंने जो कुछ कहा था, जैसा बर्ताव किया था, सब झूठ था, निष्ठुरता थी। अब वही सब निर्लज्ज की भांति लिखकर भद्र पाठकों के आगे प्रस्तुत कर रहा हूं। पाठक महाशय, अगर आप मुझे मिथ्यावादी, पातक कहकर मेरे कलंकित नाम पर दोषारोपण करें, मेरी निंदा करें तो आत्मपक्ष का समर्थन कर उस वाक्य का प्रतिवाद

करने के लिए मेरे पास युक्तियुक्त भाषा नहीं है। पर जंजालमय जगत में समय-समय पर, कार्य-कारण संबंध, परंपरा सूत्र से ऐसी घटना उपस्थित हो जाती है कि मुझ जैसे दुर्बलचेता, स्वल्पमेधा व्यक्ति के लिए सत्य मार्ग पर अविचलित रहना साध्यातीत बन जाता है। मैं अपनी आत्मसांत्वना के लिए इस बात का स्मरण कर रहा हूं कि, वास्तव सत्य की प्रतिष्ठा के लिए और न्याय-विचार की पोषकता के लिए मैंने अन्याय के मार्ग का सहारा लिया था। प्रताड़ित के प्रति न्याय-विचार, अत्याचारी के प्रति दंडविधान और भविष्य में गरीब, निरुपाय प्रजा के प्रति अकारण अत्याचार को रोकना विशेषकर विपदग्रस्त राजपरिवार की सहायता करना उस समय मेरा एक मात्र कर्त्तव्य बन गया था, जिस तरह कुछेक मृतप्राय गुलाब के पौधे के नीचे निहायत बदबूदार सड़ी मछली आदि डालकर पल्लवित करने की तथा सुंदर सुगंधित फूल खिलाने की चेष्टा करते हैं।

दिन के लगभग बारह बजे महानदी के तटवर्ती शिमिलिपुर और करबर गांवों के आठ-दस मुखिये अगुआ होकर साथ में करीब एक हजार लोगों को लेकर आनंद-उत्साह से पाथपुर की ओर चले आ रहे थे। मुखियों ने प्रजा को खूब भरोसा दिलाया था कि उसी दिन मामले की डिग्री हो जाएगी। मालगुजारी में एक पाई भी भरनी नहीं होगी और जमीन की माप-जोख नहीं होगी। मुखियों का दल रण नदी के दक्षिण तट से नदी-गर्भ के बालू पर उतरा ही था कि उत्तर तट से आठ-दस सिपाही अनेक ग्रामीण चौकीदारों के साथ उतर आए। नदी के बीचोंबीच दोनों दल आ मिले। एक पुलिस के सिपाही ने पुकारा–"जगुनि सुबुधि कौन है ?" नाम बताते ही हथकड़ी लग गई। "जगबंधु पटनायक कौन !"... "जा डाल हथकड़ी।" और अमुक पधान... अमुक पधान... इसी तरह एक-एक कर हथकड़ी लग गई तो पीछे जो हजार आदमी चल रहे थे वे वापस मुड़कर भागने लगे। महानदी तट पर से उतर, मैदान-खेतों में गिर-पड़कर सरपट भागने लगे। थोड़ी देर बाद, जिनके नाम परवाना था उन्हें और सिपाही-चौकीदारों को छोड़कर वहां और कोई नजर नहीं आ रहा था।

शाम के समय साहब के इजलास में निस्तिपुर धोबी के मामले की सुनवाई हुई। मुखियों की गिरफ्तारी के बाद प्रजा में से दो व्यक्ति चश्मदीद गवाह बन बयान देने को तैयार हो गए। मामला प्रमाणित हो गया और मुजरिमों को छह-छह महीने कैद की सजा हो गई। मैंने डोमपड़ा छोड़कर आने के पहले निधि पटनायक के साथ जो असद बर्ताव किया था उसके लिए किंचित प्रायश्चित कर आया था। मालगुजारी अदा न कर पाने के कारण पटनायक को अपनी जमीन से बेदखल कर दिया गया था। उस समय उनकी जैसी स्थिति थी, उसके लिए मालगुजारी अदा कर जमीन दखल करना किसी तरह संभव नहीं था। स्वयं मैं वह बकाया रकम, कुल छ्यानबे रुपये अदा करके उनके नाम से जमीन का बंदोबस्त कर आया था।

कटक में मैजिस्ट्रेट साहब के इजलास में डोमपड़ा-निवासी तीन लोगों ने मेरे खिलाफ मुकदमा किया था। मुखियों के मुकदमे का फैसला हो जाने के बाद उस पर विचार हुआ।

मामले का विवरण था कि मुद्दई–तीन आदमी–राजमहल के पिछवाड़े वाले पुराने सरकारी बाग से ईख पेरने के कोल्हू के लिए एक इमली का पेड़ काट रहे थे। मुझे खबर मिली तो मैंने उन तीनों को पकड़वाकर एक कमरे में बंद कर रखा था। पुलिस की चालान कर देने की इच्छा थी, जिसके लिए राजा से अनुमति की आवश्यकता थी। उस समय राजा साहब का मेरे प्रति घोर अविश्वास और संदेह था। उनके विचार से मैं मैजिस्ट्रेट साहब का जासूस था। और शायद उन्हें फंसाने के लिए मैंने उस मनगढ़ंत मुकदमे की रचना की हो, उन्होंने वैसा सोच लिया था। राजासाहब से उस मामले में बात करते ही उन्होंने चीखकर कहा–"नहीं, नहीं, हमें कुछ मालूम नहीं है।" उतना भर कहकर वे एक दूसरे कमरे में चले गए और अंदर से दरवाजा बंद कर लिया। अत: मुझे उन पेड़ काटने वालों को छोड़ देना पड़ा।

कटक में मैजिस्ट्रेट के इजलास में मेरे खिलाफ मुकदमा दायर हो जाने के बाद मैंने सारा विवरण दे दिया था। अब मुखियों के खिलाफ मुकदमों का फैसला हो जाने के पश्चात मेरे विरुद्ध अन्याय-अवरोध के जुर्म में हुए फौजदारी मुकदमों का ऐलान हुआ। मुद्दइयों से बयान लिए जाने के बाद उनके पक्षधर तीन-चार गवाहों से गवाही ली गई। मुद्दइयों ने लगभग सच-सच बताया। पर गवाह बनावटी थे। वास्तव में वे लोग मौके पर मौजूद नहीं थे। गवाहों के बयान का सार था–दीवान बाबू फकीरमोहन सेनापति ने तीनों मुद्दइयों को गिरिधारी ठाकुर के मंदिर के बेड़े के अंदर एक पक्की कोठरी में कैद कर रखा था। यह उन गवाहों ने खुद अपनी आंखों से देखा था, ऐसा उन्होंने बताया। घटना के समय वे मंदिर के बाहर वाले इमली के पेड़ के नीचे खड़े थे और उन्होंने सब कुछ देखा था। जांच के लिए उस दिन दूसरी तारीख दे दी गई।

दूसरे दिन शाम को पाथपुर से साहब की रावटी (डेरा) उठ गई और तालबस्त गांव के लिए रवाना हो गई। राजमहल के सामने से होकर तालबस्त गांव की सड़क जाती है। लगभग सांझ के समय तीनों हाकिम घोड़ों पर सवार हो राजमहल के सामने पहुंचे। हाकिमों ने अच्छी तरह से देखा, फाइल में लिखित विवरण के अनुसार जिस घर में मुद्दई लोग बंद किए गए थे और जिस जगह खड़े रहकर गवाहों ने सारी घटना देखी थी, उसके बीच दो घरों की दीवारें हैं और एक ईंट की बनी ऊंची दीवार है। उसके अलावा एक और दीवार का अंतर है। घर का दरवाजा पूर्व की ओर है और गवाह पश्चिम की ओर खड़े थे। अत: गवाहों के लिए अंदर घटने वाली कोई भी घटना देख पाना बिलकुल असंभव था। मामला असिस्टेंट मैनेजर की कोर्ट में था। हाकिम ने मामला डिसमिस कर दिया।

डोमपड़ा इलाके में तालबस्त सबसे बड़ा और सर्वश्रेष्ठ गांव है। गांव के पूर्वी ओर जंगल, उसी जंगल के बीच एक अमराई में हाकिमों की रावटी पड़ी। गांव के अंदर एक तेली साहूकार के घर मेरा डेरा पड़ा। कर्मचारियों तथा दूसरे सरकारी लोगों के लिए अलग-अलग घर खाली करवाए गए थे।

मैं सुबह-सुबह साहूकार के घर की गली की तरफ के ऊंचे बरामदे पर कचहरी लगाकर बैठ गया था। बरामदे के नीचे दस-बारह जवान पठान पाइक हुक्म बजा लाने के लिए हाजिर थे। पहले मुखिये को मालगुजारी अदा करने के लिए तलब किया। उसके बाद साधारण प्रजा को दरबार में बागियों द्वारा कर अदा करने की बात नहीं थी। पांच सालों से जब कर देने की आदत ही नहीं रही उनकी, तो अब क्या आसानी से आकर कर अदा कर देंगे ? इतने बड़े गांव में सिर्फ एक ही कुआं था। वह भी गांव के बीचोंबीच गली में। वह कुआं सरकारी था। हमारे दरबार के न्याय-विचार में यह निश्चित हुआ कि प्रजा अगर मालगुजारी नहीं देगी, तो राजा के कुएं से पानी लेने का क्या अधिकार है उसे ? कुएं के पास दो पठान पहरेदार बैठ गए। गांव में लगभग तीन सौ घर.... सभी के घरों में रसोई बंद। अन्य सरकारी लोग और कर्मचारियों की रसद के लिए कटक से साग-भाजी मंगाई गई थी। खत्म हो जाने की बात 'रसद-करण' (रसद की व्यवस्था के लिए नियुक्त कर्मचारी) ने बताई थी। अब हमारी कचहरी के हुक्म और कार्य की गति न्याय-मार्ग छोड़कर काफी दूर चल रही थी। 'अरे ! रसदघर में साग-भाजी नहीं है तो क्या हुआ, लोगों के बाड़ी-बगीचे में तो है ?' हुक्म पाते ही सरकारी सिपाही और चपरासी आदि राजा के पाइकों की सहायता से गांव के बगीचों से बैंगन, केले, आदि जो कुछ था लूटकर ले आए। वास्तव में सिर्फ डोमपड़ा ही नहीं, मुझे पता है, ओड़िसा के सभी रजवाड़ों में आए हुए हाकिमों के लिए प्रजा के द्वारा रसद की व्यवस्था करने का नियम अनादि काल से निरंतर प्रचलित है। अब बगावत के कारण प्रजा ने रसद की व्यवस्था नहीं की थी।

तालबस्त के सभी बागी सरदारों के नाम मुझे मालूम नहीं थे। तालबस्त के निकटवर्ती दुलणापुर गांव का सरकारी कोठारी मेरे पास बैठकर एक-एक का नाम ले रहा था। एक-एक सरदार को बुलाकर लाने के लिए चार-चार सिपाही दौड़ जाते थे। आज कचहरी में न्याय का व्यभिचार देखकर जवान, अशिक्षित और उद्दंड पठान पाइक निहायत अत्याचारी बन बैठे थे। उस पर, वे काफी दिनों से प्रजा के द्वारा लांछित होते आए थे। अब उनके लिए बदला लेने की बारी आई थी। एक की तलब होने पर उसके साथ-साथ उसके बेटे, भाई, मामा, साला तक जकड़े हुए आ जाते थे। सभी घरों के दरवाजे बंद। पाइकों की पुकार के जवाब में एक क्षीण स्वर भर सुनाई पड़ता था–"घर पर कोई मर्द नहीं है।" किसी औरत को अपमानित करना या किसी बालक-बालिका को छूने तक का बारंबार निषेध किया गया था। नहीं तो क्या मालूम कितनों के दरवाजे तोड़ दिए होते।

दिन लगभग एक प्रहर गया होगा, तब मेरी कचहरी के सामने से एक संभ्रात वृद्ध ब्राह्मण को तेज कदमों से जाते हुए देखा गया। विप्रवर की उम्र साठ पार कर चुकी थी। पतला शरीर, दंतविहीन, गौर वर्ण। उन्होंने एक पाट जोड़ा पहन रखा था। कोठारी ने मेरी ओर देखकर और उनकी ओर हाथ उठाकर कहा-"अरे रे, यह तो पंडितजी गुसाईं महाराज चले जा रहे हैं। ये एक सरदार हैं जो सभा के बीचोंबीच बैठते हैं।"

पंडितजी की बांह पकड़ कर गली में तीन बार दौड़ाने का हुक्म हुआ। हुक्म पाते ही दो पठान पाइक दौड़ गए और पूर्ण रूप से हुक्म की तामील कर दी।

दुपहर के बारह बजे। फिर दो बजे। गांव भर में चूल्हा नहीं जला था। कष्ट हुआ। सरकारी हुक्म जारी कर दिया कि सरकारी या राजा का एक भी आदमी बाहर नहीं निकलेगा, महिलाएं आकर पानी ले जाएं। हुक्म जारी होते ही प्रत्येक घर से बहू-बेटियां, बूढ़ियों तक तीन-चार गगरी, लोटा आदि लेकर निकल पड़ीं। कुएं पर काफी भीड़ हो गई। वह एक विचित्र दृश्य बन गया।

संध्या चार बजे मैजिस्ट्रेट साहब की कचहरी के लिए समय का ऐलान कर दिया गया।

निर्धारित समय पर प्रजा और राजपक्ष के लोग हाजिर हो गए। लगभग एक हजार आदमी पहुंचे थे। मेरे खिलाफ दूसरी नालिश खड़ी कर दी गई थी। पहला अभियोग था—दीवान बाबू फकीरमोहन सेनापति जमीन की माप के लिए छोटी जरीब इस्तेमाल कर रहे हैं। मेरे पास कई जरीबें थीं। एक लकड़ी की पदिका भी थी। (नाप 24 हाथ में 40 फुट पांच इंच दो सूत) उस पर कागज चिपकाया गया था और खुद कलेक्टर साहब के दस्तखत थे। देखा गया, सभी जरीबें उसी के नाप से बनवाई गई थीं। अतः हुक्म हुआ, प्रजा की अर्जी डिसमिस !

दूसरी अभियोग—तालबस्त के एक और व्यक्ति ने नालिश की थी, जिसमें यह अभियोग लगाया गया था कि दीवान के हुक्म से सरकारी आदमी उसके पुआल लूटकर ले गए।

हाकिम ने मेरी ओर देखा। मैंने जवाब में कहा—"सरकारी लोगों की रसद के लिए चीजों की ज़रूरत थी। डोमपड़ा के लोगों को पैसे लेकर चीजों का जुगाड़ कर देने को कहा गया था। पर एक भी राजी न हुआ। सभी रसद कटक से मंगाई गई । पर पुआल नहीं लाया जा सका। पिछली रात बारिश के कारण हुजूर का घोड़ा कीचड़ पर खड़ा रह गया था। उसके बिछौने के लिए इसका थोड़ा-सा पुआल ले आए हैं। कीमत देने को मैं तैयार हूं। ले तब न !" और मैंने जेब से एक रुपया निकालकर दिखाया। इसके बाद यह लिखना जरूरी नहीं कि मुद्दई का केस डिसमिस हो गया।

ठीक उसी समय सुबह वाले पंडितजी साहब के सामने पहुंच गए। कचहरी डेरे से उनका घर लगभग आधा कोस की दूरी पर था। लगा, मानो वे दौड़ते हुए आए हैं। बूढ़े आदमी। सांस तेज हो गई थी। क्रोध से आपादमस्तक थरथर कांप रहे थे। दोनों कानों के मकर कुंडल गालों पर ढप-ढप बज रहे थे। उस पर पोपला मुंह, सारा दुर्योग एकत्रीभूत हो गया था। साध्यानुसार उच्च स्वर से अपनी नालिश का विवरण बखानने लगे। हांफने के कारण जबान लड़खड़ाकर सिर्फ 'हाउ-हाउ' शब्द ही निकल रहे थे। साहब की क्या मजाल कि उसमें से एक भी शब्द समझ लें ! मैंने बड़ी मेहनत से उनकी फरियाद का सार-मर्म संग्रह किया। वे बता रहे थे कि उन्हें पाटयोषी की पदवी और स्वर्ण के मकर कुंडल मिले हैं। आठगढ़, तालचेर और ढेंकानाल राजदरबारों में उनका सम्मान है। आज

सुबह दीवान ने पठान पाइकों के द्वारा खींचातानी कर उन्हें अपमानित किया है, आदि-आदि।

पाटयोषीजी के ललाट पर चंदन और कंधे से लटकता यज्ञोपवीत देख साहब ने मन-ही-मन अनुमान लगाया था कि वे कोई पुरोहित होंगे। उनके तीव्र कटाक्षपात से मैंने वह अनुमान लगाया था। साहब के मन में यह धारणा थी कि साधारणतया ये पुरोहित लोग भंड और आलसी होते हैं, वे कोई काम नहीं करते, सिर्फ लोगों को छलकर पैसे ऐंठते हैं।

साहब ने मुझसे पूछा–"यह क्या कह रहा है ?" मैंने तत्काल जवाब दिया–"ये मुखियों के पुरोहित हैं। उनकी प्रार्थना है कि हुजूर उनके जजमानों की नालिशों की डिग्री दे दें।" साहब ने मेरी बात सुनी। गंभीर स्वर से पुकारा–"कोई है ?" दो पठान चपरासी आए और उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गए। हुक्म हुआ–"इस ब्राह्मण को निकाल दो।" हुक्म पाते ही दोनों चपरासियों ने पाटयोषीजी की बांह पकड़कर उनमें जितना बल था खींचकर साहब की नजर से बाहर होने तक दौड़ाते हुए ले गए। पाटयोषीजी की दुर्गति देख बाहर खड़े मुखिये और प्रजागण हांफते हुए तितर-बितर हो गए।

साहब ने मुझसे कहा–"हमने जो देखा उससे लगता है, राजा की तरफ से कोई जुल्म नहीं है। फिर भी प्रजा किसलिए इस तरह झगड़ा कर रही है ?'' मैंने कहा-"वास्तव में प्रजा कोई झगड़ा नहीं कर रही। कई स्वार्थी और ताकतवर मुखिये हैं, वे ही सभी झगड़ों की जड़ हैं। अब वही झगड़ा उनके लिए व्यापार-सा बन गया है। सरकार में नालिश कर कर-मुक्त जमीन पर दखल दिलाएंगे, इस तरह के प्रलोभन देकर ये लोग प्रजा को बहका-कर उनसे चंदा वसूल कर रहे हैं। कई सरदार कटक में हैं। कई हैं जो देहातों में घूम-फिर-कर चंदा वसूलते हैं। कोई चंदा न दे या न दे पाए तो उसे लूटते हैं। प्रजा ने पांच सालों से राजा को मालगुजारी नहीं दी। पर मुखिये उनसे चंदे के नाम पर उससे कहीं अधिक ले चुके हैं। और जो मुखिये बाहर रह गए हैं वे भी बाद में झगड़ा करने लगेंगे, यही डर मुझे बना रहता है। खुद हुजूर ने तो देख लिया, किस तरह इन लोगों ने प्रजा को बहका-कर नालिश के नाम पर इकट्ठा किया था।"

साहब ने कहा–"और जो दुष्ट मुखिये रह गए हैं उनके नाम भी लिखवा दें।"

मैंने सब सरदारों के नाम बताए। हाकिम ने खुद एक-एक कर लिख लिए। एक साल के लिए सच्चरित्र रहने का करार कर उसके लिए जमानत देने के लिए सभी के नाम हुक्मनामा निकल गया।

डोमपड़ा में दीवानी (3)

दूसरे दिन सुबह मेरे अपने आवास से निकलकर कचहरी के बरामदे में बैठते ही दस-बारह मुखिये और अनेक प्रजाजन बरामदे के नीचे गली के कीचड़ पर लंबायमान हो गए।

गिड़गिड़ाने लगे–"धर्मावतार ! रक्षा करें, हुजूर हमारे मां-बाप हैं, रक्षा करें !"

आज से चार महीने हुए, इन लोगों को समझाता आ रहा हूं। कई तरह से कह कर राजा-प्रजा के बीच समझौता और मेल के लिए कोशिश कर नाकामयाब हुआ हूं। इन लोगों को पांच बार बुलाने पर भी सुन नहीं रहे थे, वरन् अवज्ञा कर मुंह फेर लिया करते थे। इन दो दिनों में मैं धर्मावतार बन गया ! इनका माई-बाप और रखवाला बन बैठा ! इसका कारण यह था कि तीन दिन से मुझमें न्याय-अन्याय का ज्ञान नहीं रहा, अत्याचार करने के लिए मुझमें कुंठा नहीं रही। झूठ कहने के लिए मुझमें डर नहीं रहा। इसलिए मैं धर्मावतार बन गया हूं ! सिर्फ मैं ही धर्मावतार नहीं हूं, ढूंढेंगे तो संसार भर में मेरे जैसे ढेरों धर्मावतार मिल जाएंगे। पर वास्तव में मैं सदा प्रजाजन का पक्षधर रहा हूं। वे ही समाज की रीढ़ हैं, उनके शुभाशुभ पर देश की उन्नति और अवनति निर्भर है। प्रजाशक्ति राजशक्ति रूपी वृक्ष की जड़ है। जड़ ही वृक्ष के लिए जीवनधारण का एकमात्र अवलंबन और आधार है। राजशक्ति के उपासक वर्ग प्रजाशक्ति की उपेक्षा करके राजा और प्रजा दोनों के परम शत्रु बन जाते हैं।

वर्तमान स्थिति में प्रजा का अनिष्ट मेरा उद्देश्य नहीं था। इलाके में शांति की स्थापना और अकारण अत्याचार-पीड़ित राज-परिवार की दुर्दशा का मोचन ही मेरा प्रधान उद्देश्य बन गया था। कर्तव्य-साधन के लिए मध्यवर्ती स्वार्थी वर्ग का दमन करने के लिए मैं तैयार था। न्याय-अन्याय, सत्य-मिथ्या के प्रति अब मेरी दृष्टि नहीं रही थी। मुझे अब उद्देश्य-साधन के लिए किसी भी उपाय को काम में लाने में कोई संकोच नहीं था। बगावत को भड़काने वाले सरदारों के मुंह में और कोई बात नहीं। वे गले में गमछा डाल, अत्यंत विनय-भाव से सिर्फ गिड़गिड़ा रहे थे–"धर्मावतार, आप हमारी रक्षा करें !" हुक्म हुआ–"ठीक है, तुम लोग अगर हम जैसा कहें वैसा करो, तो रक्षा हो सकती है।" वे सभी एकसाथ बोल पड़े–"आप आज्ञा करें.... आदेश दें।" मेरी पहली बात थी–"आप लोग अपनी जमीन की माप-जोख करवा देंगे। कोई झंझट नहीं करेंगे।"

मुखिये–"जी.... जी हां।"

दूसरा हुक्म–"मालगुजारी थोड़ी-सी बढ़ाकर बंदोबस्त होगा !"

मुखिये–"हां जी, हां जी !"

तीसरा आदेश–"पिछले पांच सालों की मालगुजारी सूद समेत आज शाम तक सभी गांवों के मुखिये जमा करा देंगे !"

इसी विषय पर उन्होंने काफी विनती की। काफी कांट-छांट व रद्दोबदल के बाद तय हुआ कि वे सिर्फ मालगुजारी भर दे देंगे और उस पर सूद नहीं जोड़ा जाएगा। अब तीन साल की मालगुजारी जमा कर देंगे और अगले साल की फसल-कटाई तक शेष मालगुजारी की मांग बरकरार रहेगी।

इलाके भर की प्रजा के पास पूरे पांच साल की मालगुजारी की रकम हिफाजत से थी। प्रजा में यह विश्वास था कि राज-कर छोड़ा नहीं जाएगा, कभी-न-कभी देना पड़ेगा। परंतु

नालिशों के खर्चे के लिए लगभग दो सालों की मालगुजारी की रकम सरदारों ने उनसे वसूल कर ली थी। अत: उनके लिए एक साथ पांच साल की मालगुजारी अदा कर देना नामुमकिन हो गया था।

हाकिम की कचहरी से डोमपड़ा के हर गांव के बीच प्रजा की तरफ से तंबुओं की व्यवस्था की गई थी। हलकारे थे, जिससे कचहरी में हुक्म का ऐलान होते ही इलाके भर में प्रचारित हो जाता था। राजदरबार में मालगुजारी के लिए बात पक्की हो जाने पर सभी मुखिये और प्रजा मालगुजारी की रकम लाने के लिए अपने-अपने गांवों को चल दिए।

तालबस्त गांव में राजा का आवास और मेरे डेरे या राज-कचहरी के बीच का फासला कम है। मालगुजारी की वसूली और अन्य विषयों पर प्रजा के साथ जो निश्चित हुआ था उसके बारे में सूचना देने के लिए मैं राजासाहब के पास पहुंचा। राजासाहब ने उदासीन भाव से मेरी बात सुनी और उन्होंने बताया, "मैं पांच साल का बकाया कर नहीं लूंगा। सब कर आप वसूल कर लें। हम चाहते हैं कि इलाके भर में बंदोबस्त हो जाए और प्रति साल दो पैसे की मालगुजारी बढ़ाकर कर नियत हो।"

राजासाहब की बात सुन मेरे मन में आतंक उपस्थित हुआ। बकाया कर की वसूली के बारे में राजासाहब की इच्छा का पता चले तो हो सकता है झंझट खड़ा हो जाए। मैंने उनसे कहा–"हां, वही होगा। आप चुपचाप बैठें। मैं जो करता जा रहा हूं, आप बीच में बोलेंगे नहीं।" राजासाहब ने हामी भरी। बोले–"ठीक है, आप जो चाहें वही करें, हम मुंह नहीं खोलेंगे !"

राजासाहब के साथ बातचीत से समझ गया कि मुझ पर उनका संदेह अब भी शेष है। राजासाहब समझते थे कि मैं कलेक्टर साहब का कोई जासूस हूं। कोई अवसर मिले तो उन्हें फंसाकर जेल भिजवा दूंगा। यह विश्वास उनके मन में जमकर बैठा था। आहार-निद्रा का लगभग परित्याग कर दिन-रात मैं राजासाहब के मंगल-साधन में लगा था, पर राजासाहब मेरे सभी कार्यों को संदेहपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। उसी दिन, दिन के बारह बजे से मालगुजारी वसूली का काम आरंभ हो गया। रात तक अठारह हजार रुपये वसूल हो गए। इसके बाद निजगढ़ कचहरी में मालगुजारी वसूले जाने का आदेश जारी कर उस दिन काम बंद करवाया।

सच्चरित्रता के लिए जमानत देने को जिन मुखियों के नाम हुक्मनामा जारी किया गया था, हाकिम से अनुरोध कर उसे रद्द करवा दिया। हाकिम तालबस्त से डेरा उठाकर खोरधा की ओर चल दिए।

मैंने तालबस्त छोड़ने के पहले उन पाटयोषी पंडितजी को बुलाया था। पास बिठाकर तरह-तरह के मधुर आलाप से उन्हें सांत्वना देकर क्षमा मांगी थी। ब्राह्मण पंडितगण पीतल की पतीली की तरह होते हैं, जितनी जल्दी गुस्से से लाल हो जाते हैं उतनी ही जल्दी ठंडे भी पड़ जाते हैं। पंडितजी मुझ पर बहुत खुश हो गए। मुझ जैसा सख्त हाकिम प्रजा के

सामने हाथ जोड़-जोड़कर उनसे माफी मांग रहा है, बात कर रहा है, यही उनके आनंद का कारण था। उन दिनों मैं डोमपड़ा इलाके भर में एक सख्त हाकिम के रूप में प्रख्यात था। लोग कहते थे–"तीन-तीन साहबों के सामने जब यह लोगों को मार रहा है, जेल भिजवा रहा है तो यह जरूर एक सख्त और समर्थ हाकिम है।"

मैं तालबस्त कचहरी बंद करके निजगढ़ आ गया। राजासाहब राजमहल के पिछवाड़े उद्यान में अपने द्वारा निर्मित बंगले में रहते थे। महल के अंदर नहीं आते थे। महल के किसी भी व्यक्ति के प्रति उनमें विश्वास नहीं था। कुछ घटनाएं आदमी के मन पर अमिट छाप छोड़ जाती हैं, जिनका मिटना आसान नहीं होता। राजासाहब बरामदे में एक कुर्सी पर बैठे हुए थे। वसूले गए रुपये लेकर मैं उनके सामने उपस्थित हुआ। रुपयों की थैलियों को देख राजासाहब कह उठे–"नहीं, नहीं, हम ये रुपये नहीं लेंगे। तुमने वसूला है, तुम्हीं ले लो। हम सिर्फ इलाके का बंदोबस्त चाहते हैं।" इतनी-सी बात कहकर वे अंदर चले गए। पास वाले किसी ने दरवाजा बंद कर दिया। और कुछ कहने का अवसर ही नहीं मिला मुझे। राजासाहब के पास से लौटकर रानी माता के पास खबर भिजवाई। महल वाले पढ़ियारी ने आकर खबर दी–"जब राजासाहब ने रुपये लेने से इनकार कर दिया है, रानी माता कैसे रख लेंगी ?"

रुपये रखने के लिए एक संदूक या पिटारा मांगा, वह भी नहीं मिला। रुपये-पैसे आदि कचहरी के बरामदे में हैं, वह भी सही तरीके से थैलियों में नहीं; कुछेक फटे-पुराने बोरे और कपड़े की पोटलियों में बंधे हुए। राजासाहब ने तो स्पष्ट रूप से कह दिया था कि वे रुपये नहीं लेंगे। जितने रुपये वसूले गए हैं और होंगे, वह मैं लूंगा। मैंने सोचा, वैसे कौन-सा कार्य किया है मैंने कि इतने सारे रुपये ले लूं ! तीन महीने की तनखाह पेशगी ले ली थी। उस पर खाने-पीने का खर्च राजासाहब दे रहे थे। तो इतने पैसे मैं किसलिए ले लूंगा ! सचमुच उस समय मुझ में रुपयों के प्रति किसी प्रकार का लोभ नहीं था। कई हाकिम, कितने भद्र पुरुष मध्यस्थता कर पिछले पांच सालों से झगड़ा निबटाकर इलाके का बंदोबस्त नहीं कर पाए। कटक और कलकत्ता के कितने बड़े-बड़े वकीलों ने अधिक मालगुजारी नियत कर बंदोबस्त करवा देने का विश्वास दिलाकर राजसाहब से लगभग बीस हजार ऐंठ लिए। राजासाहब ने कर्ज लेकर वकीलों के पैसे दिए थे। यद्यपि राजा साहब के मन में अभी तक मेरे लिए विश्वास नही जन्मा था और चार-पांच महीने बीत जाने पर भी मेरे साथ अभी तक दिल खोलकर बात तक नहीं की थी। फिर भी उनके कार्य-साधन के लिए तन-मन-प्राण से मैं दिन-रात एक कर रहा था। यहां तक कि मैं उस समय अपने घर के बारे में भी भूल गया था।

उस समय राजासाहब पर कटक वाले दो साहूकारों का लगभग पच्चीस हजार का कर्ज था। राजासाहब को कुछ न बताकर बहंगियों के जरिए वे रुपये कटक ले आया। बालूबाजार वाले एक साहूकार का सारा कर्जा चुकाकर पंजीकृत तमस्सुक पर वसूली दर्ज करा दी।

काफी अमीनों को मुकर्रर कर एक साथ इलाके भर में बंदोबस्त का काम शुरू करवा दिया। मेरा एक बड़ा-सा काठियावाड़ी घोड़ा था। उसी घोड़े पर सवार होकर देहाती इलाके को गश्त कर अमीनों के काम का मुआयना कर आता। जो सब सरदार मुखिये जेल में हैं, वे छूटने पर माप-जोख के काम में बाधा डाल सकते हैं, ऐसी शंका मन में थी। इसलिए देहातों में माप-जोख का काम जितना शीघ्र हो सके करा लेने का प्रयत्न कर रहा था। देहातों में माप-जोख का काम पूरा होने तक राजासाहब कटक, कलकत्ता में रहे। फिर भी मेरे प्रति उनके मन में काफी संदेह था। हो सकता है, मैं कमिशनर साहब का जासूस हूं और उन्हें किसी मामले में फंसाकर जेल भिजवा दूं। राजासाहब जब से गद्दीनशीन हुए हैं तब से लगातार छह साल तक कई तरह के मामलों में उलझ-फंसकर, अत्याचारित हो कर उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। माता, भ्राता, सभी नौकर-चाकर, पत्नी तक के प्रति उनमें विश्वास नहीं था। हो सकता है, कोई भी खाने में जहर दे दे। इसलिए चार-पांच साल के लिए उन्होंने अन्न त्याग दिया था। मैं एक अज्ञात कुलशील व्यक्ति था। उस पर उनके परम शत्रु कमिशनर साहब द्वारा मुकर्रर किया गया आदमी ! मेरे प्रति उनके मन में संदेह जागना स्वाभाविक था। एकदम आवश्यक न होने पर राजासाहब किसी से मिलते नहीं थे। एक एकांत कोठरी में बैठे-बैठे अपने आप से फिसफिसाकर बात करते रहते। दायें हाथ की तर्जनी से कुछ लिखते रहते। शायद वही उनका खुद के साथ सलाह-मशविरा करने का तरीका था।

राजासाहब का इस तरह का व्यवहार तथा महल के अंदर राजमाता, रानी और दूसरे परिजनों की दुर्गति देख-सुनकर मेरे मन में दारुण कष्ट होता। मुझ में अब यही एक-मात्र भावना थी और लक्ष्य था कि कैसे विपदग्रस्त इस राज-संसार को शांति और सुख दे सकूं। राजासाहब अत्याचारी होते तो मैं उनका पक्षधर नहीं बना होता। राजमहल की दीवार तक जंगल बढ़ आया था। राजमहल के अंदर जाने के लिए बाहर के आदमियों के लिए रास्ता नहीं था। लोग जंगली झाड़ियों को हटाते हुए अंदर आते-जाते थे। छह साल से दूब तक को उखाड़ने के लिए कोई नहीं था। सरदारों की ओर से संतरी तैनात थे, महल के अंदर किसी प्रजा या नौकर-चाकर को आते-जाते देखा जाए तो उसका घर लूट लिया जाता था। उस पर उसे भयानक रूप से मारा-पीटा भी जाता था। मेरी कचहरी घर से सट कर थी। पहले-पहले मैं उठकर सुबह-सुबह जंगली मुर्गों को दल बांधकर दाना चुगते देखा करता था। महल के सिंहद्वार (सदर दरवाजा) के सामने गिरिधर ठाकुर के मंदिर का अहाता है। मैं सुबह-शाम उसी मंदिर के अहाते के अंदर थोड़ी देर के लिए घूमा करता था। एक रोज सुबह मंदिर के सामने वाले फाटक के पास इमली के पेड़ पर एक आठ-दस हाथ लंबे अहिराज सांप को गिलहरी पकड़ कर खाते हुए देख लिया, जिससे मैं काफी भयभीत हो गया। शिकारी-शवर लोगों को लगाकर महल की दीवार से लगभग सौ हाथ तक का जंगल साफ करवाया। महल के पिछवाड़े भी जंगल था, उसे काटने से महल की मर्यादा नष्ट होगी–उस

पर हाथ लगाने का समय आया तो 'मर्यादा' के नाम पर वह जंगल बच गया।

रजवाड़ों में काम करते समय मेरे पास एक दुनाली बंदूक थी। एक शिकारी सिपाही भी मेरे साथ रहता था। मैं रोज सुबह-सुबह घर से जब निकलता तब वह दो-तीन जंगली मुर्गों का शिकार कर लाता।

चार-पांच महीने के अंदर इलाके भर में जमीनों की माप-जोख का काम पूरा हो गया। सब अमीन सदर कचहरी लौट आए और बंदोबस्त के खाते में मौजावार तफसील दर्ज कर दी। प्रजा के कागजात के साथ मिलान भी हो गया। अब मालगुजारी वसूली का काम शुरू करना था। इसलिए राजासाहब की उपस्थिति निहायत जरूरी हो गई। राजासाहब उस समय कलकत्ते में थे। वे मेरा पत्र पाकर आ गए। राजासाहब का भिन्न मनोभाव देख मैं काफी आनंदित हुआ। लगा, अब मुझ पर अविश्वास नहीं था। मुझसे हंस-हंसकर बात करते। सुबह-शाम दोनों कुर्सियों पर पास-पास बैठे बात करते। कभी-कभी रात को बीयर पीने का निमंत्रण भी आता बगीचे से।

अब मालगुजारी वसूली का समय उपस्थित हुआ। राजासाहब प्रति माण चार आने अधिक कर लगा कर मालगुजारी तय करने का आदेश देने लगे। सर्वनाश ! हुक्म सुनकर मेरी बुद्धि भ्रमित हो गई। क्या करूं, क्या न करूं, सोच नहीं पा रहा था। राजासाहब को कई तरह से समझाया, डराया—"आप दो पैसे अधिक मालगुजारी तय करके लगान वसूल करने की कोशिश में पचास हजार तक कर्ज कर चुके। कितने हाकिम, कितने मध्यस्थ थक गए। पांच साल गुजर गए उसी में। पर कुछ भी नहीं हो पाया। चार आने की बढोत्तरी कभी भी, किसी तरह से भी नहीं हो सकती। यह मैं नहीं कर सकूंगा। कटक लौट जाऊंगा।" नौकरी छोड़ कटक वापस चले जाने का भय दिखाया, यह सच है, पर वे मुझे खदेड़ते तो भी मैं नौकरी छोड़कर नहीं आता। इतनी दूर बढ़ आया, अब अंत में सब छोड़-छाड़ कर भाग जाऊंगा क्या ? एक-दो बार नहीं, कई बार राजासाहब पर गुस्सा कर, उठकर चला अया और फिर जाकर उन्हें समझाया। हर बार राजासाहब धीर कोमल स्वर से हंसते हुए कह देते—"बाबू, आपको किसी तरह भी यह काम करवाना होगा।" उसके उत्तर में "यह मुझसे नहीं हो सकता" कहकर मैं उठकर चला आता। उधर कुछेक मुखियों को और रैयतों को मनाता रहता।

हर बार राजासाहब को कह आता—"यह मुझसे नहीं होगा।" और हर बार वे कहते—"बाबू, आपको यह कर देना होगा।" राजासाहब के साथ इसी तरह पांच-छह दिन बीत गए। उधर मैंने भी बड़े-बड़े मुखियों को और रैयतों को समझा-बुझाकर कुछ हद तक राजी कर लिया था। प्रति माण चार आने के बढ़ती लगान में बंदोबस्त होना निश्चित हो गया।

बंदोबस्त का काम लगभग चौथाई खत्म हुआ होगा तब ढेंकानाल जिला कोर्ट आफ वार्ड्स में असिस्टेंट मैनेजर के पद पर मुकर्रर होने का आदेश कमिशनर साहब के दफ्तर

से आया। पर राजासाहब मुझे किसी भी तरह छोड़ने को राजी नहीं हुए। मुझसे कहा–"हर महीने ढाई सौ वेतन दूंगा।" उस पर बत्तीस रुपये के स्टांप पर ऐसी शर्त लिख देने को कहा जिससे किसी भी अपराध के कारण मुझे नौकरी से बाहर करने पर वही ढाई सौ रुपये पेंशन के रूप में बरकरार रहेगा।

राजासाहब और मैं दोनों कटक आकर कमिशनर साहब से मिले। राजासाहब ने साहब से मेरे बारे में कहा तो साहब महोदय ने हुक्म किया, "नहीं, नहीं, आपको फकीरमोहन बाबू को छोड़ना होगा। उनके बारे में गवर्नमेंट को रिपोर्ट की गई है। इसके अलावा और कुछ नहीं होगा।"

साहब ने मुझसे अलग बुलाकर कहा–"यह राजा पगला है। इसकी बातों का कोई ठिकाना नहीं है। इसकी बात सुनना उचित नहीं होगा। हम आपको सरकार की ओर से एक ऊंचा पद दिलवाने के लिए ढेंकानाल ले आए हैं।"

मेरा डोमपड़ा छोड़कर ढेंकानाल जाना एक तरह से निश्चित हो गया। डोमपड़ा का जो काम बाकी था उसे ढेंकानाल में रहकर पूरा कर देने का वायदा कर आया।

मैं कटक में एक घर बनाने के लिए जगह ढूंढ रहा था। राजासाहब ने वह बात सुनी थी। मेरे डोमपड़ा छोड़कर आने के कुछ दिन पहले एक दिन बगीचे वाली कोठी के बरामदे पर बैठे हम दोनों बतिया रहे थे। प्रसंगवश राजासाहब ने मुझसे पूछ लिया–"कटक में आपका घर बनाने वाली बात कहां तक पहुंची ?" मैंने कहा–"अभी तक जगह ही नहीं मिली है, मिलेगी तो घर बनाऊंगा।"

राजासाहब ने पूछा–"कैसा घर बनाएंगे ? कितना खर्च होगा ?"

मैंने कहा–"एक छोटा-सा मिट्टी का घर बनाऊंगा। ज्यादा-से-ज्यादा ढाई-तीन सौ रुपये लगेंगे।"

राजासाहब ने पूछा–"आपके मन-माफिक एक घर बनवाया जाए तो कितना खर्च होगा ?"

मैंने कहा–"पांच हजार रुपये में एक अच्छा-सा घर बन सकता है। पर मुझे इतने रुपये कहां से मिलेंगे जो मैं पक्का मकान बनवाऊंगा !"

राजासाहब ने हंसते हुए कहा–"अच्छा, आप पांच हजार रुपये ले जाएं। एक पक्का मकान बनवाइएगा।" इन पांच हजार के अलावा उन्होंने मुझे एक नेपाली खुकरी और मेज पर रखने की दवात भी दी थी। मैं राजासाहब से इनाम पाऊंगा, ऐसी आशा मेरे मन में, सपने में भी उदित नहीं हुई थी। राजासाहब, देहात की बकाया राशि के पचास हजार रुपये वसूल कर ले लेने के लिए बार-बार कहते, पर मैं उनकी अवज्ञा कर देता था। सोचता, सही तनखाह तो पा रहा हूं, उस पर बंदोबस्त का काम न हो तो भी मुझे खुराक-पोशाक का खर्च दे रहे हैं ! उस पर देहात की रकम कैसे वसूल कर लूं !

राजासाहब ने मुझे पांच हजार रुपये का जो पुरस्कार दिया था, उसे तो कुछेक सालों

में खर्च कर डाला, परंतु उनकी मेज पर की कांच की वह बड़ी दवात मेरे साथ है। अंत तक रहेगी। अब उसी से लिख रहा हूं। मेरी सभी कविताएं, उपन्यास उसी की स्याही से लिखे गए हैं। दवात लेकर बैठता हूं तो वही राजासाहब श्री रघुनाथ मानसिंह भ्रमरवर की गंभीर मूर्ति सामने आ जाती है। राजासाहब की उक्ति के रूप में मैंने जो कुछ भी लिखा है, लिखते समय लगता है जैसे राजासाहब मुझसे कहते जा रहे हैं और मैं लिखता जा रहा हूं।

राजासाहब एक शिक्षित व्यक्ति थे। नई तरह की फायदेमंद खेती कर इलाके भर की उन्नति की इच्छा उनमें सदा रहती थी। तरह-तरह के विदेशी फल-फूलों के वृक्ष कलकत्ता से मंगवाकर एक सुंदर उद्यान बनवाया था उन्होंने, पर एक भी कार्य वे अपनी इच्छानुसार नहीं कर पाए। उन्होंने अपने शासनकाल का अधिकांश समय हाहाकार में बिताया। दयामय परमेश्वर उनकी स्वर्गीय आत्मा को शांति दे !

26. ढेंकानाल में असिस्टेंट मैनेजरी

ढेंकानाल के मैनेजर थे बाबू बनमाली सिंह। वे एक सुशिक्षित, न्यायपरायण, धर्मनिष्ठ, मितव्ययी तथा संयमी व्यक्ति थे। दूसरे राज-कर्मचारियों में बाबू प्यारीमोहन सेन राज-शिक्षक, बाबू विजयकुमार चक्रवर्ती असिस्टेंट सर्जन थे। नाबालिग राजा थे स्वर्गीय दीनबंधु महेंद्र बहादुर। पूर्ववर्ती राजा स्वर्गीय भगीरथ महेंद्र बहादुर पुत्र-विहीन थे, अतः उन्होंने वौद-राजा के तृतीय पुत्र को पोष्यपुत्र के रूप में गोद ले लिया था। क्या रूप, क्या गुण, सभी विषयों में दीनबंधु महेंद्र बहादुर राजा भगीरथ महेंद्र बहादुर के उपयुक्त उत्तराधिकारी थे। जैसी लावण्यमयी देहयष्टि थी वैसा ही प्रशस्त चित्त था। सभी के प्रति उनकी समदृष्टि और दया थी। वे जब नाबालिग थे तब उन की इच्छा के अनुसार व्यय के लिए राशि सरकारी तहबील से निर्धारित की गई थी, पर वे अत्यंत दानशील थे इसलिए उतने में काम चलता नहीं था। गुप्त रूप से वे हर महीने दूसरों से कुछ-न-कुछ कर्ज लिया करते थे। अत्यंत परिताप का विषय था कि उन्होंने सिंहासन-प्राप्ति के अल्प समय पश्चात ही सभी पार्थिव संपर्कों को त्यागकर स्वर्गयात्रा की।

महीना भर काम करने के बाद पूजा की छुट्टी (दशहरे की छुट्टी) आई। उसी अवसर पर बालेश्वर जाकर बालिका-सी पत्नी को ढेंकानाल ले आया। मेरी पहली पत्नी की बालिका कन्या भी साथ आई। असिस्टेंट मैनेजर के रहने के लिए स्वतंत्र घर नहीं था। पहले जाकर डाकबंगले में ठहर गया। बाद में सुपरिंटेंडेंट साहब ने घर बनाने के लिए छह सौ रुपये मंजूर किए। राजमहल से थोड़ी दूर बांस का एक घना जंगल था। लगता है, काफी दिन पहले वहां किसी राजा का गढ़ था। चारों ओर गढ़ की खाई थी, टूटी दीवार थी और बीचोंबीच सपाट भूमि थी। बांस कटवाकर अपनी कल्पनानुसार खुद अपनी निगरानी में घर बनवाया। पानी के लिए भीतर-बाहर कुएं खुदवाए। यह काम पूरा करने के लिए पूरे सोलह सौ रुपये खर्च हुए थे। पहले मंजूर हुए छह सौ रुपयों को खरचने के बाद अपनी जेब से हजार रुपये लगे थे। असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट राय नंदकिशोर दास बहादुर ने अनुग्रह कर सुपरिंटेंडेंट साहब से कहकर सरकारी तहबील से वह रुपये मुझे दिलवाए थे।

उस समय जाने-पहचाने शिक्षित ग्रंथकारों में बाबू विच्छंद पटनायक एक थे। संबलपुर स्कूल डिप्टी-इंसपेक्टर के रूप में उनकी पहली नियुक्ति थी। उसके बाद वे अनुगुल में तहसीलदार के पद पर नियुक्त हुए। मेरे ढेंकानाल में रहने के तीन-चार महीने बाद विच्छंद बाबू की चिट्ठी आई। छुट्टी पर उन्हें गांव जाना था। अनुगुल से तालचेर तक आकर नदी के रास्ते नाव से चलने में सुविधा रहती। विच्छंद बाबू की अभ्यर्थना के लिए गढ़ से तीन कोस की दूरी पर उत्तर दिशा में नदी के तटवर्ती बउलपुर नामक गांव के पास

अमराई में जगह साफ-सथुरी कर दो-एक छोटे-छोटे छपरीले घर बनवा कई तरह के खाने की चीजें संगृहीत की गई थीं। भोर से बनमाली बाबू, विजय बाबू, प्यारी बाबू और मैं दो हाथियों पर सवार हो सुबह लगभग नौ बजे बउलपुर अमराई में पहुंचे। थोड़ी देर बाद विच्छंद बाबू की नाव भी आ पहुंची। सबने मिलकर ब्राह्मणी नदी में स्नान किया। उसके बाद आरंभ हुआ आमोद-प्रमोद। विच्छंद बाबू ने नंबर वन अर्थात प्रथम श्रेणी की एक बोतल ब्रांडी पेटी में से निकालकर बोतल का कार्क खोल दिया। विच्छंद बाबू सभी के पुराने दोस्त थे। काफी समय के बाद आज मिले थे। आनंद की सीमा नहीं थी और उस पर आनंदमयी का आविर्भाव हुआ था। शराब की एक खूबी या दोष यह है कि एक बार पी लें तो बार-बार पीने की इच्छा होती है। जितनी अधिक पीओगे उतनी अधिक पीने की इच्छा होगी। कई निर्बोध और असावधान व्यक्ति पी-पीकर मर गए हैं। बनमाली बाबू काफी सावधान थे। परिमित मात्रा लेकर हट गए। बाबू प्यारीमोहन सेन सदा शराबियों के साथ मिले रहते थे। उस समय हर शिक्षित भद्र पुरुष शराबी था, पर वे खुद कभी छूते तक नहीं। डाक्टर विजय बाबू और विच्छंद बाबू रात-दिन पीने के अभ्यासी थे, अत: हरदम उनके साथ शराब रहती। दुख की बात है कि ये दोनों शिक्षित और योग्य व्यक्ति सिर्फ मद्यपान के कारण असमय ही प्राण त्यागकर चले गए। मेरी पीने की आदत नहीं थी, यह सच है। पर, यार-दोस्त आ मिलें तो ले लेता था। फिर भी सदा खूब सावधान रहता और शराब के नशे में होश खोने तक कभी भी नहीं पीता। भय से कभी भी विशुद्ध शराब या तीखी शराब छूता नहीं। शराब में काफी पानी मिलाकर लेता। पर आज वह ज्ञान लोप हो गया था। हम तीनों ने मिलकर उस तीक्ष्ण शराब की बोतल खाली कर डाली। शराब पीते समय जिह्वाग्र से लेकर नाभि तक अग्निस्पर्शवत् जल उठता था, तब भी "पित्वा पित्वा पुन: पित्वा, यावत् पतति भूतले।"

दिन के लगभग तीन बजे हम लोग बउलपुर छोड़कर तीन कोस तक नाव में नीचे आकर एक और गांव के पास नदी के किनारे ठहर गए। वहां भी सभी प्रकार की चीजें तैयार थीं। सभी ने पानाहार किया। पर मैं उठ नहीं सका। दूसरे दिन सुबह विच्छंद बाबू नाव में अपने गांव की ओर रवाना हो गए। हम लोग गढ़ को लौट आए। सच है कि दो दिन के बाद मैं प्रकृतिस्थ हो गया, पर शरीर ऐसा विषाक्त और रोगाक्रांत बन गया था कि मैं कई सालों तक बिलकुल अकर्मण्य बन गया। सिर-दर्द, अजीर्ण, अनिद्रा, बवासीर के कारण अत्यधिक रक्तस्राव—सभी प्रकार के रोगों ने एक साथ शरीर पर आक्रमण किया। पीना एकदम छोड़ दिया होता तो शायद कुछ स्वास्थ्यलाभ हुआ होता, पर मैं क्षणिक स्वास्थ्यलाभ के लिए रोज संध्या के समय दो तोले देशी शराब पीने लगा। उस समय नीच जाति के लोगों से लेकर कायस्थ, ब्राह्मण तक प्राय: सभी मद्यप थे ! उनमें शराब साधारण पेय-सी बन गई थी। बाबुओं के घरेलू नौकर संध्या के समय बाजार से दूसरी खाने-पीने की चीजों के साथ पिता, पुत्र, भ्राता आदि घर के पुरुषों के लिए अलग-अलग कांच की बोतलों

में शराब खरीद लाता। उस पर संध्या से लेकर रात दस बजे तक शुंडी की दुकान पर बैठक रहती। ढेंकानाल के एक शुंडी ने मुझसे कहा है–"बाबूजी, बाबुओं के कारण मैं रात को साग-तरकारी नहीं खा सका। दाल-मछली जो कुछ बनाई थी, बाबू लोग रसोई में घुसकर हंडी से ही खा गए।"

प्रश्न–"कौन-से बाबू रे?"

"किसका नाम लूं ? ब्राह्मण, कायस्थ सभी।" मद्यप कितना नीच होता है, कितना जघन्य काम कर सकता है यह उसी का एक दृष्टांत है ! सिर्फ शराब ही नहीं, उस समय ढेंकानाल में अफीम भी काफी चलती थी। लोग मादक-सेवी थे। भद्र व्यक्तियों में दुष्कर्मी व्यक्ति लगभग नहीं के बराबर थे।

रजवाड़ों में ज्ञान और सभ्यता के प्रचार-कार्य में ढेंकानाल अग्रणी है। ज्ञान और भाषा का प्रचार, अंग्रेजी स्कूल, संस्कृत विद्यालय, खैराती चिकित्सालय, राजपथों का निर्माण आदि सभी विषयों में भूतपूर्व महाराज प्रातःस्मरणीय हैं। महाराज भगीरथ महेंद्र बहादुर आद्य-प्रतिष्ठाता थे। वे खुद संस्कृत और ओड़िआ भाषा में पारंगत थे। न्यायशास्त्र के विद्वान थे। रोज संध्या से लेकर रात के दस बजे तक सभी दैनिक कार्यों के उपरांत वे पंडितों की सभा में बैठते। एक दिन उत्कल भाषा में तो दूसरे दिन संस्कृत काव्य-ग्रंथों की चर्चा होती। न्यायशास्त्र पर चर्चा को वे अधिक सुखकर मानते थे। काशी, नवद्वीप तथा अन्यान्य देशीय पंडित-मंडली सदा उनके द्वारा आयोजित सभा में उपस्थित रहती। आखेट भी उनके लिए अत्यंत विनोद का विषय था। उनके द्वारा मारे गए महाबली व्याघ्रों की संख्या दर्ज कर रखने के लिए एक रजिस्टर था जिसमें अंकित तीन सौ अस्सी के बारे में मैंने सुना है। चीते, तेंदुए गिनती में आते नहीं। प्रजा को वे पुत्रवत् मानते थे। निजगढ़ में बना वृहत्तम भगीरथ सरोवर उनकी अक्षय कीर्ति के रूप में विद्यमान है। महाराज की तरह उन्नत स्थूल शरीर वाले पुरुष को मैंने जीवन में और कहीं नहीं देखा है। उनके बैठने के लिए कुर्सी स्वतंत्र ढंग से बनाई गई थी। दो आदमी उस कुर्सी पर आसानी से बैठ सकते हैं। कटक प्रिंटिंग कंपनी के कार्यालय में वे कभी-कभार आते थे। अतः उनके लिए दो कुर्सियां दोनों मंजिलों में रखी रहती थीं, जो आज तक हैं। कमिशनर साहब के सिरश्तादार बाबू विचित्रानंद दासजी के तुलसीपुर वाले उद्यान में रजवाड़ों के सभी राजाओं, दीवान और केंद्रपड़ा के राधेश्याम नरेंद्र आदि बड़े-बड़े जमींदारों को लेकर एक सभा हुई थी। उसी सभा में मेरा राजासाहब के साथ प्रथम परिचय हुआ था। कारण के बारे में मुझे सही याद नहीं है। पर वे मुझे प्रथम भेंट तथा बातचीत के समय से ही अत्यंत स्नेह-भरी नजरों से देखते थे। अन्य किसी जगह मुलाकात हो तो घंटों स्नेह से बतियाते। एक दिन कटक के बक्सी बाजार में अचानक मुलाकात हो गई। नीलगिरि के राज-परिवार के लिए कई मनोहर चीजें खरीदकर दोनों हाथों में लिए हुए था। दूर से महाराज की विशाल गाड़ी देखी तो दूकान के अंदर छिप गया। पर महाराज की नजर मुझ पर पड़ गई थी। दुकान के सामने गाड़ी रोककर

'फ्कीरमोहन बाबू, फ्कीरमहोन बाबू' पुकारते हुए वे मेरी ओर बढ़ आए। मैं छिपने की जगह से निकल आया और उन तक दौड़ा आ गया। मेरे दोनों हाथ घिरे हुए थे। सिर नवाकर अभिवादन किया। महाराज बहादुर ने लगभग आधे घंटे तक उसी सड़क के किनारे खड़े-खड़े मेरे साथ बात की। महाराजा साहब के निरहंकारी स्वभाव और सदाशयता का परिचय देने के लिए मैंने यहां इस तुच्छ विषय का उल्लेख किया है। महाराज अत्यंत गुणग्राही थे। वे मातृभाषा की उन्नति के लिए विशेष रूप से यत्नशील थे।

असिस्टेंट सर्जन, बाबू विजयकुमार चक्रवर्ती ढेंकानाल में सपत्नीक रहते थे। उनकी पत्नी जैसी रूपवती, वैसी ही पतिपरायणा थीं। बंगला और सामान्य रूप से अंग्रेजी में उनका ज्ञान था। डाक्टर बाबू की और मेरी पत्नी, दोनों परदेसी थीं। अन्य बंधु, स्वजन पास नहीं, अतः दोनों में विशेष प्रीति थी। वे दोनों सदा एक-दूसरे के घर आती-जाती थीं। धीरे-धीरे मेरे लिए ढेंकानाल में रहना कष्टप्रद होने लगा था। सदा रोग-ग्रस्त, उस पर हर समय शैयाशायी बना रहता। काम न करूं तो चले नहीं। अतः जैसे-तैसे कचहरी जाकर काम कर आता। आफ्त अकेली नहीं आती, आफ्त के पीछे आफ्त बनी रहती है। भावी उन्नति की आशा से मासिक ढाई सौ की तनखाह और स्थायी पेंशन का त्याग कर आया था। अब सभी आशा-भरोसा निर्मूल हो गए। इसका कारण जताने के लिए उस समय के संबंधित विवरण का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है।

उत्कल के स्थायी कमिशनर उत्कल-बंधु रेवेनशा साहब तीन महीने के लिए रेवेन्यू बोर्ड के मेंबर बनकर गए तो उनकी जगह कटक जिले के कलेक्टर जान बीम्स साहब कमिशनर बने। रेवेनशा और बीम्स साहब में पहले से मनोमालिन्य था। बोर्ड में कार्यकाल की समाप्ति के बाद अगर रेवेनशा साहब कहीं दूसरी जगह कमिशनर बन कर चले गए होते तो जान बीम्स स्थायी रूप से उत्कल में रह गए होते। उस समय रेवेनशा साहब की अन्यत्र जाने की संभावना भी थी। पर जान बीम्स साहब उत्कल में कमिशनर बने रहें, यह रेवेनशा साहब नहीं चाहते थे। हम उत्कलवासी इस विषय को उत्कल के लिए दुर्भाग्य की बात समझ रहे थे, क्योंकि जान बीम्स भी उत्कल के परम हितैषी थे। उत्कलवासियों के प्रति उनके मन में विशेष सहानुभूति थी। उत्कल के जाने-पहचाने वंश झगड़े-मुकदमों में फंसकर छिन्न-भिन्न हो जाएं, यह साहब महोदय के लिए कष्टकर था। वैसी परिस्थिति में वे खुद उस क्षेत्र में उपस्थित रहकर घरेलू ढंग से उसकी मीमांसा कराते। कोई भद्र संतान दैवात् विपदा में फंसकर उनसे अनुरोध करे तो वे साध्यानुसार उसकी रक्षा करने का प्रयास करते। अत्याचारी जमींदार उनके लिए शत्रु थे। उत्कल का परम दुर्भाग्य कि अब तक रेवेनशा और जान बीम्स जैसे कमिशनर उत्कल में नहीं आए। ब्रिटिश गवर्नमेंट के शासन-तंत्र में हाकिम लोग एक-एक पहिए के समान थे। रेवेनशा साहब कुछ दिनों के लिए उत्कल को लौट आए थे। जान बीम्स फिर से कटक के कलेक्टर बने। पहले इन दोनों हाकिमों में मतभेद था, अब वह प्रबलतर बना। उस समय

लेफ्टीनेंट-गवर्नर ओड़िसा आए थे। उन्होंने हाकिमों के बीच चलते विवाद-विसंवाद के बारे में सुनकर कहा था–"ओड़िसा वांट्स न्यू ब्लड।"[1] रेवेनशा साहब वर्धमान के कमिशनर बनकर और जान बीम्स साहब श्रीहट्ट के जज और कमिशनर बन कर चले गए। ओड़िसा के कमिशनर बन कर आए मिस्टर स्मिथ। स्मिथ और रेवेनशा साहब में दोस्ती थी, इसलिए स्वाभाविक है कि जान बीम्स के किसी भी काम में स्मिथ साहब की सहानुभूति रहेगी नहीं। लोग जान बीम्स के द्वारा अनुगृहीत और नियुक्त व्यक्तियों के प्रति मुसीबत और परेशानी की शंका रखते थे। कुछ दिन के बाद बीम्स साहब के द्वारा नियुक्ति पाए कुछेक मुख्य कर्मचारियों की पदच्युति के कारण लोगों का अनुमान विश्वास में बदल गया।

ढेंकानाल में असिस्टेंट मैनेजरी (2)

उस समय मेरे यहां एक पुत्र हुआ था। ज्योतिषियों ने गणना करके जन्मपत्री बनाई। रात के बारह बजे जन्मा था, अत: सिंह लग्न। पर उस दिन के सिंह लग्न में जन्मी संतान की सूतिकागार ही में मृत्यु निश्चित थी। संतान जब जीवित है तब सिंह लग्न हो ही नहीं सकता। समय ठीक नोट करने में कोई भूल हुई होगी। रात के बारह के बाद एक बजे कन्या लग्न आ जाता था। लड़का अवश्य ही इसी लग्न में जन्मा है। बालेश्वर से भी उसी तरह का पत्र आया। पर सही बारह बजे उस शिशु ने जन्म ग्रहण किया था, यह बात निश्चित है। उसके जन्म के समय मैंने ढेंकानाल राज-कचहरी में बारह बजने की आवाज खुद सुनी थी। एक-दो कर गिनती की थी। हानि के भय से आदमी जान-बूझकर अपने-आपको भुलाता है। सोचा, क्या बात है यह, बारह बजे जन्मा होता तो मर नहीं जाता। मेरी भूल हुई होगी। उस समय बारह नहीं बजा होगा, जरूर एक होगा और मैंने गलत सुना है। पुत्र जन्मा है, उस पर प्रथम पुत्र। उस समय हाथ में जो कुछ भी रुपये-पैसे थे, खुशी-खुशी सब दीन-दुखियों को दान कर दिए।

वह शिशु सिर्फ छह महीने जीकर एक सामान्य बीमारी से मर गया। वह पुत्र परम सुंदर था। उसका नाम रखा था मनमोहन। उसका सुगठित मुख आज भी जैसे हृदय पर चित्रित है। अनंत कुशल परमेश्वर ने प्राणि-समाज की वृद्धि और रक्षा के लिए जनक-जननी के हृदय में प्रबल स्नेह की सृष्टि नहीं की है ? पुत्र के मर जाने से मुझे सारा जगत अंधकारमय लगा। सूर्य-किरण मानो आलोक-शून्य हो, पैर के नीचे से मानो धरती खिसकती जा रही हो। मेरी पत्नी की अवस्था अधिक शोचनीय हो गई थी। वे शैयाशायिनी हो कर पड़ी थीं। मैं रो पडूंगा, इसलिए वे रोती नहीं थीं। वे रोएंगी, इसलिए मैं नहीं रोता था। दोनों एक-दूसरे

---

1. ओड़िसा को नए रक्त (अर्थात नवजवानों) की जरूरत है।

से छिपाकर रोते। पत्नी के मन को सांत्वना मिले, इसलिए बलराम दास कृत रामायण का पारायण आरंभ करवाया। ढेंकानाल में एक युवा दांडी ब्राह्मण थे। वह पोथी खूब अच्छी तरह गाते थे। कइयों के घर पोथी पढ़ते थे। पोथी पढ़ना उनका पेशा था। उन्होंने रोज संध्या समय आकर रामायण का पारायण आरंभ कर दिया। सच है कि वे खूब जोर से लंबी तान से गाते थे, पर पाठ के समय मेरी पत्नी मेरी ओर एकटक देखती ही रहती थीं। कुछ भी समझती नहीं थीं। उनका समझना तो दूर की बात है, मेरे लिए भी समझना असाध्य था। अतः पुस्तक-पाठ बंद करवाया। ढेंकानाल महाराज के पुस्तकालय से मूल संस्कृत वाल्मीकि रामायण लाकर पद्यानुवाद करना आरंभ कर दिया। दिन के समय अनुवाद करता और संध्या के समय उन्हें सुनाता। उन्हें प्रायः समझाना नहीं पड़ता था। पद्यों को पढ़ते ही वे समझ लेती थीं। वास्तव में वे धीरे-धीरे पुत्र-शोक को बिसराती गईं। बाल या आदिकांड की रचना और मुद्रण-कार्य समाप्त हुआ।

रामायण के बालकांड का प्रथम मुद्रण हुआ था 1880 में। वह जान बीम्स साहब को समर्पित किया था। उसमें समर्पण-पत्र का हिंदी रूपांतर निम्न प्रकार है—

सेवा में

श्रीयुत जान बीम्स महोदय, बी.सी.एस.

परम आदरणीय महोदय,

आपने ओड़िआ भाषा तथा यहां के लोगों के कल्याण में बुद्धिमत्तापूर्ण एवं हृदय-स्पर्शी रुचि प्रदर्शित की है। आपके इस अनुग्रह को ओड़िसा ने सर्वदा महसूस किया है। आपके इस कृपा-पूर्ण अनुग्रह के प्रति मैं अपनी इस कृति को सादर आपको समर्पित करता हूं।

ढेंकानाल, 1880

मैं हूं
परम आदरणीय,
आपका आज्ञाकारी सेवक
फकीरमोहन सेनापति

बालकांड की मुद्रित पुस्तक मूल्य लिए बिना जन-साधारण में वितरित कर दी। क्रमशः अयोध्याकांड का अनुवाद और पाठ होने लगा। मेरी पत्नी हाथ जोड़े स्थिर भाव से मेरे सामने निश्चल मन से बैठी सुनती रहती थीं। उस समय उनमें बाह्य ज्ञान नहीं रहता। रामजी का बनवास आरंभ होते ही उनकी आंखों से अविरल आंसू बहने लगे। पाठ-समाप्ति के पश्चात उनके सामने की आंसुओं से भीगी हुई भूमि को रोज देखता।

राक्षसी शूर्पणखा श्री रामचंद्र और लक्ष्मण को रिझाने में असफल हो सीता को खाने दौड़ी। इस अंश का श्रवण करते ही वे गुस्से से चीख पड़ीं—"दुष्ट राक्षसी, कुलच्छनी! निर्लज्ज, तू मर जा।"

मेरी पत्नी रोज रामायण के पाठ के समय की प्रतीक्षा करती रहतीं। समय से पहले सभी काम छोड़कर दो छोटे-छोटे आसन बिछाकर बैठी रहतीं। कभी-कभी अन्य समय

भी रामायण का पाठ होता। उनकी इच्छा थी कि मैं अन्य कोई काम न कर सिर्फ रामायण लिखूं और वे सभी काम छोड़कर केवल मात्र सुनें। अयोध्याकांड का अनुवाद भी समाप्त हुआ। मेरी पत्नी ने कहा, "हम लोग पुत्र के लिए क्यों रोएं ? बेटा हमारा नाम रखेगा, इसलिए तो।" और उस पुस्तक को हाथ में लेकर कहा, "यह पुस्तक हमारा पुत्र है ; सदा हमारा नाम रखेगी।" उस समय हमारे दूसरे पुत्र का जन्म हुआ। पुस्तक-पाठ के पश्चात वे मुझे देखकर कहतीं, "तुम किस तरह छंद-से-छंद मिलाकर चटपट गीत लिख लेते हो !" दिन-रात सीताजी और रामचंद्रजी के वृत्तांतों को लेकर बातचीत करने की बड़ी इच्छा थी उनकी। पर, पास कोई स्त्री नहीं थी। एक दासी थी। उसी को पास बिठाकर राम और सीता के बारे में सुनातीं। पर वह एकटक उन्हें देखती रहती, कुछ भी समझती नहीं थी। एक दिन मैं एक अलग कमरे में बैठकर उनकी बातें सुन रहा था। पत्नी गर्वित ढंग से आनंद मन से कह रही थीं, "हमारे बाबू खूब अच्छी तरह गीत लिख लेते हैं.... चटाचट।" दासी ने जवाब दिया, "हां-हां, हमारे गांव में भी कई लोग हैं जो पोथी पढ़ते हैं, गीत गाते हैं।" पत्नी का मुंह सूख गया। उन्होंने आशा की थी कि वह दासी स्वामी की प्रशंसा करेगी, पर उसने कहा कि उसके गांव में भी कई और हैं जो पोथी पढ़ते हैं।

पत्नी की आराधना-पीठ पर यत्न के साथ एक रामायण की पोथी रखी हुई थी। वे रोज स्नान कर उपासना के बाद एक या दो अध्यायों का पाठ कर उस पर फूल-चंदन लगाकर पूजा करतीं। किसी भी दिन, किसी भी समय सीता देवी शब्द सुनते ही हाथ जोड़-कर प्रणाम करतीं। उसी क्षण उनकी आंखों से आंसू आ जाते। वे अत्यंत ईश्वर-परायणा और सत्यवती थीं। ध्यान-धारणा में ही उनका काफी समय बीत जाता।

मेरे प्रथम पुत्र के जन्म या मृत्यु के दस-बारह साल पहले से मैंने मातृभाषा की आलोचना का काम लगभग छोड़ दिया था। कई कारणों से स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों की सूची से मेरी सभी पुस्तकें निकाल दी गई थीं। नई पुस्तक लिखूं तो चलने की आशा भी नहीं थी। लिखूं भी तो छपवाने के लिए अर्थाभाव था। पढ़ेगा भी कौन ? स्कूलों में पढ़े-लिखे बाबू लोग ओड़िआ पुस्तक को अवज्ञा की दृष्टि से देखते थे। पर कैसा स्वभाव है मेरा, कि लिखे बिना रह नहीं पाता। कभी-कभार बंगला मासिक पत्र और साप्ताहिक पत्रिकाओं में लिखता था। उत्कल के अत्याचारी हाकिम, रिश्वत लेने वाले कर्मचारियों और प्रजा-पीड़क जमींदारों के दुष्कर्मों को उघाड़ने के लिए विद्रूपात्मक पद्य लिखता, उपनाम से। कभी-कभी उन्हीं पद्यों के विषय को लेकर लोग आंदोलित होते। रामायण लिखते समय मन में भावांतर उपस्थित हुआ। बंगला में लिखकर बंगदेशीय कवियों में मेरी गणना नहीं हो पाएगी। बंग भाषा में अभाव भी क्या है ? कोई पढ़े न पढ़े, ओड़िआ में ही पुस्तक लिखूंगा। अब कोई न पढ़े, भविष्य में तो कोई-न-कोई पढ़ेगा ही। मेरी मातृभाषा में एक पुस्तक की संख्या तो बढ़ेगी। बंगला में लिखना एकदम से त्यागकर ओड़िआ में कविता लिखना आरंभ कर दिया। विशेषकर मेरी पत्नी जिस श्रद्धा और भक्ति से सुनने बैठ जातीं उसी से समय मिलता तो रामायण

लिखने लगता। पर उस समय मेरी बीमारी ढेंकानाल में दिन-ब-दिन बढ़ती गई और मैं बिस्तर पर पड़ गया। अधिक लिखने को समय ही नहीं मिल पाता।

ढेंकानाल में एक अंग्रेज इंजिनीयर और एक बंगाली ओवरसीयर थे। ये दोनों जान बीम्स साहब द्वारा नियुक्त किए गए थे, अतः अनुग्रहीत थे। कार्य-संपादन में त्रुटि रह जाने के कारण वे दोनों कार्यच्युत कर दिए गए थे। अब मेरी पदच्युति के बारे में लोग तरह-तरह की आशंका करने लगे। उस समय आम धारणा यह थी कि बीम्स साहब द्वारा नियुक्त सभी कर्मचारी कमिशनर साहब को अप्रिय हैं।

उस समय ढेंकानाल राज-संसार में एक ब्राह्मण युवक कर्मचारी था। उसकी पदवी थी, खानसामा। वह अपने को राजा के 'ब्राह्मण पुत्र' के नाम से परिचित कराता और लोगों के सामने राजकुमार की तरह आचरण करता। वह बहुत ही स्वार्थी था। अकेला सुख से रह सकेगा, इसलिए बाप से अलग होकर रहता था। एक बार किसी मुकदमे में अपने बाप के नाम वारंट निकालने को मेरी अदालत में उसने प्रार्थना की थी। पर मैंने उसे नामंजूर कर दिया था।

महाराज भागीरथ महेंद्र बहादुर के परलोक सिधारने के बाद राज-सरकार के कर्मचारियों की व्यवस्था करने के लिए कमिशनर साहब ढेंकानाल आए। अन्यान्य विभागीय कर्मचारियों को व्यवस्थित करके उन्होंने महाराज के खास परिचारक नौकरों का बंदोबस्त आरंभ किया। उस विभाग में कुल बहत्तर कर्मचारी थे। कमिशनर साहब ने हुक्म दिया कि एक बालक राजा के पास इतने नौकर-चाकर रखकर हल्ला-गुल्ला नहीं करना चाहिए। काठिलागी (दातून की व्यवस्था करने वाले) नौकर थे चार—एक जंगल से दातून काटकर लाता। एक उसे सही नाप से काटकर दातून के योग्य बनाता। एक उसे लेकर 'मणिमा' (राजा) के दातून करने की जगह तक पहुंचा देता। और चौथा उसे ' मणिमा' को पकड़ाता। साहब ने उनमें से तीन को निकालकर सिर्फ एक को रखा।

इसी तरह हर विभाग में नौकर घटाने लगे। खंदाघर (सार्वजनिक रसोईघर) में सुआर (रसोइया) थे छह। उनमें से दो को रखकर चार हटा दिए। पदच्युत सुआरों में एक कटक जिले का निवासी था। वह काफी दिन ढेंकानाल में रह चुका था और एक दुमंजिला मकान बनवाकर एक तरह से ढेंकानालवासी बन गया था। उसके सामने यह मुसीबत आ खड़ी हुई। किसी तरह नौकरी पर रखे जाने के लिए उसने मुझे पकड़ा। उसे साथ लेकर मैं साहब के पास पहुंचा। "यह रसोइया न रहे तो राजा का काम नहीं चलेगा। यह राजा के लिए मिष्ठान्न तैयार करता है। पाव-रोटी बना सकता है। इस तरह के एक रसोइये का रहना बहुत जरूरी है," साहब से प्रार्थना की। उन्होंने पूछा—" कितनी तनखाह पाता है ?" "सात रुपये !" "नहीं-नहीं, इस जैसे लायक आदमी को मासिक तीस रुपये मिलने चाहिए।" साहब ने हुक्म दिया और वह उसी वेतन पर रह गया। उस आदमी की मेरे प्रति प्रगाढ़ भक्ति थी। वह बीच-बीच में मेरे घर आता और आवश्यकता होने पर लड्डू

बना देता। वह अच्छी तरह बातचीत कर सकता था। ओड़िआ लिख-पढ़ सकता था। ढेंकानाल राज-कचहरी में उस समय वकील-मुखतार नहीं थे। मैंने उसकी आय-वृद्धि की इच्छा से उसे अदालत में मुखतार के पद पर नियुक्त कर दिया।

मुखतारी से उसकी कमाई सौ रुपये तक की होने लगी। मेरे प्रथम पुत्र की मृत्यु के थोड़े दिन बाद जिस समय मैं रोग-ग्रस्त था, तब उस मुखतार के किसी मुवक्किल का मुकदमा डिसमिस कर दिया था। उस दिन से मुखतार बाबू घोर शत्रुता का भाव रखने लगे। ढेंकानाल कचहरी का जमादार एक गंजेड़ी था। कुछ करता नहीं था और हरदम गांजे के नशे में धुत रहता। कभी-कभी नशें में धुत हो अदालत में आकर हल्ला-गुल्ला करता, बार-बार मना करने पर भी सुनता नहीं था। एक दिन मैं अदालत में गवाहों के बयान ले रहा था कि वह आया और शोर-गुल करने लगा। मैंने उसके खिलाफ अदालत की अवमानना के जुर्म में पांच रुपये जुर्माना कर दिया। वह मेरा तीन नंबर दुश्मन बना। कचहरी के मुहास्सिल ने छोटी-सी वजह से मेरे साथ दुश्मनी मोल ली। इस तरह दुश्मन हुए चार। उस समय मैं बीमार था। लगभग बिछौने पर पड़ा रहता था। अत्यंत कष्ट से कुछ घंटे कचहरी में बैठकर काम कर आता। दफ्तर के अंदरूनी मामलों को देखने की मुझमें क्षमता नहीं थी। यह दुर्योग था या सुयोग, मैं पेशकार बाबू पर भरोसा करने लगा और वह उससे बहुत राशि कमाने लगा। वह रजिस्टर और फाइलों में मेरी लिखित राय की कांटछांटकर डिग्री की जगह डिसमिस और डिसमिस की जगह डिग्री लिख देता था। दीवानी मामलों में सौ रुपये डिग्री की जगह दस और पांच की जगह पचास कर देता था। सिर्फ यही करके लोगों से पैसे वसूलने की फिक्र में लगा रहता था। उस समय असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट राय नंदकिशोर दास बहादुर कोर्ट आफ वार्ड्स की कार्य-प्रणाली की जांच करने के लिए ढेंकानाल आए। दूसरे कार्यालयों की जांच के बाद मेरे दफ्तर की बारी आई।

पेशकार और दूसरे कर्मचारियों की टोली अपने-अपने इलाकों के बही-खाते लेकर साहब के इजलास में हाजिर हो गए। हाकिम ने रजिस्टर हाथ में लेकर पन्ने पलटते ही कई जगह राशि की कांटछांट देखी। मुझसे पूछा, "इतनी कांटछांट क्योंकर है ? एक ही पन्ने में इतनी कांटछांट देखकर मेरे तो होश उड़ गए। "देखूं," कह साहब के हाथ से बही खींच ली, पलट कर देखा। हर पन्ने पर वही बात। मुझे जैसे कुछ नजर नहीं आ रहा था। सिर चकराने लगा था। हाकिम से प्रार्थना की कि मेरे दफ्तर की जांच आज के लिए बंद कर दें, कल देख लें। दयामय प्रभु बचपन से मेरी रक्षा करते आ रहे हैं। अब भी मेरे सहायक हुए। हाकिम मेरे परम हितैषी बंधु थे, नहीं तो उसी पल सब खत्म हो गया होता।

घर लौटकर सभी रजिस्टरों को उलट-पलट कर देखा। दस-पांच जगह नहीं, सैकड़ों जगह कांटछांट की गई थी। मेरे हक में इसका परिणाम क्या होगा, यह चिंता मेरे मन में पल भर के लिए भी नहीं जागी। पर उस पेशकार को सेशन के सुपुर्द कर दिया जाएगा,

यह बात निश्चित थी। किस तरह उसकी रक्षा हो ? वही चिंता मुझे अधीर कर रही थी। पेशकार की ओर देखा। लगा, मानो उसके हृदय को चिंता या भय ने स्पर्श तक नहीं किया है। मुझे देखकर वह आनंद से बात कर रहा था। उसका बहुत बड़ा परिवार था। सभी भाई शराबी, बदमाश, दु:साहसी और दूसरों का बुरा चाहने वाले थे। बाद में सुना कि हाकिम, यानी मेरे हुक्म से रजिस्टरों में कांटछांट हुई है, यह असिस्टेंट सुपरिटेंडेंट साहब से कहना उन भाइयों ने तय किया था।

दूसरा कोई उपाय न देख, सभी पुराने रजिस्टरों को फाड़ डाला और सारी रात जागकर एक नया रजिस्टर तैयार कर दिया। तीन और कर्मचारियों ने जागकर रातोंरात लिखा। रजिस्टर बही तो तैयार हो गई, पर चार-पांच सौ फाइलों का संशोधन करना आसान काम नहीं था। वह काम इतने समय में करना असंभव था। अगले दिन कचहरी में बहियों की जांच हो गई। पर फाइलों में हेर-फेर छिपा न रहा। मेरे परम हितैषी असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट ने अपनी इंसपेक्शन रिपोर्ट में सिर्फ यही लिखा था कि असिस्टेंट मैनेजर के दफ्तर में फाइलें नष्टप्राय अवस्था में पाई गईं। हाकिम ने सिर्फ मुझे बचाने के लिए कांटछांट या जालसाजी शब्द का उल्लेख नहीं किया था। सुपरिंटेंडेंट स्मिथ साहब ने इंसपेक्शन रिपोर्ट पढ़ी और ढेंकानाल के दफ्तरों की जांच करने की तारीख तय करके परवाना भेजा। मेरे प्रति साहब के अभिप्राय का मुझे सही पता था। इस बार मेरी रक्षा नहीं हो सकती, यह मैं जानता था। फिर भी बचाव के लिए मेरे मन में रत्ती भर भावना नहीं जागी। जो होना था हो गया है। मन में बस यही चिंता थी कि उस पेशकार को किस तरह जेल की सजा से बचाया जाए। पत्नी को इस डर से कुछ भी बताया नहीं था कि वह अति व्याकुल हो उठेंगी। मुझे निश्चल बैठे चिंता करते देखतीं तो सोचने लगतीं कि मैं दिवंगत बेटे के बारे में सोच रहा हूं और वे व्याकुल हो उठतीं। कुछ भी न कहकर मेरे पास आ चुपचाप बैठ जातीं। पेशकार को जेल की सजा से बचाने के लिए मैं व्यस्त था। इस बीच भाइयों के साथ पेशकार बाबू सारा इलजाम मुझ पर थोपकर खुद खलास हो जाने के उपाय ढूंढ़ने में व्यस्त थे। क्या करूं, क्या न करूं–इस पर सलाह-मशिवरा करने के लिए ढेंकानाल भर में एक भी सही मित्र नहीं था। वरन् शत्रुओं का अभाव नहीं था। होमियोपैथी का मूलमंत्र 'सिमीलिया सिमीलिबस', यानी "समे सम" उपाय का अवलंबन करने को बाध्य हो गया। यानी एक अन्याय को दूसरे अन्याय से ढंक लेना चाहा।

मेरे दफ्तर के मुहाफिजखाना अर्थात फाइल आदि कागजात रखने का दफ्तर काफी छोटा, छपरीला और पुराना था। उस घर के छाजन से जगह-जगह से फूंस हटाकर दरार बनवाई। एक कोने में फाइलों को जमा करके उस पर पानी उंड़ेल कर छिन्न-भिन्न करवाया। अवश्य मेरी ही सलाह से पेशकार बाबू ने वह सब काम किया था। अब वह सब लिखते समय मेरे हाथ कांप रहे हैं। पर उस समय बड़ी सहजता से वह सारा काम कर डाला था।

रजवाड़ों के सुपरिंटेंडेंट स्मिथ दफ्तर की जांच करने के लिए ढेंकानाल पहुंचे। ऊंचे, पूरे, स्थूल, भीषणकाय शरीर। छोटे-से मुहाफिजखाने के बीचों-बीच खड़े होकर उन्होंने ऊपर-नीचे चारों ओर गौर से देखा। उसके बाद एक कोने में ढेर-लगी सड़ी-गली फाइलों को देख मुझे तीखी नजर से देखा, कहा–"बाबू, तुम बच गए। रजवाड़ा न होकर मुगलबंदी हुआ होता तो बचते नहीं।" मैंने लंबी सांस ली। जो भी हो, वह पेशकार तो बच गया। हाकिम ने उसे सिर्फ तीन महीने के लिए सस्पेंड कर दिया। मुहाफिजखाने के लिए अलमारी खरीदने के लिए मंजूरी देकर कटक लौट गए। पेशकार तीन महीने के लिए सस्पेंड हो गया तो उसके भाइयों को मुझ पर क्रोध आया। वे मुझे गालियां बकने लगे। हर जगह कहते फिरे कि दफ्तर में त्रुटि के लिए हाकिम जिम्मेदार हैं। उसके लिए पेशकार का सस्पेंड होना एकदम अन्याय है। आश्चर्य की बात है कि ईश्वर के न्याय-विचार से उन्हें मुक्ति नहीं मिली। उनका विशाल परिवार थोड़े ही दिनों में उजड़ गया।

उस घोर-विपदा से तो उबर गया, पर शरीर दिन-ब-दिन अवश होता जा रहा था। कम समय के लिए कचहरी में काम करता। दिन भर बिछौने पर पड़े रहना भी कष्टप्रद लगता था।

ढेंकानाल में असिस्टेंट मैनेजरी (3)

हमारा घर बालेश्वर शहर के दक्षिण में एक छोटे-से गांव में था। इसके चारों ओर के गांव भी छोटे-छोटे थे। पहले इन गांवों में जहाजी महाजन और छोटे-छोटे जमींदार रहते थे। अत: गांव गौरव और आनंदोत्सव से परिपूर्ण रहता था। महाजन और जमींदारों के अलावा आम लोग भी सुखी थे। पहले शहर के पास रहने वालों को खेती पसंद नहीं थी। जब जहाज बनाने का काम चलता था तब सभी वर्ग के कारीगरों को घर से निकलते ही पैसा मिल जाता था। वे क्यों खेत-खलिहानों में कीचड़ में धंसने जाते ? नमक महाल का काम-धाम बंद हुआ तो न केवल जहाजी महाजन बल्कि हर वर्ग के लोगों की दुर्दशा हो गई।

हमारे गांव के पास जुलाहों की एक बड़ी बस्ती है। बालेश्वर में मिल में बने कपड़ों के प्रचलन से पहले यानी पचास-साठ साल पहले ये जुलाहे मध्यवित्त वर्ग में गिने जाते थे। दो सौ नंबरी सूत से काफी झीनी धोती दस-बारह रुपये में बना कर देते थे। सन् 1700 में हालैंडवासी, पुर्तगाली और फ्रांसीसी सौदागर आकर बालेश्वर से कपड़े विलायत भेजा करते थे। अब उन जुलाहों के वंश उजड़ गए हैं।

यहां इन अप्रासंगिक बातों का उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि अब हमारे सभी गांव दरिद्रों की वासस्थली हैं। बालेश्वर में खैराती चिकित्सालय की स्थापना से पहले बीमार

होने पर रुपया खर्च करके डाक्टर बुलाना या कीमती दवाइयां खरीदना गरीब वर्ग के लोगों के लिए कष्टकर बन जाता था। उनके उपकार के लिए कस्तूरी, मकरध्वज आदि कीमती दवाइयां संग्रह कर मैं अपने पास रखता था। साधारण रोग की चिकित्सा करने हेतु मैंने आयुर्वेदीय निदान, चरक, शुश्रुत, वागभट्ट और रसेंद्रसार संग्रह आदि कुछ शास्त्रों का अध्ययन किया था। अब ढेंकानाल में समय बिताने और गरीब रोगी लोगों में वितरण के लिए कई तरह के तैल, पाक, धातु जारण, मारण-बटी आदि बनाने के कार्य में लग गया। कभी-कभार तैल और भस्मों के लिए कटक और भुवनेश्वर से भी लोग मेरे पास आते थे।

कदाचित समय आनंद से बिताने के लिए पासा खेलना शुरू कर दिया। रोज संध्या के समय घर पर पासा खेलने का अड्डा जमता। कुछेक बेकार ब्राह्मण और कायस्थ जुट गए थे। उस व्यर्थ आमोद में समय कट जाता था।

दुर्भाग्य के समय दुर्बुद्धि उपस्थित हो जाती है। आयुर्वेद में एक तरह की सुरा का उल्लेख है। उसका नाम है मृतसंजीवनी सुरा। शास्त्रों में वर्णन है कि देवासुर-युद्ध के समय सुरों ने इस सुरा का पान करके लड़ाई की थी जिससे असुरों को हारकर पलायन करना पड़ा था। उसी प्रकार हारने वाले असुरों की तरह शरीर से व्याधियां भी दूर भाग जाती हैं। सोचा, शराब पीने का आनंद, उस पर रोगमुक्ति–यह उपाय अपरिहार्य है। अतः यथाशीघ्र करणीय है। शुंडी को बुलाकर शास्त्रों से आवश्यक चीजों की सूची बना कर दी और उन्हें इकट्ठा करने को कहा। हाकिम का हुक्म, उस पर एक नया धंधा सीखना है, इस कारण दिन-रात लगकर शुंडी ने 'मृतसंजीवनी सुरा' बना दी। पहले ही बता चुका हूं कि उस समय ढेंकानाल में बिल्ली के पिल्ले से लेकर महादेव तक सभी सुरा देवी के उपासक थे। नूतन आविष्कृत शास्त्रीय सुरा प्राप्त होने पर उन्मत्त-सा हो उठा। रोज शाम को भी आधी छटांक की मात्रा में पीना आरंभ कर दिया। पर हाय, यह क्या हुआ ! रोग से मुक्ति तो दूर की बात रही, बवासीर, अतिसार आदि के साथ-साथ दुर्बलता भी काफी बढ़ गई। फिर भी छोड़ नहीं सका। पीड़ा से छुटकारे के लिए पीता रहा। शराब में एक ऐसी आकर्षण-शक्ति है कि एक बार अभ्यास हो जाए तो निश्चित समय पर शराब शराबी को दूर-दूर से अपने पास खींच लेती है।

उस समय जैसे सब ओर से मुझे अमंगल और विपदाएं घेरती आ रही थीं। एक दिन शाम को मैं बंगले से सदर बंगले को आ रहा था। बीच में एक छोटी-सी कोठरी है। मैं उस कोठरी के अंदर पहुंचा ही था कि दायें पैर के पास सरसराहट सुनाई पड़ी। कैसी आवाज थी, जानने के लिए थोड़ी देर के लिए रुक गया। और आवाज नहीं आई। मैं चला गया। दो दिन के बाद उसी जगह किसी व्यक्ति ने एक लंबे मोटे नाग को मारा।

उस समय मेरे पास पैसे की बहुत ही कमी थी। मैंने अपनी साठ साल की उम्र तक अपने आय-व्यय के बारे में सोचा नहीं था। बक्से की कुंजी नौकर के पास रहती। जमा-खर्च के हिसाब रखने से भी मुझे चिढ़ थी। सरकारी खजाने से तनखाह लाकर नौकर ही खर्च

करते थे। जैसे ही पैसा आता वैसे ही व्यय हो जाता था। मैं निहायत अपरिणामदर्शी था। सोचता कि इस तरह सदा आमदनी होती ही रहेगी। बार-बार अर्थाभाव झेलकर भी चेतना नहीं जागती थी।

ढेंकानाल में मेरी पत्नी तनखाह के रुपये रखती थीं। सभी खर्चों के बाद भी उनके बक्से में जमापूंजी थी, लगभग एक हजार रुपये। प्रथम पुत्र के जन्म के समय खुले मन से भोज और दान में उसे खर्च करके मैं अर्थशून्य हो गया था। मेरी पत्नी मितव्ययी थीं। फिजूलखर्ची के बारे में वे मुझे बार-बार टोकतीं। कहतीं–"तुम्हें सहायता देने के लिए आगे-पीछे कोई नहीं है। किसी से भी दो कौड़ी पाने की आशा मत रखो। अवश्य ईश्वर ने हमें बहुत कुछ दे रखा है। अपने लिए सही तरीके से खर्च कर, असहाय पड़ोसी या दुखी गरीबों को दान देने के बाद जो बचता है उसे संचित करके रखना चाहिए। नहीं तो ईश्वर नाराज होंगे। खाने-पीने में लालच या गरीबों की सहायता न करके संचय करना मनुष्य के लिए उचित नहीं है।" एक-दो बार नहीं, खर्च के बारे में मेरी लापरवाही पर वह बार-बार मुझे टोकती थीं।

मैं अब अपनी पत्नी की समाधि के सामने बैठकर यह सब लिख रहा हूं। उनके कहे उपदेशों के शब्द मानो समाधि में से फूटकर आ रहे हैं और मैं उसी को लिखता जा रहा हूं। अंतिम वय में विश्वासघातक नौकरों ने मुझे कर्जदार बना दिया तो साठ साल के बाद मैं खुद पत्नी के उपदेशों के अनुसार हिसाब रखने लगा। तब मैंने थोड़ी-सी राहत पाई थी। अपनी पत्नी के जेवरों को बेचकर मिले रुपये और उनके नाम से या उन्हीं के मनोरंजन के लिए खरीदी गई भूसंपत्ति की आय ही अंत में मेरे दुर्बल और असहाय जीवन की रक्षा की एकमात्र अवलंबन बनी थी।

अपने प्रत्यक्ष शत्रुओं–तथाकथित राजा के ब्राह्मण-पुत्र खानसामा और कचहरी के मुहाफिज के नाम इसके पहले भी लिए हैं। खानसामा को मैं दोस्त मानता था। कई बार उसे अपने घर आमंत्रित करके लाया भी हूं। पासा खेलने के लिए भी वह मेरे घर आता था। पूर्व कमिशनर साहब द्वारा नियुक्त ढेंकानाल राजा के इंजिनीयर मिस्टर मैज और ओवरसीयर को काम से हटा दिए जाने के बाद मुझे आफत में डालकर मजा देखने की इच्छा से खानसामा और मुहाफिज दोनों मिलकर मेरे खिलाफ कमिशनर साहब के पास बेनामी दरखास्तें भेजने लगे। दरखास्तों में यह लिखा जाता कि मैं कचहरी में सुनवाई के लिए आए प्रार्थियों से रिश्वत लेता हूं।

बेनामी दरखास्तों को वैसे हाकिम लोग स्वीकार नहीं करते थे, पर वे दरखास्तें मेरे खिलाफ थीं, इसलिए उस पर जांच करने के लिए असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट राय नंदकिशोर दास बहादुर आए। बिना किसी पक्षपात के जांच हुई तो दरखास्तों के विवरण झूठे प्रमाणित हो गए। नंदकिशोर बाबू और मैनेजर बनमाली बाबू दोनों ने मिलकर कमिशनर साहब से मेरे संबंध में कहा था–"फकीरमोहन बाबू इज ए वैरी आनेस्ट मैन।" (फकीरमोहन

बाबू सच्चा आदमी है।) पर साहब ने कहा–"आई हैव नो फेथ इन द मैन।" (उस आदमी के प्रति मेरा विश्वास नहीं है।) क्योंकि मैं जान बीम्स द्वारा नियुक्त किया गया व्यक्ति था। बेनामी दरखास्तों के व्यर्थ हो जाने पर एक आदमी खुद दरखास्त लेकर कमिशनर साहब के सामने उपस्थित हो गया। अभियोग था कि मैंने उससे सौ रुपयों की रिश्वत ली है। साहब ने खुद जांच की। मैंने न्यायत: उसके मुकदमों को डिसमिस कर दिया था, उसी कारण मुझ पर गुस्सा कर उसने दरखास्त की थी–यह प्रमाणित हो गया। अंग्रेज हाकिम न्याय-विचार करते समय सहज ही विचलित नहीं होते। उसी दरखास्त करने वाले को दफा 211 में झूठा इल्जाम लगाकर मुकदमा दायर करने के जुर्म में अपराधी ठहराया गया। मैनेजर बनमाली बाबू बीमार थे, अत: उन्होंने छह महीने की छुट्टी ले ली। एक और बाबू उनके प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त हो कर आए।

सरकारी दफ्तरों की अंदरूनी स्थिति के बारे में उन्हें सब मालूम था। उस पर वे उन्नति के लिए बहुत प्रयत्नशील थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि जान बीम्स साहब द्वारा नियुक्त किए गए लोगों के ऐब दिखाएं तो उनकी कर्मठता सिद्ध होगी और उसी से पदोन्नति की संभावना है। वैसे सुअवसर का त्याग करना किसी भी मनुष्य के लिए उचित नहीं है। उन्होंने मेरे दोष ढूंढ़ना आरंभ कर दिया। मैनेजर बाबू सदा मेरे घर आते-जाते थे। कई बार एक साथ खाना-पीना होता। वे अकारण मेरे विरुद्ध कुछ करेंगे, यह धारणा मेरे मन में किसी भी तरह नहीं आई थी। पर मुझे यह समझना चाहिए कि स्वार्थ की शक्ति भयानक रूप से बलवान होती है, दोस्ती या न्यायपरता कभी भी उसे रोक नहीं पातीं। बाबू राधानाथ राय तब उत्कल के स्कूल विभाग के ज्वायंट इंसपेक्टर थे। रजवाड़ों के दौरे पर आते तो मेरे डेरे पर एक-आध दिन जरूर ठहरते। एक दिन पता नहीं किस तरह उन्होंने मैनेजर बाबू की मन की बात जान ली। उनके साथ बातचीत के दौरान मुझे कुछ-कुछ भान हुआ। उसी समय किस तरह शिकार खेला जाता है, दिखाने के लिए मैं राधानाथ बाबू को साथ लेकर जंगल में गया।

एक जंगल में घेराव हुआ। कुछेक साथी शिकारी जगह-जगह घाटों पर तैनात कर दिए गए। शेर या भालू के शिकार के लिए पेड़ों पर मचान बनाकर ऊंची जगह या पथरीली जगह पर बैठना चाहिए, जहां से सब साफ दिखाई दे। दैवी दुर्योग से उसी दिन मुझे सही जगह नहीं मिली। राधानाथ बाबू और मैं जंगल के झुरमुटों में जमीन पर बैठे रहे। जंगल में पशुओं को हांकने वाले सामने के जंगल से चिल्लाते पेड़-पौधों को पीटते हुए आए। तभी एक बहुत ही बड़ा भालू लगभग छह हाथ के फासले पर अचानक निकल आया। हम दोनों जहां बैठे थे ठीक उसी रास्ते चले जाने का इरादा था उस भयानक पशु का। हम पर उछल पड़ने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा आधा मिनट या उससे भी कम समय बाकी था। भालू की आवाज मैंने सुनी थी, पर मेरी नजर दूर थी। भालू इतना नजदीक हो सकता है, यह मुझे आभास तक नहीं था। भालू को देखकर बंदूक उठाई ही थी कि भालू ने भी

हमें देख लिया और आड़ में छिप गया। उस समय जो स्थिति थी, मेरा बंदूक चलाना और भालू का हमला एक साथ या एक-दो मिनट आगे-पीछे हुआ होता। ओड़िआ में 'राधानाथ ग्रंथावली' का प्रकाशन जो होना था, वह तुच्छ भालू उसमें किस तरह विघ्न डालता ? राधानाथ के पुण्य के बल से इस नगण्य लेखक की भी जान बच गई।

असामयिक, अप्रासंगिक होने पर भी यहां और एक दिन की बात लिखूंगा। पाठक महोदय, आप इस पुस्तक में कई जगह वैसे असामयिक और अप्रासंगिक विवरण पाएंगे।

रेल चलने के पहले लोग कटक और बालेश्वर को नहर में चलने वाले स्टीमर से आते-जाते थे। उस समय मैं दशपल्ला का दीवान था और छुट्टी पर घर आया था। राधानाथ बाबू को देहाती दौरे के बाद अपने कार्यक्षेत्र कटक को लौटना था। मेरे अवकाश का समय भी समाप्त होने जा रहा था, अतः मुझे भी लौटना था। दैवात् बालेश्वर की नदी के स्टीमर-घाट पर दोनों मिले। पूर्वान्ह लगभग दस बजे स्टीमर से हम लोग कटक के लिए रवाना हो गए। रात एक घड़ी भर बीती होगी, स्टीमर ने मताई नदी पारकर धामरा नदी में प्रवेश किया। तब घनघोर वर्षा और तूफान आरंभ हो गया। घड़िआमाल नदी की उत्ताल तरंगों के आघात से हमारा छोटा-सा स्टीमर अस्थिर और विशृंखलित ढंग से इधर-उधर डोलने लगा। अब डूबा तब डूबा की स्थिति आ गई। सभी सवार व्यक्ति भय से कातर हो उठे थे। घड़िआमाल एक स्वतंत्र नदी नहीं है। ब्राह्मणी, वैतरणी, सालंदी, मताई और समुद्र मुहाने के संगम-स्थल का नाम है घड़िआमाल। मांझी इस जगह से काफी डरते हैं। उनमें एक बात प्रचलित है—"जब किया पार घड़िआमाल, तो सब नदी...।" उस पर यह जगह मानो उस समय धरती के सारे घड़ियालों का अड्डा थी। लोग कहते हैं—"मताई नदी का क्या विश्वास ! इसमें नाव की दरार से घड़ियाल आदमी को खींच लेता है....।" वह था मताई नदी का संगम-स्थल। सेकेंड क्लास पैसेंजर के रूप में राधानाथ बाबू और मैं—दोनों ही थे, केबिन के अंदर। और कोई नहीं था। राधानाथ बाबू ने तो जीवन की आशा तज दी थी। उनका उस समय का स्वरूप अब भी मेरे हृदय पर स्पष्ट रूप से चित्रित है। सर्दी काफी थी, इसलिए उन्होंने धोती के आंचल को ओढ रखा था। एक छोर पर अफीम की एक बड़ी-सी डली बांध रखी थी। सत्तरह-अठारह साल की उम्र में उन्हें तपेदिक हुआ था, तो डाक्टर-वैद्यों ने जीवन-भर नियमित रूप से अफीम खाने का उपदेश दिया था। राधानाथ बाबू मानो जीवन की आशा त्यागकर निर्जीव की भांति स्टीमर डूबने की प्रतीक्षा कर रहे थे। स्टीमर पर किसी भी ओर से कैसी भी आवाज आए तो चौंककर उसी ओर देखते थे। उसी ओर से स्टीमर डूब जाए शायद। बीच-बीच में अर्थशून्य आंखों से मुझे देखते। उनका धोती ओढ़ना, आंचल में अफीम बांधना देखकर मुझे उस समय भी हंसी आ रही थी। हम तो अब डूबेंगे, आंचल ओढ़ने से क्या फायदा ! राधानाथ बाबू का 'महायात्रा' लिखने का काम अधूरा था, अतः उनकी महायात्रा नहीं हुई। और मैं भी उन्हीं के पुण्य के बल से बच गया, यह लिखना निष्प्रयोजन है।

सिर्फ उस बार नहीं, कई बार मैं मृत्यु-यात्रा से बच गया हूं। उसकी सूची इस प्रकार है : तीन बार गेहुंवन सांप के मुंह से, एक बार भालू के हमले से, एक बार जंगली हाथी और एक बार जंगली भैंसों से, एक बार तीर, एक बार तलवार और विष-पान से और दो बार जहाज के डूबने से बचा हूं।

ढेंकानाल में असिस्टेंट मैनेजरी (4)

अब दूसरी बार जहाज डूबने की और अपने विष-पान की बात लिख दूं। 'असामयिक और अप्रासंगिक'–ये दो उत्कट त्रुटियां पाठक इस सामान्य पुस्तक में जगह-जगह देखेंगे। इस संबंध में इसके पहले भी मैं कह चुका हूं।

सन् 1867 या '68 होगा, मैं पहली बार कलकत्ता जा रहा था। उस समय बालेश्वर के रहने वालों ने स्टीमर का नाम-भर सुना था। बालेश्वर की नदियों को स्टीमरों ने स्पर्श तक नहीं किया था। बालेश्वर के रहने वाले बड़ी सड़क से कलकत्ता आते-जाते थे। बालेश्वर से कलकत्ता जाने में छह दिन लगते थे। मैं और मेरे साथ तीन और व्यक्ति मिलकर कलकत्ता जा रहे थे। जाते समय बैलगाड़ी की उठा-पटकी और जगह-जगह सरायों में रसोई बनाकर खाने वाली बात अखर गई थी। बालेश्वर लौटते समय बालेश्वर शहर के निवासी एक महाजन के जहाज को लौटते देखकर उसी से हम लोग भी लौटे। गंगाजी पारकर समुद्र को आते-आते तीन दिन बीत गए। चौथे दिन बंगोपसागर के बातीघर (लाईट-हाउस) के आमने-सामने लंगर लगाकर जहाज रुका। आधी रात गए भयानक वर्षा के साथ तूफान आया। दस-बारह हाथ ऊंची समुद्री लहरें आकर एक सामान्य तिनके की तरह दूर फेंक देती थीं। लंगरों से जहाज रुकता नहीं था। कभी-कभी तरंगों के ऊपर दस-बारह हाथ उठकर जहाज गहरे पानी में गिर पड़ता था। बार-बार जहाज पर पानी चढ़ आता था। नीचे गिरता तो लगता था कि अब वह रसातलगामी हो ही गया और उठेगा नहीं, पर दूसरे पल ताड़ की ऊंचाई के पानी पर तैर उठता। उस समय मांझी-खलासी-डांडिये आदि जहाज के कर्मचारी जहाज को बचाने की हर कोशिश से निराश होकर हाथ जोड़े सिर्फ चीख रहे थे–"मां झाड़ेश्वरी, बाबा कदम रसूल, हे दरिया पीर ! बचाओ, बचाओ !" इनके अलावा और भी अनगिनत देवी-देवताओं के नाम ले-लेकर चीख रहे थे। लगता है, उन्होंने यह सोचा होगा कि सब को बुलाने पर कोई-न-कोई आकर बचाएगा जरूर। मैं जहाज पर निश्चिंत मन से खड़े-खड़े जहाज की गति और मांझी-मल्लाहों की व्याकुल अवस्था देख रहा था। सोच रहा था, मरूं तो कहां, किस तरह जाऊंगा, अब देखना है।

हमारे गांव से मेरे साथ एक लड़का भी गया था। उस समय मेरे सामने से वही लड़का गुजरा। उसे देखकर अचानक मेरा मन अस्थिर हो उठा। मां का वह इकलौता बेटा था।

कलकत्ता से चलते समय उसे मुझे सौंपकर उसकी मां ने भेजा था। प्रवास में लड़के की रखवाली करने का वचन मैंने उसे बार-बार दिया था। वही बात याद आई। सोचा– हाय, वह तो मर जाएगा, उसकी मां सुनेगी तो कितना रोएगी ! अचानक प्रभु की कृपा से तूफान बंद हो गया। तूफान और पानी सिर्फ और एक घंटे के लिए नहीं थमता तो जहाज बचने की संभावना ही नहीं थी।

सन् 1909 के जून या जुलाई का महीना था। एक दिन मेरे पेट में दर्द हुआ, तीन-चार बार शौच जाना पड़ा। मेरे गुमाश्ते ने सुना था कि ऐसी स्थिति में गंधक का द्रावक पीने से शरीर स्वस्थ हो जाता है। हमारे पड़ोसी थे सरकारी वकील और जमींदार भूयां अबदुल शोभान खान। उनके घर पर गंधक द्रावक था। वहां से बीमार लोग लिया करते थे। अजीर्ण के कारण हुए दस्त आने पर वह काम आता है और शरीर स्वस्थ हो जाता है। पर कैसे और किस तरह सेवन किया जाता है, वह गुमाश्ते को पता नहीं था। मेरा एक प्रियतम नाती और गुमाश्ता दोनों जाकर भूयांजी के घर से छटांक भर गंधक द्रावक ले आए। मैं घर के अंदर बिछौने पर पड़े-पड़े एक पुस्तक पढ़ रहा था। गुमाश्ते ने आकर बताया, "आप इस दवाई को आंखें मूंदकर पी लें। सावधान रहियेगा, यह दांतों में न लगे।"

उस समय लगभग चालीस साल पहले से मैंने एलोपैथिक दवाइयां लेना बंद कर दिया था। पर उस समय गुमाश्ते ने जो दवाई लाकर दी वह देशी है या विलायती, कहां से आई और किसने दी, आदि कुछ भी नहीं पूछा। पुस्तक में मन रमा हुआ था। किसी भी तरह पी लूंगा और फिर पढ़ने लगूंगा, यही इच्छा थी। गुमाश्ते की ओर न देखकर हाथ बढ़ाकर दवाई की प्याली ले ली। बैठकर अंदाजन तोला भर पी लिया कि एकदम लगा मानो कोई अग्निमय धातु की तरल धारा तेज गति से कलेजे तक बह गई। सारा शरीर धधकती आग में तलता हुआ-सा लगा। चीत्कार कर मैं पलंग पर से कूद पड़ा। जमीन पर गिरकर छटपटाने लगा। मैं दो-एक बार चीखा हूंगा कि आवाज बंद हो गई और मैं बेहोश हो गया। आश्चर्य की बात है.... मैं जिस कोठरी में सोया था, उससे एक कोठरी छोड़ दूसरे कमरे में मेरी पुत्रवधू सोई हुई थीं। ठीक उसी समय अर्ध-निद्रा में सपना देख रही थीं कि मैंने विष पिया है और उसने मेरे बेटे को तार भेजा है। उस समय मेरा बेटा बिहार में असिस्टेंट सेटेलमेंट अफसर था। मेरी चीख सुनकर पुत्रवधू दौड़ी आईं और मेरी अवस्था देखकर पांच-सात लोगों को डाक्टर बुलाने के लिए भेजा। जो डाक्टर जहां भी हों, जिस हालत में हों शीघ्र बुलाकर लाने की आज्ञा थी उन्हें। आधे घंटे में बालेश्वर के सभी डाक्टर आकर उपस्थित हो गए। सिर्फ एक बहुदर्शी असिस्टेंट सर्जन इलाज करने को रहे, और सभी डाक्टर अपने दर्शन देने की फीस के रुपये लेकर चले गए।

मैं बिछौने पर बेहोश, मुंह बंद करके पड़ा था। मुंह खोलने में भी तकलीफ हो रही थी। जीभ से लेकर कलेजे तक घाव हो जाने की बात डाक्टरों ने जांच करके बताई थी। बीच-बीच में पेट में से मांस का टुकड़ा तक बाहर निकल आता था। कंठ में घाव था,

छोटा-सा एक छिद्र-भर था। डाक्टर के कहे अनुसार सुबह-शाम दो अंडों की जर्दी ही मेरा आहार बनी थी। पंद्रह दिनों के लिए वही जर्दी ही मेरे लिए पथ्य और दवा थी। उसी जर्दी-भर को पी लेना मेरे लिए कष्टकर बन गया था। पीते समय तो पीड़ा होती ही थी, पीने के बाद भी देर तक कंठ और कलेजा जलता था। बहू बड़ी मेहनत से उस जर्दी को पिलातीं। कोई और पिला नहीं पाता था।

कभी अगर मैं नहीं पीता और न पीने का हठ कर बैठता तो 'वधू-माता' धमकाकर कहतीं, "आप दवा नहीं ले रहे हैं, मैं डाक्टर बाबू को पत्र लिखूंगी।" डाक्टर बाबू आकर मेरा कान काट नहीं लेंगे, जानता हूं, पर न पीऊं तो वह मेरे पास बैठी रहेंगी और डांट-डपट ही करती रहेंगी। उसी से बचने के लिए उनकी बात मान जाता। दो-तीन आदमी मुझे धीरे-धीरे उठाते और मैं उस जर्दी को बड़ी तकलीफ से पी लेता। उस समय एक और विपत्ति उपस्थित हुई। गंधक द्रावक पीते समय शायद एक बूंद हथेली पर गिर गया था। हथेली पर आधी इंच की जगह जल गया था और सूज कर पीप निकलता था। दोनों वक्त डाक्टर आकर उस घाव को धोकर साफ करते और उसकी मरहम-पट्टी कर जाते थे।

जननी जिस भांति शिशु को पालती-पोसती है उसी तरह उस समय 'वधू-माता' (पुत्र-वधू) मेरी रक्षा कर रही थीं। मेरा मुंह बंद था, आंखे बंद थीं, पेशाब करने जाऊं तो दो-तीन आदमी सावधानी से उठाकर ले जाते थे। दो-तीन नौकर सदा पास रहकर पंखा करते थे। पल भर के लिए पंखा झलना बंद हो जाए तो लगता था जैसे सर्वांग जल रहा है। दूसरे गांव से तथा दूर की जगहों से मुझे देखने के लिए बंधु-स्वजन आए हुए थे। उनके आदर-सत्कार के लिए घर पर कोई नहीं था। अतः सुबह से रात के दस बजे तक 'वधूमाता' को ही वह सब काम करना पड़ता था। बीच-बीच में बार-बार आकर मुझे देख जाती थीं। रात दस बजे के बाद सबके सो जाने के पश्चात पंखा झलने वाले नौकर भी सो जाते। कई रातों में 'वधूमाता' खुद भोर तक बैठकर पंखा करती रहती थीं। रात के अंतिम पहर में नींद से बोझिल माथा बीच-बीच में जमीन तक झुक आता। उस समय उनकी अवस्था देखकर मन में अपार दुख होता। पंखा बंद करने को कहने की ताकत मुझ में नहीं थी। हाथ के इशारे से कहने में भी असमर्थ था। सिर्फ सेवा ही नहीं, डाक्टरों की 'विजिट' के लिए उन्होंने अपने छोटे-से-बक्से से शताधिक रुपये निकाल कर दिए थे। उस समय मैं स्वास्थ्य, सामर्थ्य, अर्थ–सभी विषयों में संबलहीन बन गया था। छोटे-से शिशु की तरह बिछौने पर चुपचाप पड़ा रहता था। वह भी बेहोश। मेरा दायां हाथ जल गया था, इसलिए धीरे-धीरे सावधान होकर थोड़ा-थोड़ा दूध पिलातीं। कई दिनों तक कंठनाली दुर्बल हो जाने के कारण पीने की शक्ति भी मुझ में नहीं थी। केवल मेरे लिए उन्होंने वह सब किया था, यही नहीं; गांव में पास-पड़ोस के किसी शिशु, संतान और दरिद्र-असहाय लोगों की पीड़ा के समय वे बिन बुलाए पहुंच जाती थीं, उसकी सेवा का भार खुद अपने ऊपर ले लेती थीं। छोटी-मोटी बीमारी के लिए दवाई की व्यवस्था तक

कर देती थीं। बीमार के प्रति उन के मन में कैसी सहानुभूति थी, उसके बारे में मात्र एक घटना मिसाल के तौर पर बताना चाहूंगा।

हमारी एक बूढ़ी नौकरानी थी। हमारे घर से थोड़ी दूर एक छोटी-सी कुटिया में पड़ी रहती थी। निहायत गरीब और बेसहारा थी। उसे कभी-कभी वातज्वर होता था। उस समय उसे होश नहीं रहता। बिछौने पर पड़े-पड़े पेशाब और उल्टी कर देती थी। पीड़ा के समय उसे देखने के लिए 'वधू-माता' मेरी अनुमति लेकर जाती थीं। दिन के समय गांव की गली में लोग आते-जाते रहते थे, इसलिए जा नहीं पातीं। पर रात नौ बजे के बाद गली के सुनसान हो जाने पर नौकरानी को साथ लेकर चल देतीं, वह भी अंधेरे में। लालटेन लेकर उजाले में चलने से लजाती थीं। रोगिणी के पास पहुंचकर उल्टी-पेशाब से भीगे कपड़ों को हटाकर साफ कपड़े पहनाना, घर को जगह-जगह साफ करके गोबर से लीप देना, अच्छे कपड़ों से बिछौना कर देना आदि सभी काम वे खुद कर देती थीं। दासी को कहें तो घिनाने लगे, इससे उसे वह सब करने को कहती नहीं थीं। अफीम, चाय, साबूदाना आदि बनाकर घर से ले जातीं। उसके आराम से सोने पर उसे पथ्य और दवा खिलाकर दुलार से उसके हाथ-पैर सहलाकर आश्वासन देकर लौटने में दो घंटों से अधिक समय बीत जाता। सिर्फ वही एक गरीब विधवा नहीं, उस जैसी कितनी विधवाएं उन से सहायता पाती थीं।

सबके सामने अपनी पुत्रवधू के गुणों का बयान करना निश्चित रूप से शोभनीय विषय नहीं है। पर, वह संभ्रांत उच्चवंशजाता कन्या गुणों में इतनी संपन्न है कि उसके बारे में दो-एक बातें बताए बिना नहीं रहा जाता। यों वे कोई खास विद्यावती नहीं थीं। कलकत्ता के बेथुन स्कूल से ऐंट्रेंस पास, उसी के लायक संस्कृत और बंगला भाषा में शिक्षिता थीं और मेरे घर आकर ओड़िआ भी सीख ली थी। संगीत में, हारमोनियम बजाने में, सिलाई-कढ़ाई के काम में विशेष रूप से निपुण थीं। कई तरह की खाने की चीजें विशेषकर मिष्ठान्न बनाने में माहिर थीं। शिल्प-कर्म में प्रवीणता के कारण कई प्रदर्शनियों में उन्हें प्रमाणपत्र और पदक मिले थे। जिन सभी गुणों के कारण वधुएं आदरणीया और वंशशोभना मानी जाती हैं, उनका उनमें अभाव नहीं था। घर के सभी, यहां तक कि नौकर-चाकरों के उठने के पहले वे जाग जातीं और घर-आंगन बुहारकर सुबह का सारा काम खुद कर लेतीं। रोज ब्राह्म मुहूर्त में मैं जाग जाता था, यह मेरी आदत थी। पर मेरे उठने के पहले 'वधूमाता' ने शैया त्यागकर सारा काम न कर दिया हो, ऐसा मैंने कभी भी नहीं देखा।

शैया-त्याग से रात के दस बजे तक सभी कामों में अथक लगे रहने की आदत थी उनकी। सदा रसोइया और नौकर-नौकरानी के रहते भी वे ही रसोईघर में देखरेख करती थीं। दोपहर का समय मशीन से सिलाई और कढ़ाई के काम में बीतता। संध्या समय उपासना, पुस्तक-पाठ तथा संगीत-चर्चा में व्यतीत होता।

गांव के अति सामान्य घरों की महिलाओं के प्रति भी यथायोग्य सम्मान-प्रदर्शन और

उनके साथ नम्रभाव से बातचीत करती थीं। उनके नाम की तरह चरित्र भी हिरण्यप्रभामय था। उनके पिता एक निष्ठावान ब्राह्म और पूर्व बंगाल में ऋषितुल्य सम्मानित व्यक्ति थे।

रोज सुबह-शाम असिस्टेंट सर्जन आकर बीमारी की स्थिति देख जाते। हर बार विजिट के रुपये 'वधूमाता' के बक्से से निकलते। हर बार जांच करते समय उपस्थित आत्मीय स्वजन डाक्टर के मुंह की ओर ताकते रहते। पर डाक्टर के नैराश्य भाव और सूखे चेहरे को देखकर कोई कुछ पूछने का साहस नहीं करता। मैं भी खुद उन्हें देखकर सब समझ लेता। सात-आठ दिनों के बाद मेरी मृत्यु अवश्य होगी, यह यात्रा निश्चित है, यह मैंने जान लिया था। उस समय एक दिन संध्या के समय बालेश्वर के अन्यतम जमींदार बाबू भगवानचंद्र दास और कुछेक मित्र मुझे देखने आए थे। वे सब मुझे घेरकर बैठे थे। तभी मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि मेरी मृत्यु के पश्चात पुलिस आकर जिन्होंने विष लाकर दिया है उन्हें सताएगी। भविष्य में उनकी स्थिति क्या होगी, उसकी कल्पना कर मेरे मन में अपार दुख हुआ। मेरे बिछौने के नजदीक कागज-पेंसिल रखे हुए थे। मैं कुछ कहना चाहता तो लिखकर बता देता था। एक-एक अक्षर लिखने में भी कष्ट होता था।

तब उपस्थित भगवान बाबू और अन्य कुछेक मित्रों के नाम लिखकर उसके नीचे बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दिया कि मेरी मृत्यु के लिए कोई जिम्मेवार नहीं, यह एक आकस्मिक घटना है। यह लिखकर मन को किंचित शांति मिली। सोचा, मुमूर्षु व्यक्ति का लिखना अदालत में भी ग्राह्य होगा। मैं मृत्यु के लिए तैयार था, पर कभी-कभी यंत्रणा असह्य बन जाती तो–

> 'मात्रा स्पर्शास्तु कौंतेय
> शीतोष्ण सुख दु:खदा: ।
> आगमा पायिनो नित्यं
> तांतितिक्षस्व भारत।'

गीता के इस श्लोक का पाठ मन-ही-मन बार-बार कर धैर्य धरता। उससे मन में भावनाएं जागृत होतीं कि बीमारी आई है चली जाएगी, पर धीरज धरना आवश्यक है।

पंद्रह दिन के बाद डाक्टर ने आनंदित होकर कहा–"अब और चिंता की कोई बात नहीं। मेरे आने की कोई आवश्यकता भी नहीं रही।" डाक्टर ने आना छोड़ दिया, पर मुझे बिस्तर छोड़ते-छोड़ते दो महीने और लग गए। डाक्टर ने छोड़ दिया, पर बहू ने नहीं छोड़ा। एक चम्मच से धीरे-धीरे दूध पिला देतीं। काफी दिन के बाद रोटी-मिला दूध और महीने भर के बाद अन्न का स्पर्श किया था।

अपने जीवन में विपदाओं की प्रमुख घटनाओं को एकत्र कर लिख देने की चाह से परवर्ती कुछेक घटनाओं का उल्लेख अब कर दिया है। अब मैं जीवन के जिस समय की बातें लिख रहा हूं, उसके काफी बाद में ये घटनाएं घटित हुई थीं।

ढेंकानाल में मेरा दूसरा बेटा जन्मा। रामायण की रचना पहले की तरह चल रही

थी। बीमारी क्रमशः बढ़ने लगी। रात-दिन बिस्तर पर पड़ा रहता था। छाया की तरह पत्नी मेरे पास बैठी रहती थीं और मेरे शरीर को दबाती रहती थीं। काफी कष्ट से उठ-कर थोड़ी देर के लिए कचहरी जाता था। किसी तरह काम करके चला आता। उस समय मैनेजर बाबू के साथ कई तरह का अकारण और अरुचिकर पत्र-व्यवहार चालू हो गया। मैनेजर बाबू पूर्व-बंधुता भूलकर प्रच्छन्न रूप से विरोध करने लगे थे। मुझे किसी तरह बदनाम करके अपनी पदोन्नति ही उनका लक्ष्य था तब।

मैं जीवन-भर के कार्य-कारण संबंधजनित घटना-परंपरा की उत्पत्ति की समीक्षा कर इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि मानव में वास्तव में कोई किसी का शत्रु या मित्र नहीं है। स्वार्थ तथा स्थितियों के प्रभाव से आदमी रूपांतरित होता रहता है। यह भी एक प्रत्यक्षीभूत विषय है कि किसी अलक्षित अमोघ हाथों द्वारा मानव का भाग्यचक्र चालित है। पौरुष उसके सामने पराजित हो जाता है। एक और बात—धरती रंगभूमि है और मानव है अभिनेता। सूत्रधार नेपथ्य में रहकर अलग-अलग मनुष्यों से अलग-अलग अभिनय करवा रहे हैं। इन सभी विषयों पर विचार कर मैंने यही निष्कर्ष निकाला है कि शत्रु मानकर किसी से घृणा करना या उसके प्रति प्रतिहिंसा बरतना हमारे लिए कभी भी युक्तियुक्त बात हो नहीं सकती। सभी जगह, हर समय न्याय के उपाय से अपनी आत्मरक्षा करना ही मानव का कर्तव्य है।

मेरी पीड़ा दिन-ब-दिन बढ़ती गई। मैं धीरे-धीरे कार्य के लिए असमर्थ हो गया। छह महीने की छुट्टी लेकर बालेश्वर चला आया। मेरी इस बुरी स्थिति के समय भी मैनेजर बाबू मेरे अनिष्ट की चिंता में लगे हुए थे। मेरी अनुपस्थिति के समय उन्हें एक सुअवसर मिल गया। मेरे एक भयानक अपराध पर उनकी नजर पड़ी।

पूर्व-कथित बउलपुर गांव के नाले पर बांध था। उस पर पूर्ण अधिकार के एक मुकदमे का मैंने फैसला किया था। उस मुकदमे की अपील हुई। ऊपरी अदालत को फाइल भेजते समय निर्णय-फर्द पर चटपट लिखने के कारण कांटछांट हुई, जिस से मैंने उस फर्द को फाड़ डाला और एक नये फर्द पर साफ अक्षरों में लिख दिया था। लेख वैसा ही था, कहीं भी बदला नहीं था। जो कुछ पहले से लिखा गया था उसी की नकल-भर था।

मैं मुकदमों का फैसला कर काफी दिन बाद निर्णय लिखता था। मौके को देखे बिना ही जमीन की जांच करने वाली बात लिख देता था। इन्हीं दो महत दोषों की सूचना दे-कर मैनेजर ने सुपरिंटेंडेंट साहब के दफ्तर को रिपोर्ट भेज दी। उस अभियोग के प्रमाणस्वरूप उस मुकदमे की फाइलें भी उन्होंने भेजी थीं।

सुपरिंटेंडेंट साहब के दफ्तर से कैफियत-तलबी की चिट्ठी बालेश्वर पहुंची। उस समय मैं बिस्तर पर पड़ा था। मेरे परम हितैषी बंधु राय नंदकिशोर दास बहादुर ने गुप्त रूप से जो सलाह दी, उसी के अनुसार मैंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

रोग और विपदाएं जैसे बचपन से मेरा पीछा करती आ रही हैं। सुख-सौभाग्य की

कमी भी कभी नहीं रही। दरिद्रता-आर्थिक संपन्नता, सुख्याति-अख्याति, स्वास्थ्य-व्याधि, जैसे पारियों में मेरे पास आती रही थीं। नौकरी मिलना और छूट जाना मानो मेरे जीवन की नित्य घटना-सी रही है। नौकरी की तनखाह, राजाओं से मिले पुरस्कार तथा बीच-बीच के व्यापार से कभी-कभी काफी पैसे बनते थे। फिर कभी-कभी मैं पूर्ण रूप से खाली हो जाता था। अमरीका के निवासी किसी विद्वान ने कहा है-"धन उपार्जन करना बाजार को जाने की तरह है। पर उपार्जित अर्थ को संभालकर रखना सहज बात नहीं है।" सच है, निहायत सच है यह बात। पर मेरे उपार्जित धन का नाश किसी कुकार्य में नहीं हुआ। दूसरों का अधिक विश्वास करना, दूसरों के पास धन रखवाकर निश्चिंत रहना ही मेरे सामयिक अभाव के कारण थे। फलतः जीवन-काल में पर्याय क्रम से इतने अधिक उत्थान और पतन सचराचर मनुष्यों में बिरले ही नजर आते हैं।

27. दशपल्ला में दीवानी

ढेंकानाल से आकर बालेश्वर में बेकार बैठा था। रोग बराबर शरीर को घेरे हुए थे। उस समय ताऊ के बेटे भाई नित्यानंद सेनापति के इकलौते बेटे की शादी हुई। उस समय नित्यानंद सेनापति उघ्न नामक एक महाल के सरिश्तेदार थे। इसलिए पैसों की कमी नहीं थी। हम लोग संयुक्त परिवार में रहते थे। भतीजे की शादी में मुझे भी कुछ करना-धरना चाहिए, पर अर्थाभाव था। पत्नी से कहा। उनके पास छह सौ रुपये रखे थे। मेरे कहते ही निकाल कर दे दिए। हाय, स्वर्गगता देवि ! मन में कितनी भी दुखी क्यों न हुई हों, एक शब्द भी प्रतिवाद में नहीं कहा.... मेरे आदेश को ही व्रत मानती थीं।

वह समय मेरे लिए निहायत कष्टप्रद था। बढ़ती बीमारी के कारण शारीरिक यंत्रणा, पारिवारिक घटनाओं के कारण अत्यधिक मानसिक पीड़ा, उस पर अर्थाभाव–सभी दुर्योग एक साथ उपस्थित थे। केवल मात्र निस्वार्थपरायणा अपनी पत्नी की अक्लांत सेवा और उन्हीं द्वारा प्रदत्त सांत्वना से मेरा जीवन चल रहा था। अच्छे दिनों में जब मुझे साधारण पीड़ा भी होती तो कितने ही बंधु-परिजन आकर मुझे घेर लेते थे। मधुमय प्रस्फुटित पुष्प ही के चारों ओर भंवरे मंडराते हैं न ! मधुहीन फूल तो भूमि पर पड़ा रहता है। मेरे सुख-दुख, संपद-विपद सभी समय के सहायक एक मात्र निःस्वार्थ बंधु थे बालेश्वर नार्मल स्कूल के हेडमास्टर बाबू गोविंदचंद्र पटनायक। वे आकर फुरसत के समय मेरे पास बैठते और सांत्वनापूर्ण बातचीत से मेरा मनोरंजन करते थे।

मानव की, विशेषकर मेरी कोई भी स्थिति स्थायी नहीं है। धीरे-धीरे बीमारी का जोर घटने लगा। उठकर चलने-फिरने लगा। रामायण के सातों कांडों की रचना समाप्त कर महाराज (तब कुमार) बैकुंठनाथ दे के कहने पर महाभारत लिखना आरंभ कर दिया था। रोज तीन-चार घंटे बैठकर महाभारत का अनुवाद करता। वह समय परम सुख से बीतता था। पुस्तक लिखते समय कोई भी पार्थिव याद नहीं आती। रामायण के कुछ खंडों का मुद्रण-कार्य समाप्त हो गया था। शेष खंडों का कार्य अर्थाभाव के कारण हो नहीं पा रहा था। कुमार बैकुंठनाथ दे स्वतंत्र रूप से सातों खंडों को मुद्रित करने को राजी हो गए। यह निश्चित हुआ कि प्रकाशक के रूप में राजा श्यामानंद दे बहादुर का नाम रहेगा। राजाबहादुर ने मुझे पुरस्कार-स्वरूप साढ़े सात सौ रुपये दिए। पहले से मुझ पर कुछ कर्ज था, वह सब चुका दिया। अब निहायत अभाव की स्थिति आ पहुंची थी, अतः दिन-रात सिर्फ उपार्जन के उपाय ढूंढ़ने में व्यस्त रहता था। उस समय एक दिन सुबह की डाक से तीन चिट्ठियां आईं। दो पत्रों को खोलकर पढ़ा, पर पता नहीं क्यों, तीसरे पत्र को पढ़ने

की इच्छा नहीं हुई उस समय। अपने पलंग के सिरहाने खड़े होकर चिट्ठी पढ़ रहा था, वहीं उस अपठित पत्र को बाद में पढ़ूंगा, सोचकर तकिए के खोल के अंदर रख दिया और नहाने चला गया। फिर पढ़ने की याद नहीं रही। उस समय कलकत्ते में बृहद् प्रदर्शनी हुई थी। दूसरे दिन प्रदर्शनी देखने के लिए कलकत्ता चला गया। पंद्रह-बीस दिन के बाद कलकत्ता से वापस आकर धोबी को देने के लिए कपड़े निकालने लगा तो वह पत्र निकल आया। खोलकर पढ़ा। केऊंझर के महाराजा साहब का पत्र था। मासिक ड़ेढ सौ की तनखाह देकर मुझे मैनेजर बनाने की इच्छा थी उनकी। मैं राजी हूं या नहीं, शीघ्र लिखकर बताने का आग्रह किया था उन्होंने। पता लगाया तो जाना कि मुझसे कोई जवाब न पाकर उन्होंने दशपल्ला के मैनेजर बालेश्वर-निवासी बाबू कुंजबिहारी दे को उस पद पर नियुक्त कर दिया था।

यद्यपि बीमारियां शरीर में प्रच्छन्न रूप से अब भी थीं, फिर भी शरीर कार्यक्षम बन चुका था। हालत विशेषकर ऐसी हो गई थी कि उपार्जन की चेष्टा न करूं तो न चले। रजवाड़ों के सुपरिंटेंडेंट स्मिथ साहब की तबदीली हो गई थी। इसलिए रजवाड़ों में कहीं-न-कहीं नौकरी मिल जाने की संभावना से मैं कटक चला आया। मेरे परम बंधु और सहायक राय नंदकिशोर दास बहादुर मेरे योग्य किसी नौकरी की तलाश में रहे। अचानक दशपल्ला और नरसिंहपुर के दीवान का पद खाली हुआ। दशपल्ला में मैं और केऊंझर के पूर्व-दीवान नरसिंहपुर में नियुक्त हो गए। इन दोनों जगहों पर राजाओं के गद्दीनशीनी के दिन से ही सरकार द्वारा नियुक्त दीवानों के जरिये शासन चलता था। इन दोनों गढ़ों के राजा प्रजा के घर से सब रुपये-पैसे ले आकर राजकोष भरने की बात को ही राज्यपालन की विधि मानते थे। मिसाल के तौर पर, दशपल्ला के राजासाहब द्वारा प्रचलित फौजदारी कार्य विधान की दो दफाओं के बारे में बताने से पाठकों को अन्य विचार-पद्धतियों का आभास मिल जाएगा।

रामा माझी श्रीमणिमा[1] के श्रीचरणों में गिरकर गुहारने लगा—"माईबाप, भीमा माझी का एक बैल मेरी जमीन में धान खा रहा था। उसे भगाने के लिए छड़ी से मारा तो भीमा ने उसी छड़ी से मुझे मारा। मेरी गुहार सुनने की श्रीछामु[1] से आज्ञा हो।"

गुहार सुनते ही श्रीछामु की आज्ञा हुई—"एं क्या कहा ? भीमा ने मारा है तुझे ? जाओ, चार खास आदमी उसे बांधकर ले आना। उसके घर से यहां तक मार-मार कर लाना। उसके बैल को भी ले आना।''

भीमा और उसके बैल दोनों बंधे हुए आए। भीमा को मामला सुलझाने वाली बात मालूम हो, या लोगों ने उसे सिखाया हो.... उसने आते ही श्रीछामु के सामने कुछ रुपये रख दिए और साष्टांग प्रणाम कर कहा—"माईबाप, मैंने रामा को नहीं मारा, उसने मुझ पर झूठा इलजाम लगाया है।"

---

1. श्रीमणिमा, श्रीछामु आदि राजा के प्रति सम्मानसूचक संबोधन हैं।

कर्पूर-चंदन के लिए भीमा द्वारा दिए रुपयों पर दृष्टिपात होते ही श्रीछामु समझ गए कि भीमा की बात संपूर्ण सत्य है। रामा ने झूठा आरोप लगाया है। आदेश हुआ– "अरे. ... रामा ने श्रीछामु के आगे झूठी गुहार की है। उसे बांधकर पीटो !"

रामा को बांध दिया गया और वह भी मार खाने के बाद घर जाकर कुछ रुपये ले आया। उन रुपयों को जमा करा देने के बाद ही मामला खत्म हुआ।

दशपल्ला के दीवान का पद संभालने के तीन-चार महीने के बाद दशपल्ला में जोरमो इलाके के एक मुखिया मुझसे मिलने आए थे। वे जात के कायस्थ थे, स्थूल शरीर; झगड़ों-मुकदमों की पैरवी करने वाले आदमी थे, अतः कुछ लिखना-पढ़ना जानते थे। प्रसंगवश उन्होंने एक साल पहले अपने खिलाफ हुए एक मुकदमे के बारे में बताया। उसका संक्षिप्त विवरण कुछ निम्न प्रकार है।

किसी चुगलखोर ने राजा तक खबर पहुंचाई कि जोरमो के मुखिया ने अपने घर की बाहरी दीवार पर दो कमल-फूलों के चित्र बनवाए हैं। वैसे चित्र केवल श्रीमणिमा के प्रासाद की दीवार पर ही बन सकते हैं, पर तुच्छ मुखिया ने अपनी दीवार पर बनवाया है। देखें, उसका साहस !

श्रीमणिमा की आज्ञा से पड़ोसियों ने मुखिया को पकड़कर हाजिर किया। श्रीछामु तब तक कमल के चित्रों के बारे में भूल चुके थे। मुखिया पर नजर पड़ते ही आज्ञा हुई–"अरे प्रधान, तू इतना मोटा हुआ है रे ! रोज कितना घी खाता है, बता ?"

मुखिया ने भय से हाथ जोड़ लिए। बताया–"महाप्रभु, मेरे पास पैसा कहां कि घी खाऊं?"

श्रीमणिमा ने आज्ञा की–"हम श्रीछामु ने पूछकर ही कहा और तुमने उसे अमान्य कर झूठ बोला। यह घी अवश्य खाता है, नहीं तो इस तरह मोटा बना कैसे !" और किसी पार्षद से पूछा–"यह प्रधान (मुखिया) घी खाता है या नहीं ?"

पार्षद–"हजूर, माईबाप, महाप्रभु, मणिमा, छामु.... श्रीआज्ञा क्या कभी गलत हो सकती है ?"

पूर्व-राजा के समय से राजमहल के लिए वरिष्ठ पंजीकार (महल का हिसाब रखने वाले) नियुक्त थे। तब तक वे नए राजा की नाड़ी और नक्षत्रों के बारे में जान गए थे। उस पर वे प्रधान के आत्मीय व्यक्ति थे। उन्होंने श्रीछामु के सामने हाथ जोड़कर कहा–"महाप्रभु, इस प्रधान के घर से रुपये तो जरूर लाएंगे पर कितने रुपये ? वह कागजात देखकर सही हिसाब देखने से पता चलेगा। तब इच्छानुसार ले आने पर भी कमिशनर साहब पकड़ नहीं पाएंगे।"

श्रीमणिमा ने इस पर आदेश दिया–"ठीक, सही बात, हम श्रीछामु वही आदेश देते हैं।"

प्रधान ने बहुत-से ताड़पत्र मंगाकर पोथी बनाई। छामु उसे रोज देख सकें, ऐसी जगह बैठकर तेजी से दिन भर लिखता जाता। हिसाब बनाने में उसे एक महीना लग गया।

एक दिन सुबह पांजिआ (पंजीकार, जो महल का हिसाब भी रखते हैं) ने श्रीछामु का मिजाज ठीक जानकर प्रधान को हिसाब दाखिल करने को कहा। उसने लाकर बड़ी-बड़ी पांच-सात पोथियां राजासाहब के सामने रख दीं। श्रीछामु की आज्ञा पाकर पांजिआ हिसाब देखने लगा। पोथी खोलकर उसने ताड़पत्र के कई पन्ने उलट-पुलट कर देख लिए। हर पन्ने में सिर्फ यही लिखा था। हरि मुझे बचाओ.... हरि मुझे बचाओ ! मन-ही-मन खूब हंसा। उसने और पोथियां रख दीं।

श्रीमणिमा ने पांजिआ को देखा और पूछा–"क्यों, क्या देखा ?"

पांजिआ–"मणिमा, जितने का उतना।"

श्रीमणिमा–"क्या कहा ?"

पांजिआ–"मणिमा, बात यह है कि प्रधान ने रैयत से जो कुछ वसूल किया सब खजाने में जमा कर दिया है। खुद नहीं हड़प पाया।"

श्रीमणिमा–"एं, हम छामु पोथियों को देखकर आज्ञा दे रहे हैं कि प्रधान ने बीच में कुछ नहीं खाया है। अच्छा पांजिआ, नूआगढ़, आठगढ़ आदि में भी राजा हैं, पर वे हमारी तरह बुद्धिमान हैं ? कभी नहीं, कभी हो ही नहीं सकता।"

राजासाहब का विश्वास था कि उन जैसा विद्वान, धनी और बुद्धिमान व्यक्ति इस धरती पर एक भी नहीं है।

पूर्वोक्त दोनों रजवाड़ों के अत्याचार से पीड़ित सैकड़ों प्रजा-जनों के प्रार्थना-पत्र सुपरिंटेंडेंट साहब को मिले थे। इस कारण राजाओं को सही सलाह और इलाके में शांति स्थापित करने के लिए सरकार की तरफ से दीवान नियुक्त किए जा रहे थे।

जगमोहन बाबू और मैं ठीक एक ही तारीख और समय पर दीवान नियुक्त हुए थे। अब कर्मक्षेत्र को चलने की बात थी।

भादों का महीना था। घोर वर्षा का समय। बाढ़ के कारण महानदी में पानी दोनों तट लांघकर बह रहा था। कटक से दशपल्ला जाने के लिए महानदी की दायीं ओर किनारे-किनारे जो सड़क है वह भी जगह-जगह डूब गई थी। कहीं-कहीं घुटनों तक, कहीं पेट कहीं छाती तक पानी था। उस पर पर्वतों से निकले झरनों का बहाव तेज था। अचानक आया पानी बिना नाव के पार करना संभव नहीं। बारिश के बंद होने पर तो सभी नाले सूख जाते हैं। वर्षा में बैलगाड़ी या पालकी पर सवार होकर चलने का कोई उपाय नहीं होता। दोनों दीवानों ने मिलकर एक महाजनी उठानी नाव (लौटने वाली और बहाव के प्रतिकूल चलने वाली नाव) किराये पर ली। रजवाड़ों से सरक (व्यावसायिक) चीजें लादकर कटक में उतारकर ये नावें खाली लौट जाती थीं। ये नावें नदी के बहाव के प्रतिकूल चलती हैं, अतः इन्हें उठानी नाव कहते हैं। रजवाड़ों के साहूकार-महाजनों का प्रमुख अवलंबन हैं ये नावें। पाठकगण कटक शहर के बाराबाटी किले के पास महानदी के किनारे गड़गड़िआ महादेवजी घाट से काफी ऊपर तक बारिश के दिनों में सैकड़ों नावें बंधी हुई

देख सकते हैं। संबलपुर की रेल-लाइन खुल जाने के बाद से इन नावों की संख्या घटती जा रही है। ये नावें लंबाई में सोलह गोडिआ से पच्चीस गोडिआ तक अर्थात सोलह हाथ से पच्चीस हाथ तक, चौड़ाई में लंबाई के हिसाब से पांच-छह हाथ और ऊंचाई में लगभग तीन-चार हाथ की होती हैं। ये नावें जलमार्ग की स्थिति को देखते हुए बनाई जाती हैं। नाव चौड़ाई में बड़ी हो जाए तो बहाव में ऊपर उठने में या पथरीले पथ में सांप की भांति कुटिल गति से चलने में बहुत असुविधा होती है। उसी तरह कई जगह दोनों ओर की चट्टानें महानदी के तल तक फैली हुई हैं, जिनके बीचोंबीच आते समय तेज हवा के कारण टकराने की संभावना भी है। इसलिए इन नावों को ऊंचाई में यथासंभव छोटा बनाया जाता है।

नाव के ठीक बीचोंबीच दोनों कोनों के समानांतर छाजन को उठाए रखने के लिए चार-पांच खूंटे होते हैं, जिन पर पाटी बिछी रहती है। उस पर दोनों ओर छप्पर होता है। उस पर पहले बांस का ढांचा बनाकर सण या पुआल बिछाकर बांस के ऊपरी सिरे को पतले तराशकर मजबूती से कसकर बांध दिया जाता है। उसी छाजन की ढलान पर दौड़-धूप कर डांडिये नाव खेते हैं। भीतर खंभों की चौड़ाई के हिसाब से बांस या सण के बने टाट बांधकर गुमटियां बनाई गई होती हैं, जिनमें अलग-अलग चीजें रखी जाती हैं। सामान लादकर ऊपर कसकर नाव के साथ टाट बांध दिया जाता है। नाव पर पूरा सामान लद जाने पर सिर्फ चार अंगुल ऊपर दिखाई पड़ता है। नदी में नाव के चलते समय हवा तेज हो तो लहरों से पानी ऊपर उठ आता है और फिर नीचे उतर आता है, पर अंदर घुसकर सामान को भिगो नहीं पाता और छाजन पर नीचे बह आता है। भरी नाव के दोनों कोने और छाजन-भर दिखाई पड़ता है।

महानदी के गड़गडिआ महादेव घाट पर हमारी नाव लगी थी। सुबह लगभग एक पहर गया होगा जब मांझी ने हम दोनों को सामान सहित नाव के बीच वाली गुमटी में बिठा दिया और ऊपर से कसकर टाट बांध दिए। हमारे नौकर-चाकर एक दूसरी गुमटी में रहे। भीतर न हवा थी, न साफ उजाला। अंदर हम दोनों दीवान बिस्तर बिछाकर बैठते या सोते। सोते ज्यादा थे, क्योंकि बैठें तो सिर से छत टकराती थी। पैर पसारकर सोने की जगह नहीं थी। तकिए के सहारे सिर्फ लेटने भर को ही सोना कह सकते हैं। सोते समय केंचुए की तरह कुंडली बांधकर पड़ा रहना पड़ता था।

'जै-जै गंगा माता' पुकारकर मांझी ने नाव खोल दी। नाव बहाव के प्रतिकूल ऊपर उठेगी, अत: उसे डांड के सहारे उठाना होगा। हमारी नाव में पांच डांडिए और एक खेवनहार था। पांचों केवटों के हाथ में लंबे-लंबे बांस के लगभग पांच-छह हाथ के डांड थे। खेवनहार के हाथों में भी उसी तरह का एक डांड था। फर्क सिर्फ यह था कि उसके अगले सिरे पर सण से कसकर लोहे का एक अंकुश बंधा था। नाव के चलते समय खेवनहार आवश्यकतानुसार इधर-उधर डांड चलाकर नाव को सही दिशा में मोड़ लेता था। जंगल

के बीच नाव के चलते समय पास वाले पेड़ों की शाखों को उसी अंकुश से पकड़कर मोड़ लेता था। खेने वाले डांडिए सामने कतार बांधकर खड़े हो जाते और एक साथ पानी में डांडे डालकर दोनों मुट्ठियों में कसकर पकड़, शरीर की पूरी ताकत लगाकर दबाव डालते हुए पीछे तक दौड़ते-से आते हैं। उस समय खेने वालों की रीढ़ और पंजर ऐंठी हुई-सी लगती है। थोड़ी-सी ढील पड़े तो तेज बहाव में नाव पीछे हट जाए, इसलिए खेने वाले पीछे के कोने पर डांड ऊपर उठाते ही तेजी से सामने दौड़ आते और पानी में डांड डाल कर नाव को रोक लेते। नाव के छाजन का ढलान इतना अधिक होता कि अनभ्यासी के तेजी से दौड़ने पर जरूर गिर जाए। कभी-कभी उनमें से भी एक-आध नदी में गिर भी पड़ते थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि पानी में गिर जाने वाले को ऊपर उठाने में सहायता करना तो दूर की बात रही, 'क्यों गिरा' कहकर सभी उस पर बिगड़ते और मारते भी। और भी आश्चर्य की बात तो यह है कि वही मार खाया मांझी, कोई और गिर पड़े तो दूसरों के साथ मिलकर उसे मारने दौड़ता है।

दस या ग्यारह बजे तक ज्यादा-से-ज्यादा डेढ़ कोस का रास्ता तय करके ऊपर आकर कुशलेश्वर महादेवजी के किनारे नाव लगी। मांझी ने तट के बालू पर एक डांड गाड़ कर नाव को बांध दिया। उसके बाद नाव के टाट खोलकर हमें बाहर निकाला। नौकर रसोई बनाने लगे। नहाने-खाने के बाद हमें फिर से उसी गुमटी में बंद करके नाव खोल दी।

दशपल्ला में दीवानी (2)

नाविकों के लिए दिन के समय रसोई नहीं बनती। नाव पर एक चूल्हा रहता जिसे इधर-उधर ले जाया जा सकता था। दो बड़ी-बड़ी हंडियां होतीं। रात के समय नाव पर वे रसोई बनाते। गर्मागर्म खाकर फिर पांच-सात सेर भात रांधकर उस में दो-तीन घड़े पानी डाल देते। हांडी के पास एक बटलोई रखी हुई होती। सुबह एक पहर बीतने पर ही खाना शुरू हो जाता। एक खेना छोड़कर चला आता और झटपट आधी बटलोई भात और आधी बटलोई मांड पीकर दो-तीन मिनट में आकर फिर काम पर लग जाता। सुबह से शाम तक उस बटलोई को फुर्सत ही नहीं रहती। एक-एक मांझी कम-से-कम पंद्रह बार मांड पीता। उस समय तरकारी के साथ कोई मतलब नहीं रहता। तरकारी के लिए फुर्सत भी कहां मिलती ? कदाचित किसी के हिस्से में दो-एक प्याज या अचार आ जाए तो बहुत हो गया समझो। नहीं तो, नमक-भर काफी होता।

नदी में अतल पानी। उस पर बहाव का जोर। कैसे संभालती नाव ? इसलिए नाव तट से चार-पांच हाथ की दूरी पर या तट से सट कर चल रही थी। कहीं तट पर दूर तक फरचा-बालू मिल जाती तो नाव में जो तीस-चालीस हाथ की रस्सी होती है उसे नाव

के अगले सिर पर बांधकर केवट डांड लगाते हुए बालू पर चलकर खींचते ले जाते थे। अनेक जगह बाढ़ के पानी ने तट से एक-डेढ़ कोस तक भूमि को डुबा दिया था। नदी या तट का कोई नामोनिशान नहीं। सब एकाकार हो गए थे। फिर भी नाव को तट से सटाकर ही चलाना होता। कभी खेतों पर से तो कभी सपाट मैदान पर से, फिर कभी जंगल में से रास्ता बना-बना कर नाव चलाई जाती। उस समय खेवनहार सामने रहकर उस अंकुश वाले डांड से पेड़ की शाखों को पकड़-पकड़कर नाव को सही दिशा में मोड़ लेता।

कदाचित एक-आध डांडिये भी शाखों को हटाते हुए नाव ऊपर उठाते। संध्या के समय किसी सुंदर मनोरम जगह पर नाव रोक ली जाती। ऊंचा-नीचा तथा गीला और दूर तक फैला तट; उत्तर, पश्चिम और दक्षिण तीनों दिशाओं में विशाल प्राचीरों की भांति खड़ी पर्वत-श्रेणी, पश्चिम पर्वत-श्रृंग पर ज्वलंत स्वर्णपिंडवत् सूर्यदेव अस्तगमनोन्मुख; ऊपर आकाश को कलरव से मुखरित करते हुए पक्षी पश्चिमी पर्वत की ओर उड़ते जाते दिखाई देते। मानो पश्चिमी पर्वत-प्राचीर के पास ही महानदी लीन हो गई है.... निर्जन, निस्तब्ध सबसे संपर्कशून्य होकर। उस तरह की एक जगह संध्या के समय ऊपरी हिस्से पर बैठे पश्चिम दिशा की ओर देखने से मन में जो गंभीर पवित्र भावनाएं उदित होतीं वह वर्णनातीत हैं। वैसी महान भावनाओं का अनुभव दर्शक हृदय से ही कर सकता है।

उसी तरह नटवर गति से चलते हुए आठवें दिन लगभग मध्यान्ह के समय हमारी नाव नरसिंहपुर इलाके के किसी गांव के घाट पर लगी। वह जगह महानदी के उत्तरी और दक्षिणी दोनों तट, नरसिंहपुर और दशपल्ला दोनों के सीमांत पर है। महानदी तट से नरसिंहपुर गढ़ की दूरी लगभग एक कोस होगी। महानदी के तट से दक्षिण की ओर प्राय: सात कोस की दूरी पर है दशपल्ला की राजधानी मधुवन गढ़। नदी के तट पर दशपल्ला इलाके का बेलपड़ा गांव है। उसी गांव के दक्षिणी सिरे में एक सरकारी डाक बंगला था। संबलपुर से एक सड़क बेलपड़ा गांव होते हुए पुरी तक गई है। मध्य भारत और उत्कल के पश्चिमी रजवाड़ों से तीर्थयात्री इसी रास्ते पुरी आते-जाते थे। बेलपड़ा गांव की पश्चिम दिशा में लगभग आठ कोस की दूरी पर प्रख्यात बरमूल घाटी है। महानदी के उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओं में तटों को घेरकर उसके उद्गम ही से प्राचीर-समान विशाल पर्वत खड़े हैं। बीचोंबीच अत्यंत गंभीर और अप्रशस्त हो महानदी प्रवाहित है। वह एक अपूर्व और विचित्र दृश्य था।

नाव जाकर नरसिंहपुर इलाके के किसी गांव के घाट पर लगी। दीवान बाबू का सामान ले जाने के लिए गढ़ से मजदूर और दूसरे कर्मचारी आए हुए थे। बाबू जगमोहन दास जी विदा लेकर नाव से उतर गए। अब मन बेहद खुश था। आलोक, पवन और बाह्य जगत के साथ पूरी तरह संपर्कशून्य होकर नाव की उस गुमटी या अंधकूप के अंदर पड़े-पड़े सुबह से लेकर शाम तक आगे-पीछे दौड़ते हुए पांच केवटों के पैरों की कर्कश आहट सुनने

से तो छुट्टी मिली। रात की नींद भी तथैव च। प्राणधारण या क्षुधा-निवारण के लिए दाल ही 'पतित पावन' थी। उसके साथ कटक से साथ लाए हुए मार्ग-संबल के रूप में बासी मिष्ठान्न भी थे।

मन-ही-मन उस नाव की गुमटी को अंतिम विदा देकर खुशी-खुशी बाहर निकल आया। कटक से कर्मक्षेत्र में पहुंचने के लिए एक मात्र सहायक उस नाव की गुमटी के प्रति आभार-प्रदर्शन तो दूर की बात रही, एक बार पीछे मुड़कर देखने की भी इच्छा नहीं हुई। इस तरह के कृतघ्नों का दंड भोगना अवश्यंभावी है। उसका प्रमाण पाठक को शीघ्र ही प्राप्त होगा।

भादों मास के अंत की कड़ी धूप.... छाता लेकर बाहर नाव के मचिए पर आकर बैठ गया। रसोइया लड़का भी आकर पास बैठा तो मैं उसे खुश मन से समझाने लगा– "वह देख, सामने दशपल्ला इलाके का बेलपड़ा गांव दिखाई पड़ रहा है। नदी पार करने में चार-पांच घंटे लगेंगे.... शाम तक हम लोग वहां पहुंच जाएंगे। प्रधान राशन देगा, कई तरह के साग-भाजी और मछलियां अच्छी तरह पकाना, पर पकाना जल्दी-जल्दी। आज भरपेट खाकर आराम से सोना है। कटक की मिठाई जो साथ है, उसकी और क्या जरूरत है ? जाओ, दे दो वह सब केवटों को।"

नाविकों ने नाव खोल दी। वहां नदी में अतल पानी था। दो डांडिये नाव खे रहे थे। खेवनहार बैठे-बैठे सही दिशा में नाव मोड़ता रहता था।

नाव चलने के लगभग दो घंटे बाद जब नाव नदी के बीचोंबीच चल रही थी और डांडिये उत्साह से खे रहे थे, पतवार संभाले बैठे मांझी अचानक चिल्लाया–"तेज चलाओ.... तेज चलाओ.... मणिभद्रा पहाड़ पर बादल छाने लगा है। अब वर्षा होगी।" मैंने चौंककर चारों ओर देखा। चारों ओर धूप बिछी थी, बादल कहां ? थोड़ी दूर नदी के बीचोंबीच बालू का एक छोटा-सा टीला था। केवटों ने नाव लेकर वहीं लगाई। देखा, दक्षिण-पश्चिम की ओर पर्वत-शिखर पर छोटे-छोटे बादल के टुकड़े मंडरा रहे थे। पर्वत-विशेष के शिखर पर छाए बादल को देखकर नाविक वर्षा-तूफान के बारे में सही-सही बता सकते हैं। सचमुच उस दिन आध घंटे में भयानक तूफान के साथ वर्षा होने लगी। मांझी ने फिर से मुझे और नौकर को उसी परित्यक्त अंधकूप के अंदर ठेलकर ऊपर से टाट को कसकर बांध दिया। हमने अपना सामान सहेज-समेट लिया था। उसे फिर से खोलकर बिस्तर बिछाना पड़ा। दुख अपने साथ अपने सगे-संगियों को भी ले आता है। जगमोहन बाबू साथ थे तो कम-से-कम दोनों एक-दूसरे के साथ बतिया तो लेते थे। अब मैं अकेला रह गया था। उस समय तक हारिकेन लालटेन का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था। गुमटी के अंदर दीया जलाना निरापद नहीं था। गुमटी का अंधकूपनुमा अंधकार, उस पर दुख और अनाहारजनित यंत्रणा थी। दिन के समय हम लोगों ने आधा पेट खाया था। रात को बढ़िया खाना मिलेगा, इस आशा से बालू पर बैठकर अर्धसिद्धप्राय मूंग की दाल के सहारे खाने की इच्छा ही नहीं

हुई थी। अब सभी कष्टों का अवसान होगा, वही स्मरण कर मन और उदर परिपूर्ण हो गया था। कटक की बासी मिठाई थी जिसे दिन के समय मांझियों को दिलवा दी थी। तब बड़ी भूख लगने लगी थी। रात-भर लगातार तूफान के साथ वर्षा होती रही। बाहर तेज हवा की सांय-सांय आवाज थी। भाकुत (वह खंभा जिस से हाथी बांधा जाता है) में बंधे पागल हाथी की तरह नाव इधर-उधर पछाड़ें खाते हुए गिर-उठ रही थी। गुमटी के अंदर स्थिर हो सोने की भी संभावना नहीं थी। हम सिर्फ हिचकोले खाते हुए जैसे-तैसे पड़े हुए थे। नाआपागड़ (नाव को बांधने के लिए खास तरह की मजबूत रस्सी) टूट जाए तो जान नहीं बचेगी। प्रबल धारा में नाव भंवर में फंसकर जरूर डूब जाएगी या पहाड़ से टकराकर चूर्ण-विचूर्ण हो जाएगी। उससे बचने का कोई उपाय नहीं था। इसलिए बीच-बीच में प्राण-नाश की आशंका भी मन को अस्थिर कर रही थी। भूख की यंत्रणा, शरीर की अस्थिरता, प्राण-नाश की शंका--ये सारे दुर्योग पूरी तरह से जीवन को घेरे हुए थे। वैसी दशा में संतापनाशिनी, संतोषदायिनी निद्रा देवी कैसे पास आती ? उस समय याद आई या नहीं, स्मरण नहीं कर पा रहा हूं ; अब इस प्राचीन श्लोक को लिख रहा हूं--

'यच्छिन्तितं तदहि दूरतरं प्रयाति
यच्छेतषा नगणितं तदिहोपपैति।'

इसी कारण हिंदू जाति अधिक भाग्यवादी है। विशेषकर मैं जीवन-भर शत-सहस्र घटनाएं देख-सुन और भोगकर भाग्यवादी बन गया हूं।

दुख से हो या सुख से, रात बीतती ही है.... बीती। वर्षा और तूफान का प्रकोप कम होने लगा था। अब थोड़ी-सी बूंदाबांदी ही थी। भोर होते ही केवटों ने नाव खोल दी। दिन के एक पहर गए नाव बेलपड़ा के घाट पर लगी। नए दीवान साहब का स्वागत कर ले जाने के लिए कुछ प्रजाजन के साथ मुखिया खुद उपस्थित थे। उस समय मैं अर्धमृत-सा हो गया था। किसी का सहारा लिए बिना नाव पर से उतरने में भी असमर्थ था। पर मैं तो गढ़ का दीवान, हाकिम और मैजिस्ट्रेट बनकर आया था। मैं दुर्बल नहीं हूं, मन और शरीर दोनों में तेज हूं -- यह मुझे लोगों को दिखाना था। अब मैं अगर किसी का सहारा लेकर नाव से उतरूं तो लोग कहेंगे कि मैं वीर पुरुष नहीं हूं। ताकत न होने के बावजूद नाव से कूद पड़ा। चिकनी मिट्टी थी, पैर फिसल गया। और, 'पपात धरणी तले'। उन्हें मेरे वीरत्व का पता चल ही गया। पाठकगण, आप मेरे कपटाचारों के बारे में सुनकर हंसेंगे, मुझे धिक्कारेंगे। मैं अतीत में किए अपने कपट आचरणों के बारे में सोचकर खुद हंसता हूं, अनुताप करता हूं। आपका क्या दोष है ? बात क्या है, आप खुद जानते हैं। संसार एक नाट्य-भूमि है, मानव अभिनेता है। जो अच्छी तरह नाच-कूद कर सकता है, अंग-भंगिमाओं से दूसरों को लुभा सकता है, उसी की जीत होती है।

मुझे गढ़ तक ले जाने के लिए एक राजकर्मचारी पालकी लेकर उपस्थित था। बेलपड़ा में आहारादि कर संध्या के समय यात्रा शुरू की। बेलपड़ा से गढ़ की दूरी थी सात कोस।

उसी दिन हम लोग गढ़ पहुंच नहीं पाए। गढ़ से दो कोस दूर मध्यखंड नामक गांव में रात्रिवास की व्यवस्था ग्राम-प्रधान ने कर रखी थी। दशपल्ला में मध्यखंड एक प्रख्यात गांव है। वहां राज-सरकार का अनाज-भंडार था, कचहरीघर भी। कुमारिका उपनदी इसी गांव में से होकर महानदी में आ मिलती है। इस कारण इस गांव में जल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है और जमीन उर्वर है।

दूसरे दिन सुबह लगभग एक पहर के समय हम अपने लिए नियत डेरे पर पहुंच गए। राजासाहब के भंडार से राशन आया तो उसी से एक समूचा कमरा भर गया। पहले रजवाड़े में राजाओं के द्वारा उसी तरह राशन भिजवाने की व्यवस्था की जाती थी। किसी विशिष्ट व्यक्ति के पधारने पर उनके लिए जो राशन एक दिन के लिए पहुंचता था, उसी से महीना-भर आसानी से चल सकता था। राशन भेजने में अभ्यस्त कारिंदे ऐसे व्यवस्थित ढंग से सामान भेजते थे कि आए हुए अभ्यागत को थोड़ी-सी भी असुविधा नहीं होती। दातून तक देना वे नहीं भूलते थे।

दिन के दस या ग्यारह बजे मैं राजासाहब से मिलने गया। राजासाहब एक बड़े-से तकिये के सहारे गलीचे पर विराजमान थे। छामुकरण, गंताघरिया, धानघरिया, पांजिआ[1] आदि राजकर्मचारी श्रीछामु के सामने या बायीं ओर छह-सात हाथ दूर बैठे हुए थे। वे सब जमीन पर बैठे थे। उनके पीछे आठ-दस निजी सेवक खड़े हुए थे। नए दीवान साहब को देखने के लिए देहात से भी कई मुखिये और पांजिए आए हुए थे। श्रीछामु के दायीं ओर चार-पांच हाथ छोड़ एक और गलीचा बिछाया गया था। वह दीवान साहब का आसन था।

राजासाहब दीर्घ आकार के थे। सही डीलडौल के, पर अत्यंत स्थूल। छाती तक लंबी दाढ़ी। वास्तव में ही उनका शरीर राज-शरीर के लिए उपयुक्त था। दर्शन मात्र से ससम्मान अभिवादन करने की इच्छा होती। दुख की बात तो यह है कि शरीर की स्थूलता से बुद्धि की स्थूलता अधिक थी।

मेरे आसन ग्रहण करते ही श्रीछामु ने मुझे नख से शिख तक बार-बार देखना आरंभ कर दिया। उस तरह से सभ्यता-विरुद्ध देखना मुझे विचित्र-सा लगा। मेरे शरीर पर श्रीछामु की दृष्टि आबद्ध थी। उन्होंने दायें हाथ की मुट्ठी बांधकर पीछे रखा तथा दूसरी ओर अंगूठे को जोर-जोर से बार-बार हिलाकर उन्हें घेरे खड़े पांजिए, खास लोग और मुखियों की ओर ताक रहे थे। मैं अन्यमनस्क हूं, राजासाहब की ओर देख नहीं रहा हूं, ऐसा बहाना करते हुए मैं राजासाहब की करतूतों को ध्यान से देख रहा था। मेरे शारीरिक गठन की देर तक जांच करने के बाद श्रीछामु का मुझसे पहला सवाल हुआ–

"अरे दीवान बाबू, आप रोज कितना घी खाते हैं ?"

छामुकरण–हिसाब रखने वाला कर्मचारी। गंताघरिया–भंडारघर के, और धानघरिया–शस्यभंडार के देख-रेख करने वाले कर्मचारी। पांजिआ–मुनीम।

"जी, और कितना खाऊंगा, यही तोला-भर होगा।"

श्रीछामु ने पास वाले लोगों की ओर देखा और कुछ अश्रद्धाभाव से कहा—"नहीं, नहीं, ऐसा नहीं होगा। रोज भात के साथ तुम आधा सेर घी खाना शुरू कर दो। तब देखना। हम श्रीछामु रोज उरिये में (राजा के लिए उद्दिष्ट दोनों वक्त के भोजन) दो सेर घी लेते हैं। अरे ओ सरघरिया ! (राशन की व्यवस्था करने वाला) दीवान बाबू के लिए रोज दो सेर घी भेजा कर।" सचमुच अगले दिन से रोज मेरे लिए दो सेर घी आने लगा। इतने घी का क्या होगा ? रोज मना करता, पर कौन सुने ? बाद में मुझे पेशकार बाबू ने समझाया कि घी की आवश्यकता नहीं हो तो राजासाहब से न कहूं, बंद हो जाएगा। सचमुच वही हुआ। दशपल्ला कचहरी के पेशकार बाबू याजपुर के रहने वाले थे। काफी समय से वे वहां पेशकार के पद पर थे। अत: वे राजासाहब के विचार-बर्ताव से भलीभांति परिचित थे। मेरे राजासाहब के साथ मिलकर आते ही पेशकार बाबू मुझसे मिलने मेरे घर आए थे। पहली मुलाकात में राजासाहब से मेरे मिलने का सारा विवरण अर्थात मुझे सिर से पैर तक उनका बार-बार देखना, पीछे हाथ ले जाकर अंगूठा हिलाना आदि के साथ-साथ और कुछ न कहकर केवल घी खाने वाली बात पूछना वगैरह को नहीं समझा था। इसलिए पेशकार बाबू से पूछा तो उन्होंने निम्न व्याख्या की—

राजासाहब ने मुझे बार-बार घूर कर देखा अर्थात मैं पतला हूं, स्थूलकाय नहीं। अत: असुंदर हूं और ज्ञानहीन हूं। इसी से वे स्थिर निश्चय पर पहुंचे कि यह नया दीवान असुंदर और मूर्ख है। पर उसे सुपर्दंट (सुपरिंटेंडेंट) साहब ने भेजा है, इसे सुंदर और ज्ञानवान बनाना होगा। इसी कारण मेरे लिए एक सेर घी खाने की व्यवस्था कर दी। राजासाहब की दृढ़ धारणा थी कि आदमी घी खाए तो सुंदर और ज्ञानवंत बन जाए।

मेरे लौट आने पर राजासाहब ने खास लोगों से मेरे शारीरिक सौंदर्य और ज्ञान के बारे में जो कुछ कहा वह मैंने बाद में सुना था। पेशकार की बात और उस मंतव्य में काफी समानता थी।

अब किसी स्वर्गगत राजपुरुष के अशोभनीय आचरणों का बखान करना मेरे लिए उचित नहीं है, पर आप से सब न कह दूं तो परवर्ती वृत्तांतों का उल्लेख करना अप्रासंगिक-सा लगेगा, अत: बाध्य हो संक्षेप में लिख रहा हूं।

राजासाहब की दृढ़ धारणा थी कि संसार में उनकी भांति रूपवान, ज्ञानवान, विद्वान, धनी कोई और नहीं है। इसी विषय को लेकर रोज श्रीछामु के दरबार में चर्चा होती। उनके खास लोग और मुनीम 'जी हजूर, जी हजूर' कहते हुए उनकी उक्तियों की यथार्थता साबित करते रहते। वास्तव में उनका शरीर काबुल के पठान की तरह दीर्घ और शक्तिशाली था, देखते ही दर्शक के मन में भय और भक्ति उपजाने लायक था। राजासाहब के स्वर्गीय पिता ने उन्हें शिक्षित करने के लिए दस-पंद्रह साल तक एक शिक्षक को नियुक्त कर रखा था। शिक्षक महाशय की प्रगाढ़ चेष्टा और युगांतव्यापी शिक्षादान के फलस्वरूप उन्होंने

"श्रीचैतन्य देओ भंज राजा.... गढ़ दशपल्ला और योरमो" सिर्फ इतना ही लिखना सीखा था। अवश्य इतनी-सी लिखाई में कौन-सा अक्षर 'च' कौन-सा 'द' और कौन-सा 'न' स्वतंत्र रूप से है, उनके लिए कहना कठिन था। पर दीर्घ काल की आदत के कारण वे बहुत ही तेजी से लिख सकते थे।

दशपल्ला में दो कचहरी थीं। भीतर एक कचहरी यानी राजासाहब का खास कमरा और बाहर दीवानी कचहरी। बाहर कचहरी में विचार हेतु बहुत सारे प्रार्थी जमा हुए हैं, कभी-कभार यह संवाद श्रीमणिमा के कर्णगोचर हुआ तो वे झटपट पजामा पहनकर कचहरी पधारते थे और कुर्सी पर विराजित होकर दोनों हाथ ऊपर उठाकर जोर-जोर से आज्ञा करते थे-"चुप हो जाओ, चुप हो जाओ.... अब छामु लिखकर आदेश देंगे।"

जानकार दफ्तरी तब दवात के मुंह तक स्याही भरकर दो कोरे कागज और कलम श्रीछामु के सामने रख देता था। श्रीछामु तब लिखकर आज्ञा देते-"श्रीचैतन्य देओ भंज राजा गढ़ दशपल्ला और योरमो।" अविश्रांत श्रीकर चलता रहता था। पन्ना उलटते समय स्याही अलग पन्ने पर लगती जाती थी। चटापट लिखना समाप्त कर श्रीछामु कर-कमलों में उसे ऊपर उठाकर आगे-पीछे, चारों ओर उपस्थित लोगों को दिखाते हुए पूछने लगते थे-"देखो, देखो, सब देखो। हमने किस तरह लिख कर आदेश दिया। हमारे ताऊ (उनके पूर्व राजा) क्या इस तरह लिख सकते थे ? कहो, सच-सच बताओ।" लोगों में मार खाने का, जुर्माना देने का और जेल जाने का डर भरपूर रहता। उपस्थित सभी लगभग एक साथ जोर-जोर से कहते-"जी हजूर, नहीं-नहीं ! कोई भी श्रीछामु की तरह नहीं लिखता था।" वे फिर पूछते-"नयागढ़ के राजा, खंडपड़ा के राजा, और राजा जो हैं क्या उनमें से कोई ऐसा लिख सकता है ?" लोगों से उत्तर पाने के पहले ही वे दोनों मुष्टिबद्ध हाथों को ऊपर उठाकर अंगूठों को हिला-हिलाकर कहने लगते-"नहीं, नहीं, एक भी नहीं।" मैं पास एक कुर्सी पर बैठे-बैठे श्रीछामु के कार्यकलाप देखता रहता। बीच-बीच में हंसी न रोक पाता तो पसीने के बहाने हंसी पोंछने की आवश्यकता भी आ जाती।

श्रीछामु कचहरी के कार्य समाप्त कर एक बार मुझे सिर से पैर तक घूरकर उपस्थित सभी लोगों को आंख के इशारे से मुझे दिखाते। मतलब यह कि.... इसे.... देखो.... कैसा पतला है, अर्थात मूर्ख है। एक-दो बार नहीं, हर महीने पांच-सात बार यही बात दुहराई जाती और कचहरी में यह सब अभिनय होता।

यद्यपि काफी आगे की घटना है, फिर भी श्रीछामु की विद्या का परिचय देने के लिए यहां और दो ही बातों का उल्लेख करना चाहता हूं।

रजवाड़ों के सुपरिंटेंडेंट श्रीयुत रेवेनशा साहब रजवाड़ों के दौरे के समय दशपल्ला आए हुए थे। राजासाहब के अन्यायपूर्ण निर्णयों के खिलाफ काफी अभियोग लगाए गए तो साहब महोदय ने पूछा-"राजासाहब ! तुम तो मूर्ख हो। गढ़ के काम नहीं संभाल सकते। सरकार की तरफ से हम एक दीवान भेजेंगे।" श्रीछामु ने झट उत्तर दिया-"क्या कहा

क्या कहा साहब, हम मूर्ख हैं ? लाओ, लाओ कागज-कलम ले आओ। हम अभी लिखकर आदेश देंगे। हम अभी नाम और गढ़ दशपल्ला योरमो लिख देंगे। हमारे ताऊजी तो मूर्ख थे।" पर दुख की बात तो यह है कि राजासाहब की विद्या का परिचय पाने की साहब ने इच्छा ही नहीं की।

एक बार श्रीछामु कटक पधारे थे। उन्होंने कहा–"कटक में एक कालेज है जहां लड़के पढ़ते हैं। वह कैसी चीज है, देखना चाहिए।" श्रीछामु स्वयं कालेज में उपस्थित हो गए। प्रोफेसरों ने बहुत ही आदर के साथ उन्हें लाकर कक्षाएं दिखाईं। उसके बाद उन्हें लायब्रेरी हाल में बिठाकर विजिटर-बुक और कलम-दवात लाकर सामने रख दिए तो राजासाहब ने पूछा–"क्या है, क्या है यह ?" उत्तर मिला–"यह विजिटर-बुक है। आपने कालेज में जो कुछ देखा, उस पर आप अपने विचार इसमें लिख दें।" इस पर राजासाहब ने कहा–"ठीक है, ठीक है। हम लिख देंगे। कहिए, कहां लिखें ?" एक प्रोफेसर ने विजिटर-बुक खोलकर सामने कर दी तो श्रीछामु लिखने लगे – 'श्रीचैतन्य भंज देओ राजा गढ़ दशपल्ला और योरमो'। लिखना शुरू किया तो फिर रुके नहीं। तीन-चार पन्ने लिख लेने के बाद कलम रखकर श्रीछामु ने प्रश्न किया–"हो गया ?" उस समय उन्हें चारों ओर से घेरकर बंगाली प्रोफेसर खड़े हुए थे और देख रहे थे। श्रीछामु के हाथ की चंचलता देखकर मन-ही-मन सोच रहे थे कि राजासाहब ने काफी कुछ लिख डाला। पंडितजी को पढ़ने के लिए बुलाया। पंडितजी हंस-हंस कर बेदम होते जा रहे थे, कहते और बताते क्या ? जब प्रोफेसरों को बताया कि क्या लिखा गया है तो वे भी खूब हंसे। विजिटर-बुक के चार पन्ने काले हो गए थे।

मैंने देखा, दशपल्ला में मुकदमे-झगड़े बहुत ही कम थे, और आसान भी। देहातों में रहने-बसने वाले आदिवासी कंद और खैर निकालने वाले थे तथा वे नितांत सरल और निरीह थे। अपने मुकदमे-झगड़ों में वादी-प्रतिवादी, गवाह आदि सब सारी बात ठीक-ठीक बता देते थे। किसी के बयान में फर्क नहीं पड़ता।

गढ़ में कंध जातीय लोग अधिक थे। वे अपने को जमींदार कहते। राजा को लगान नहीं देते थे। एक साल रेवेनशा साहब ने कंधों के मुखियों को बुलाकर कहा–"देखो, तुम लोग राजा के मुल्क में रहते-बसते हो। उन्हें कुछ भी लगान न देना ठीक नहीं होता। दो कुछ-न-कुछ। कम-से-कम प्रति हल के लिए कटकी एक सेर धान दे देना। जो जितने हलों के जरिये खेती करेगा वह उतने सेर धान राजा को देगा।"

सब मुखियों ने एक साथ मिलकर तय किया कि जब साहब कहता है, देंगे। पर कटकी एक सेर के हिसाब से दे नहीं पाएंगे। उन्होंने सोचा होगा, कटकी एक सेर अर्थात एक-दो गाड़ी धान होगा.... पता किसी को था नहीं। उन्होंने आकर साहब से कहा–"हम लोग प्रति हल के लिए एक-एक तांबी धान देंगे। कटकी सेर-भर दे नहीं सकेंगे।" एक तांबी धान में कटकी तीन-चार सेर होगा। अब मैं स्मरण नहीं कर पा रहा हूं। तांबी के धान की

मात्रा जानकर साहब राजी हो गए।

घुमसर और दशपल्ला राज्यों की सीमा पर मैं एक जगह किसी झगड़े की जांच करने गया था। उस समय कंधों के गांव और गांव के देव-पीठों को भी देखा। कंधों की प्रमुख खेती थी हलदी की। हलदी में रंग लाने के लिए वे देवताओं के सामने मेरिआ यानी नर-बलि चढ़ाते थे। सन् 1836 से नर-बलि पर सरकार द्वारा पाबंदी लगा दी गई थी। उसी साल सरकारी पलटन जाकर बलि चढ़ाने के लिए निर्धारित कई मानव-शिशुओं को कंधों के इलाके से छुड़ाकर ले आई थी। मिशनरियों की देख-भाल में शिक्षा पाने वाले उनमें से अनेक बालकों के बारे में मैं जानता हूं। मुझे पता है कि उन शिशुओं में से अनेकों के परिवार संप्रति कई जिलों में विद्यमान हैं। धन्य थी ब्रिटिश सरकार और धन्य है मिशनरियों की जन-सेवा। हम लोग श्रेष्ठ हिंदू जाति के नाम पर अभिमान करते हैं। पवित्र भारत-भूमि पर सदियों से यह भीषण नृशंस प्रथा चलती आ रही थी और हम उसे निर्विकार भाव से देखते आ रहे थे!

अति सहज और सुविधा से राज-कार्य चल रहा था। सिर्फ मेरे लिए अशांति का विषय यह था कि राजासाहब के विचार से मेरी सलाह न मानना, मेरे कार्यों में विघ्न डालना, आदि-आदि उनके आधिपत्य और महिमा को बढ़ाने के तरीके थे। हर समय स्पर्धा के साथ लोगों के समक्ष कहते–"हम छामु राजा हैं। हम क्यों दीवान की बातें सुनें ?" इसी तरह की निर्बोधता के कारण वे कई बार मुसीबत में भी पड़े। दृष्टांत-स्वरूप यहां एक ही विषय का उल्लेख कर रहा हूं।

एक दिन सुबह राजासाहब ने बताया–"दीवान बाबू, आज श्रीछामु को बड़ी सर्दी हुई है।" मैंने कहा–"सर्दी हुई है तो आज आप स्नान न करें।" राजासाहब ने कहा–"क्या कहा, क्या कहा ? आज श्रीछामु स्नान नहीं करेंगे ?" मैंने कहा–"वैसा करना उचित होगा।" राजासाहब बोले–"कोई है, कोई है ? जाओ जल्दी। बुलाओ उस रावत को। आज श्रीछामु शीघ्र नहाएंगे।" वास्तव में उस दिन और दिनों से पहले नहा लेते जिससे बुखार चढ़ आता।

राजवैद्य ने कई बार मुझसे कहा कि उनके अलावा कोई और राजा का इलाज कर ही नहीं सकता। मैंने वजह पूछी तो उन्होंने बताया कि "वैद्य जो कुछ बताएगा राजा उसका ठीक उलटा काम करेंगे। इसलिए जिस दिन खाना नहीं चाहिए मैं उस दिन उन्हें खूब खट्टी दही आदि के साथ उत्तम भोजन करने को कह देता हूं। उस पर राजा आज्ञा करते कि हम राजा हैं, हम क्यों वैद्य की बात सुनें ? आज हम कुछ भी नहीं लेंगे। वास्तव में उस दिन कुछ न खाकर उपासी रह जाते।"

खाने-पहनने, आमोद-विनोद–सभी में उनकी कुछ-न-कुछ विशेषता अवश्य थी। और सभी विषय निहायत हास्यकर हैं।

राजासाहब का भौगोलिक ज्ञान चमत्कारी था। संसार-भर में सिर्फ पांच साहब और दो मेम हैं। इन मेमसाहिबाओं को पता नहीं उन्होंने कहां और किस अवस्था में देखा था

कि वे विशेष रूप से उन्हीं की व्याख्या करते। संसार में उनके अलावा और मेम होती तो श्रीछामु ने अवश्य देखी होती। इसलिए संसार में और साहब तथा मेमों का होना असंभव है। मयूरभंज, केऊंझर, नयागढ़ आदि के कुछ राजाओं को श्रीछामु दो-एक बार कटक में देख आए थे। और राजा नहीं हैं; होते तो श्रीछामु अवश्य देखते और वे भी कटक अवश्य आते। विद्या, बुद्धि, धन, न्याय आदि सभी विषयों में दशपल्ला-नरेश सभी राजाओं से श्रेष्ठ और बड़े हैं। संसार-भर में कटक, पुरी और बालेश्वर–ये तीन शहर हैं। इसका विरोध करने वाला अगर बाहर का होता तो श्रीछामु के दरबार में उसकी उपस्थिति की मनाही हो जाती और दशपल्ला-निवासी होता तो उस पर दंडादेश और जुर्माना आदि तो निश्चित ही होता।

प्राय: हर वर्ष शीतकालीन दौरे पर सुपरिंटेंडेंट या असिस्टेंट रजवाड़ों की कार्यविधि की जांच करने के लिए निकलते थे। दशपल्ला में मेरी दीवानगिरी के पहले साल सुपरिंटेंडेंट मैटकाफ साहब के आने का परवाना पाकर मैं और राजासाहब दोनों साहबों का स्वागत कर ले आने के लिए बेलपड़ा पहुंचे। गढ़ की ओर आते समय साहब का हाथी आगे, बीच में राजा का और उनके पीछे मेरा हाथी आ रहा था। एक खेत के रास्ते से गुजरते समय साहब ने मुड़कर देखा और कहा, "राजासाहब, खड़गपुर से विलासपुर तक रेल चलाने की मंजूरी सरकार की ओर से आई है....।"

राजासाहब–"क्या कहा, क्या कहा, रेलगाड़ी चलेगी ? अच्छा साहब, वह गाड़ी तो इस तरह खेत के रास्ते से चलेगी नहीं ?"

साहब–"नहीं राजासाहब, उसके लिए अलग से सड़क बनेगी।"

राजासाहब–"अच्छा तब तो उसके लिए बहुत सारे पैसे खर्च होंगे ? पांच हजार तक खर्च हो जाएगा क्या ?"

साहब–"नहीं, बहुत रुपया खर्च होगा।"

राजासाहब–"दस हजार ?"

साहब ने हंस कर कहा–"नहीं, नहीं, राजासाहब, उससे भी अधिक। काफी रुपया खर्च हो जाएगा।"

राजासाहब–"पंद्रह हजार ?"

मैं उस समय त्रस्त होकर हाथ के इशारे से राजासाहब से रुपये की बात न करने को मना करता रहा। पर राजासाहब क्यों सुनते ? बार-बार पूछकर रेल-लाइन के निर्माण के लिए बीस हजार तक सोच पाए। शायद अधिक कहने की इच्छा नहीं हुई उनकी। पता नहीं, क्या सोचा उन्होंने कि विरक्त होकर चुप हो गए। सारा धन तो श्रीछामु के भंडार में है....और कहां है पैसा ?

सुपरिंटेंडेंट साहब सभी दफ्तरों की जांच करके चले गए।

कुछ दिन बाद अकस्मात एक भयानक उत्पात हुआ। रोज रात को दस बजे मैं आहारादि

समाप्त कर सोने जाता था। उस दिन रात को मैंने दशपल्ला के डाक-मुंशी को अपने घर आमंत्रित किया था। भोजनादि का कार्य समाप्त होते-होते ग्यारह बज गए। मुंशीजी चले गए। मैं सोने गया। मेरे सोने के बाद नौकर अंदर से सांकल चढ़ाकर मेरे बिस्तर से थोड़ी दूर पर सोता था। उस दिन न सोकर अकारण काफी रात तक बाहर बैठा रहा। उसने सोने के लिए अंदर आकर सांकल चढ़ाई ही थी कि मेरे बिस्तर के सिरहाने थोड़ी दूर, लगभग जहां वह सोता था वहां ऊपर छत से एक बहुत बड़ा सांप गिरा। वह काफी मोटा और लंबा था। इतना बड़ा सांप मैंने उसके पहले देखा नहीं था। मैं सोया पड़ा था। नौकर डर गया था और त्रस्त होकर मुझे हिलाकर 'उठिए, उठिए' चिल्लाया। मैं कुछ भी न समझकर निहायत डर के मारे अपने बिस्तर के पास वाली लैंप, किताब और कागजों से सज्जित गोल मेज पर चढ़ गया। मैं मेज पर (एक पैर वाली) चढ़ा ही था कि मेज उलट पड़ी और मैं धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। मेज पर की सारी चीजें मुझ पर आ गिरीं। मैं गिरता-पड़ता दौड़ता हुआ बाहर चला आया। देखा, पहनी हुई धोती खून से लथपथ थी।

छाती पर चोट लगी थी और पेशाब के साथ खून बहकर पूरी धोती भीग गई थी। मैं अचेतप्राय नीचे गिर पड़ा। और नौकरों ने आकर सांप को मार डाला। उस रोज दैवात् नौकर अगर देर से सोने न आता तो सर्पाघात से दोनों की मृत्यु निश्चित थी।

कई दिन तक लगभग बेहोश-सा पड़ा रहता था। देर तक पीड़ा भोगने के बाद दो-एक बूंद पेशाब होता था। पेशाब करते समय दो नौकर दोनों ओर से पंखा झलते रहते। उसी तरह यंत्रणा भोगने के चार-पांच दिन के बाद चौबीस घंटे के लिए पेशाब-पाखाना बंद हो गया। जीवन की आशा तजकर बिछौने पर पड़ा था। उस बीच वहां के आत्मीयवर्ग और नौकर इस नतीजे पर पहुंचे कि मुझ पर भूत सवार होने के कारण मेरा पेशाब-पाखाना बंद हो गया। इलाके-भर में जितने नामी भूत-प्रेत झाड़ने वाले ओझा और तांत्रिक थे सब आ उपस्थित हो गए और मेरी झाड़-फूंककर तथा घर के चारों ओर लोहे की कीलें गाड़कर तथा अभिमंत्रित उड़द बिखेरकर भूत के लिए रास्ता बंद करने मे जुट पड़े। मैं देखता रहा। मुंह खोलकर कुछ कहने की शक्ति नहीं थी। अंत में जांघ के ऊपरी भाग की एक जगह अचानक खुलकर उसी रास्ते से लगभग सेर भर पीप और खून बह गया। उसी घाव के रास्ते से पीप, खून और पेशाब बाहर निकल आता था। आठ दिन के बाद सहज और स्वाभाविक ढंग से पेशाब हुआ। क्रमश: घाव भी सूखने लगा। चिकित्सा के बगैर प्रभु की महाकरुणा से मैं उस संकट से उबर गया था।

दशपल्ला में दीवानी (3)

योरमो, दशपल्ला का एक स्वतंत्र इलाका, महानदी की उत्तरी ओर स्थित है। इस इलाके का अलग बंदोबस्त होता था, पर सरकार को नगद लगान नहीं देना पड़ता था। उसके बदले पुरी के श्रीजगन्नाथजी के लिए रथयात्रा के रथ की लकड़ी हर साल पहुंचाने की व्यवस्था थी। उत्कल में स्वाधीन राजाओं के अधिकार के समय से यह व्यवस्था चली थी।

योरमो की उत्तरी ओर है अनुगुल। अनुगुल के सरकारी वनरक्षा-कर्मचारियों ने अनुगुल के दक्षिण सीमांतवर्ती जंगल को क्रमश: बढ़ाकर योरमो के गांवों के करीब पहुंचा दिया था। योरमो के दक्षिणांश पर महानदी के तट से लगे हुए उपजाऊ भूमि-क्षेत्र हैं। क्षेत्र की उत्तर और पश्चिम दिशाओं में गांव-बस्तियां बसी हुई हैं। उन गांवों से सटा हुआ-सा है अनुगुल का वह संरक्षित जंगल। अत: गांवों के किसानों के एकमात्र सहायक पशुबल के चरने के लिए स्थानाभाव होना स्वाभाविक था। गृहपालित पशुओं के खोले जाने पर वे अनुगुल के उस संरक्षित जंगल में जा पहुंचते और सरकारी पिंजरापोल को चालान कर दिए जाते। कदाचित निम्नवर्ग के सरकारी कर्मचारी पैसे के लालच से चरागाह.में चरते पशुओं को भी हांककर ले जाते थे। प्रजा पिंजरापोल में जुर्माना दे-देकर थक गई थी। बार-बार दशपल्ला के राज-दरबार में गुहार के बावजूद सुनने वाला कोई नहीं था।

योरमो के कुछ मुखियों और प्रमुख प्रजाजनों ने मुझे अपने कष्ट का कारण बताया और प्रतिकार के लिए मुझसे अनुरोध किया। अनुगुल के सरकारी फारेस्टर द्वारा योरमो के जंगल को अनुगुल के साथ मिला लेने की बात भी उन्होंने बताई। उन सभी विषयों का उल्लेख करके राजासाहब के जरिये मैंने रजवाड़ों के सुपरिंटेंडेंट साहब के पास अभियोगपत्र भेज दिया। इस पर सरकारी हुक्मनामा आया कि अनुगुल के तहसीलदार, फारेस्टर और दशपल्ला के दीवान मिलकर मौके की जांच करेंगे। पूर्व-व्यवस्था के अनुसार मैं निश्चित तिथि और समय पर योरमो में उपस्थित हो गया। जब मैं पहली बार कटक रहा था, उस समय मेरे एक मात्र सहायक और परम बंधुराय नारायणचंद्र नायक उस समय अनुगुल के तहसीलदार थे। फारेस्टर साहब भी अपने कर्मचारियों के साथ उपस्थित हुए। योरमो की प्रजा ने अपने गांव का अंश कहकर जिस वनांश को दिखाया उसका परिमाण लगभग बीस-पच्चीस वर्ग मील से कम नहीं होगा। पुराने सर्वे के नक्शे के साथ मिलान करने पर उनकी बातें सही लगीं। पर सीमांत रेखा कहां है ? गांव के पास ही दोनों तरफ के हाकिम और कर्मचारियों के लिए डेरे लगाए गए थे। काफी दिनों के बाद प्रिय बंधु-मिलन हुआ था। एक साथ खाना-पीना, अरण्य-भ्रमण, आखेट और आमोद-प्रमोद में दिन बीते। ठीक उसी समय रजवाड़ों के डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेंडेंट साहब पहुंचे तो शिकार ने जोर पकडा। साहब एक आंख वाले थे, पर थे पक्के शिकारी। एक रोज सुबह सब मिलकर शिकार खेलने

गए। उस काने साहब ने एक बहुत बड़ा सांभर मारा था। हम से थोड़े फासले पर झुंड-के-झुंड नीलगाय भागीं। पत्थर आड़े आया जिससे हम लोग उन्हें मार नहीं सके।

सीमांत-रेखा स्थिर करने के लिए मुझे मौके पर छोड़कर अनुगुल के तहसीलदार वापस चले गए। मैं नक्शा लेकर जंगल में सीमा-रेखा ढूंढते हुए रोज भटकने लगा। उसी तरह ढूंढते-ढूंढते योरमो की उत्तर-पश्चिम दिशा में स्थित एक पहाड़ की चोटी पर पुराने सर्वे का निशान मिला। नक्शे के साथ डिग्री मिलाकर पूर्वी ओर सीधी रेखा में एक-एक डुंग बनाता गया। योरमो के ईशान कोण की एक जगह अंतिम डुंग बना। वह जगह अनुगुल, नरसिंहपुर और योरमो तीनों जगहों का सीमा-बिंदु है। नरसिंहपुर के दीवान दल-बल लेकर आए और नरसिंहपुर इलाके के जंगल को योरमो में शामिल कर देने का अभियोग लगाकर उन्होंने भयानक वाद-विवाद आरंभ कर दिया। कर्म-क्षेत्र पर हमारे बीच होने वाले वाद-विवाद को सुनकर कोई यह नहीं सोच सकता था कि हम दोनों पहले से मित्र हैं और परिचित हैं। मुझे याद है कि योरमो और नरसिंहपुर के मध्यस्थल में बहने वाली एक छोटी-सी जंगली नदी के कारण वह झगड़ा आगे नहीं बढ़ पाया।

सुपरिंटेंडेंट मेटकाफ साहब अनुगुल की सदर कचहरी में सीमा संबंधी मामले का फैसला करने के लिए दिन निश्चित कर खुद, हाकिम, असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट राय नंदकिशोर दास बहादुर के साथ सदर मुकाम पर उपस्थित हुए। मैं भी सरकारी चिट्ठी पाकर निर्धारित दिन के तीन-चार दिन पहले वहां पहुंचा। उस समय ढेंकानाल के मैनेजर बाबू सुदामचंद्र नायक (बाद में रायबहादुर) खुद साहब के साथ आए हुए थे। सभी बंधु एकत्रित थे। एक साथ खान-पान, गपशप, आमोद-प्रमोद में आधी रात बीत जाती थी। सुबह से दुपहर तक सभी अपने-अपने कामों में लग जाते। सुपरिंटेंडेंट साहब ने सीमा संबंधी मुकदमे की जांच की। मुकदमे का सारा हाल सुना। पर फैसला नहीं सुनाया। मेरे दशपल्ला छोड़कर आने के दो वर्ष बाद एक और सुपरिंटेंडेंट साहब ने मुकदमे की जांच की। मैंने जो लाइन बनाई थी उसी को कायम रख उन्होंने फैसला कर दिया था।

अनुगुल से योरमो लौट आया। योरमो में महानदी के किनारे-किनारे कई अमराइयां हैं। महानदी में बाढ़ के समय नदी-गर्भ से आई बालू ने अमराई के कई पेड़ों को आधे से अधिक दबा दिया था। मैं जिस साल की बात कह रहा हूं, उस समय पेड़ों में काफी फल आए थे। अनगिनत आम पेड़ों के नीचे बालू पर बिखरे पड़े थे। अमराई से महानदी तक और नदी की दक्षिणी ओर की गिरिमाला तथा दक्षिण-पश्चिमी कोण पर स्थित बरमूल घाटी का प्राकृतिक दृश्य अत्यंत मनोहर था। उसी दिन प्रकृति के सांयकाल के मनमोहक दृश्य से आकृष्ट होकर अमराई में डेरा डाले मैं एक पखवाड़े से अधिक समय तक वहां रह गया था। मैं जिस अमराई में था वहां से पश्चिम दिशा में थोड़ी दूर बाढ़ के पानी ने तट तोड़कर खाई बना डाली थी। बाढ़ के समय उसी खाई में पानी आ जाता और खेतों से फसल बहाकर ले जाता था जिससे किसानों को काफी नुकसान होता था। उसी खाई

को दिखाकर प्रजाजनों ने मुझे उसकी अनिष्टकारिता के बारे में बताया था। उस खाई की उत्तरी ओर थोड़ी-सी दूरी पर एक पहाड़ था। मुझे जहां तक स्मरण होता है, वह पहाड़ अंदरूनी गिरिमालाओं का आगे बढ़ा हुआ सिलसिला था। योरमो इलाके के प्रजाजनों को बुलाकर खाई में एक बांध बनाने की सलाह दी तो सब आनंदपूर्वक राजी हो गए। यह निश्चित हुआ कि हर-एक व्यक्ति आकर सुबह से शाम तक काम करेगा। सुबह उसी जगह खाने के लिए चिवड़ा के लिए दो-तीन पैसे मिलेंगे। मैं वह पैसे खुद देने को राजी हो गया। अगले दिन सुबह से काम शुरू हो गया। पास वाले पर्वत से दो-तीन आदमी मिलकर पत्थर उठाने और खाई में डालने लगे। थोड़े ही दिनों में बांध तैयार हो गया।

बांध का काम आसानी से निबट गया तो मैंने खुश होकर लोगों के लिए एक भोज की व्यवस्था की थी। कुछेक शिकारी जाकर जंगल से पांच सांभर मार लाए। अमराई में चूल्हे बने। दाल-भात-मांस-तरकारी और मालपुए बनाए गए। भोज सुंदर हो गया।

सुनने में आता है कि अब तक उस बांध और पास वाले पहाड़ के साथ मेरे नाम का जिक्र होता है। कटक कालेजियेट स्कूल के पंडित मृत्युंजयरथ वाणीभूषण जी उत्कल के पुरातत्व के एक प्रख्यात अनुसंधानकर्ता हैं। उन्होंने कार्य से अवकाश-मुक्त होने के बाद उत्कल का कई जगह भ्रमण करके पुरातात्विक तथ्य संगृहीत किए हैं। उनके अनुसंधान के कुछेक महत्वपूर्ण लेख अब तक प्रकाशित भी हो चुके हैं। अब बाबू चिंतामणि आचार्य वाणीभूषण जी के पुरातात्विक काम को आगे बढ़ाने में लगे हुए हैं। अब तक ओड़िआ साहित्य के क्षेत्र में इस विषय पर साहित्य की कमी खटकती थी। अब तक अवस्था शोचनीय है भी। उन दोनों उत्साही व्यक्तियों के कार्यकलापों पर गौर करते हुए पूर्ण रूप से आशा की जा सकती है कि इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति होगी।

मृत्युंजय वाणीभूषण जी ने अपने दशपल्ला भ्रमण का विवरण लिखकर 'मुकुर' के अष्टम भाग (माघ-फाल्गुन अंक) में जो कुछ प्रकाशित किया है उसके अंतिम परिच्छेद का एक अंश इस प्रकार है–

> सुख की बात यह है कि योरमो इलाके में हमारे भक्ति-भाजन वृद्ध कवि फकीरमोहन सेनापति का नाम एक बांध और पहाड़ में अब भी स्मरणीय है। दशपल्ला में जब वे दीवान थे तब योरमो को लेकर अनुगुल के साथ एक झगड़ा हुआ था। उनकी चेष्टा और अनुकूल मत के कारण वह झगड़ा समाप्त हुआ तो प्रजाजन एक सीमांत शैल को उसी दिन से फकीरमोहन डुंगरी कहते आ रहे हैं।
>
> महानदी की बाढ़ जिस ढलाव से आकर उस क्षेत्र को जलप्लावित कर देती थी वहां कर्मवीर फकीरमोहन ने प्रजाजनों के द्वारा पत्थर का एक बांध बाढ़ के पानी के उपद्रव से उसकी रक्षा करने के हेतु बनवा दिया था। लोग उसे फकीरमोहन बांध कहते हैं। प्राचीन रीति से इस तरह सहज-सुंदर स्मृतिरक्षा सभ्य समाज के लिए शिक्षणीय नहीं है क्या ?

दशपल्ला मधुवन निजगढ़ से बेलपड़ा गांव तक सड़क तैयार करने का निश्चय किया था। पर पगडंडी तो थी ही जिस पर लोग आते-जाते हैं। तब पैसा खर्चकर सड़क क्यों बनवाई जाए ? फिर भी मैंने इरादा नहीं छोड़ा। जेल के कैदियों से सड़क बनवाना शुरू कर दिया। बंदियों से काम निकालना आसान बात नहीं थी, विशेषकर डोम कैदियों से। दक्षिण-पश्चिमी रजवाड़ों के लगभग सभी कैदी डोम थे। उस सब इलाके में दो तरह के डोम हैं– बुणा और ओड़िआ। चोरी करना ही ओड़िआ डोम जाति की जीविका है। बुणा डोम प्राय: चोरी नहीं करते, कपड़े बुनना उनका धंधा है। सुबह से नौ बजे तक उन्हीं के साथ-साथ रहकर सड़क बनाने के काम में लगा रहता। लगभग आधे मील तक सड़क बनी थी कि राजासाहब को पुत्र-प्राप्ति हुई, जिससे बंदियों को मुक्त कर दिया गया। मुक्ति पाकर वे अपने-अपने घर चले गए, अत: सड़क बनाने का काम वहीं समाप्त हो गया।

सरकार बहादुर के प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने तक दूसरे विभागों की तरह जेल विभाग की कार्यप्रणाली शिथिल और विश्रृंखलित थी। बंदी बाल-बच्चों की शादी-ब्याह या अन्य किसी उसी तरह के पारिवारिक काम के समय छुट्टी लेकर घर जाते थे। कार्य समाप्त कर फिर वापस आ जाते। जेलरक्षकों के कुछेक चिन्हित कैदी भी होते जिन्हें संध्या के बाद छोड़ दिया जाता और वे अपनी-अपनी जगह सुबह सोये हुए पाये जाते। कैदियों द्वारा रात्रि में उपार्जित धन जेल-रक्षक और चोरों में समान रूप से बंट जाता।

खाना-पीना, वेशभूषा, कथोपकथन, आमोद-प्रमोद तथा अन्य सभी विषयों में राजासाहब का आचरण अत्यंत अद्‌भुत और अमानुषिक था। राजासाहब प्रत्येक विषय पर कहते–"हम छामु क्या किसी दूसरे आदमी की तरह हैं ? हम छामु राजा हैं,.... मैजिस्टर हैं, जो आज्ञा करें वही ठीक।" श्रीछामु जो धोती पहनते थे वह चार हाथ चौड़ी और लंबाई में पंद्रह-सोलह हाथ की होती थी, चलते समय पहनी हुई धोती के चुने हुए आंचल को यत्न से पकड़कर एक सेवक पीछे-पीछे चलता था। गंजाम ब्रह्मपुर में बिंघाणी रत्न नाम का एक जुलाहा था जो राजासाहब के लिए कपड़ा पहुंचाता। श्रीछामु की चपकन में कपड़े की चौड़ाई चाहे कुछ भी हो, दस-बारह गज कपड़ा लग ही जाता था। उस विचित्र चपकन का आकार वर्णनातीत है। दर्जी किंचित आपत्ति करे तो राजासाहब फरमाते–"अरे कटक के बाबू लोग कंगाल हैं। पैसे कहां है उनके पास कपड़े के लिए ? तुमने देखा नहीं है क्या.... किस तरह कपड़ा छाती पर चिपटा रहता है ! लगा इसमें चार गज और कपड़ा, तथा पीठ-छाती ढीला कर दे।"

श्रीछामु के भोजन में मनपसंद व्यंजन था–बड़े-बड़े आंबुल[1] के साथ दस-पंद्रह दिन की दही और अंजुरी-भर छोटी-छोटी धानुआ मिर्च[2] का मिला-जुला पाक। बड़ी-बड़ी मिरचें तेज नहीं होतीं । दस-पंद्रह दिन का सूखा शुखुआ[3] या मांस बनता। रसोई में अन्य पकवान

---

1. सुखाए गए आम के कतरन, जिसमें नमक मिलाया गया होता है। उसे ओड़िआ में आंबुल कहते हैं।
2. एक प्रकार की मिरच जो धान के बराबर होती है, पर मिरचों में अधिक तेज।
3. मछली के अंदर नमक डालकर सड़ाई गई मछली।

अवश्य बनाए जाते, पर उल्लिखित दो चीजें श्रीछामु के लिए अधिक उपयुक्त मानी जातीं। पर इन पकवानों में प्रचुर घी डालना निहायत जरूरी था। गोभी, मटर, शलगम, मूली आदि सब्जियों के नाम तक तब दशपल्ला वालों को पता नहीं थे। मैंने उस इलाके में सर्वप्रथम इनकी खेती करवाई थी। काफी कोशिश के बावजूद राजासाहब को यह सब सब्जियां खिला न सका। एक-आध बार राजासाहब के लिए ये सब्जियां पकाई गईं, पर श्रीछामु ने स्पर्श भर करके उन्हें फिंकवा दिया। गोभी काफी उपजायी थी। प्रजाजन और मुखिये आस्वादन कर उसकी खेती करने को प्रवृत्त होंगे, इसी विचार से उन्हें बिना मांगे बड़ी-बड़ी गोभियां देना शुरू कर दिया। बाद में पूछता, 'तरकारी कैसी लगी' तो जवाब पाता 'जी.... जी....,' लगता वे लोग अनिच्छा से मुझसे ले रहे हैं। एक दिन दशपल्ला इलाका के खंडपड़ा गांव के मुखिया ने डरते हुए हाथ जोड़ कर कहा–"जी, हमें ये चीजें मत दिया करें। कई तरह से पकवाने पर भी यह सब्जी अच्छी न लगी। कल खुद और आंबुल डालकर पकवाई थी पर उसकी हां.... इं.... आं.... बू गई नहीं।" काफी गोभी उगाई थी, अधिकांश गायों का आहार बनी।

रामनवमी या होली, सही याद नहीं है, किसी पर्व के मौके पर शानदार उत्सव मनाया गया था। गंजाम, ब्रह्मपुर, कटक तथा अन्य रजवाड़ों से बाई, गोटिपुअ (एक प्रकार का लोक-नृत्य), रामलीला, पाला आदि तरह-तरह के दस-पंद्रह नृत्य, संगीत और नाटक-दल उपस्थित हुए थे। हर साल उनके आने का प्रबंध पहले से किया जाता था। संध्या के बाद राजासाहब महल के बाहर मंडप पर आ विराजे। मंडप पर उनके लिए एक खास स्थान पर दो बड़े-बड़े तकिए सजाकर सिंहासन बनाया गया था। सिंहासन पर विराजित होने के बाद श्रीमस्तक पर पगड़ी बांधने और श्रीअंगों में स्वर्णालंकार-मंडन का कार्यारंभ हुआ। नाना रंगों के रत्नजड़ित सोने के बने वजनदार, लगभग टोकरी भर जेवरों के पहनाए जाने में प्राय: आधा घंटा बीत गया। उस समय आठ मशालें जल रही थीं। नौकरों को बार-बार आदेश दिया जा रहा था–"अरे डालो मशाल में तेल, उजाला हो ! हम श्रीछामु के अंग-लगे अंलकारों को लोग देखें।" वे लोग मशाल को बहुत ही पास पकड़े हुए थे, फिर भी बार-बार आदेश हो रहा था, "और पास लाओ !" उधर मशालची डरते हुए खड़े थे, कहीं मशाल श्रीमुख में न लग जाए। अलंकार-मंडन के बाद लोगों से पूछा गया, श्रीछामु सुंदर दिख रहे हैं या नहीं ? वास्तव में वे पुराण-वर्णित सिंहासनस्थ किसी राजा की तरह दिखाई दे रहे थे। उसी तरह सुगठित विशाल शरीर, उन्नत वक्ष, चौड़े स्कंध.... बड़ी-बड़ी भुजाएं। उसके बाद संगीत आरंभ हुआ। जितने संगीतकार उपस्थित थे सब के वादकों अर्थात सारंगी, मृदंग, पखावज, मदिरा, करताल आदि वाद्ययंत्रधारियों ने वृत्ताकार में खड़े होकर एक साथ बजाना आरंभ कर दिया। गोटिपुअ (स्त्री-वेशधारी तरुण नर्तक), लीलाओं के लड़के, नर्तकियां और पाला गायन करने वाले खलिहान में घूमने वाले बैलों की तरह चारों ओर चक्कर काटते हुए नाच-नाचकर गाने लगे। पता नहीं, यह किस तरह का अभिनय

और संगीत है। जिन्होंने देखा है वे ही उसका रसास्वादन करेंगे.... दूसरों को समझाना मेरे वश की बात नहीं है।

बीच-बीच में ब्रह्मपुर से नर्तकियों का दल अपना नैपुण्य दिखाकर अर्थोपार्जन की आशा से श्रीमणिमा के पास दशपल्ला आते थे। वे सभी युवतियां आभूषणों से सजी हुई अपनी-अपनी विद्या में निपुण होतीं, पर सिर्फ एक ही दोष के कारण सब चौपट हो जाता। यानी उनमें से एक भी नर्तकी मोटी नहीं पाई जाती। अत: असुंदर, संगीत-विद्या में अनिपुण। उनके साथ आई दासी चाहे काली-कलूटी हो, कुरूप और बूढ़ी हो, पर अगर मोटी हो तो कैसे भी उछल-कूद करे और चीखे वही श्रीमणिमा को भाती थी और पुरस्कार-प्राप्ति के योग्य समझी जाती थी।

मेरे दशपल्ला आने के पहले और दो दीवान भी नियुक्त होकर गए थे। राजा के साथ उनकी पटी नहीं तो उन्हें तबदील कर दिया गया था। दशपल्ला जाते समय मैंने नंदकिशोर बाबू से कहा था कि उन दीवानों के साथ राजा की नहीं पटी, पर मैं राजा को पटा लूंगा। नंदकिशोर बाबू को लोकचरित्र का खूब पता है। उन्होंने हंसते हुए कहा था–"अच्छी बात है.... पहले जाओ तो वहां !" नंदकिशोर बाबू ने जिस तरह हंसते हुए कहा था उससे मुझे लगा कि मैं कुछ कर सकूंगा, ऐसा विश्वास उनमें नहीं है। मैंने भी मन-ही-मन सोच लिया था कि ठीक है, मैं आप को दिखा दूंगा।

अब राजासाहब के साथ प्रगट रूप से मतांतर होने लगा। राजासाहब का विश्वास था कि मेरी राय के अनुसार कार्य करना या सम्मत होना उनके लिए अगौरव की बात थी। हर वक्त वे लोगों से कहते कि 'देखो हम छामु राजा, दीवान की बात कभी भी सुनेंगे नहीं।'

राजासाहब के साथ मेरा क्रमश: मतांतर और मनमुटाव होने लगा। उससे संबंधित कुछ घटनाओं का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

राजासाहब की एक आदत थी कि किसी भी वर्ग का कोई भी विदेशी राजासाहब से मिलने आए तो वे जोर-जोर से चिल्लाकर कहते–"अरे ओ भंडारी, बाबू को लेजाकर हमारा भंडार दिखा ला।" भंडारी आगंतुक को अंदर लेजाकर पाट जोड़े, सोना-चांदी, रुपये आदि एक-एक कर दिखा लाता तब राजासाहब पूछते–"अच्छा बाबू, इतने पाट जोड़े, इतना सोना-चांदी और किसी के घर में है क्या ? नहीं, नहीं, कभी नहीं। हम छामु राजा हैं, हमारे घर न रहेगा, और किसके यहां होगा ?" राजा की प्रवृत्ति का पता सभी को था। आगंतुक किसी काम से आया होता। स्वीकार न करे तो काम बनेगा नहीं, बल्कि मार खाकर लौटना पड़ेगा। अत: आगंतुक कहते, "जी.... जी हां, श्रीछामु राजा हैं। आप के भंडार में ही ये सब हैं, और किसी के पास कैसे होंगे ?"

यह सब देख-सुनकर मेरा मन लज्जा और दुख से भर जाता था। खूब धीरे-धीरे सम्मान-सहित मैं राजा साहब से कहता, "जी यह विदेशी हैं। विदेशियों को भंडार न दिखाया

करें। शहरों में कई पंसारी, विधवा और साधारण लोग हैं जिनके पास भंडार की चीजों से कहीं अधिक है। जो लोग आप के भंडार में कम देखकर जा रहे हैं वे पीठ पीछे हंसेंगे, खिल्ली उड़ाएंगे।"

मेरी बात सुनकर राजासाहब गुस्से से गंभीर होकर बैठ जाते। मेरे चले आने के बाद दरबारियों से कहते–"सुना, सुना तुम लोगों ने ! दीवान हमारा कैसा अपमान कर गया! इस दीवान के साथ हम छामु की नहीं पटेगी।" उपस्थित मुनीम और अन्य कर्मचारी सब समझते, पर डर से कुछ कह नहीं पाते। कहते–"जी.... जी.... श्रीछामु की जो आज्ञा है वही सच है। दीवान बाबू अच्छा आदमी नहीं है।"

एक दिन राजासाहब के साथ मेरे मतांतर का एक बहुत ही भारी कारण उपस्थित हुआ। पहले कई भ्रमणकारी नागा साधुओं के दल ओड़िसा आते थे। देव-पूजा के नाम से देहातों से रुपया-पैसा ऐंठना ही उन लोगों का व्यवसाय होता। छानबीन कर उन नागाओं की अंदरूनी बातों का पता लगाया था। कई नीच जाति के लोग तथा चोर-डकैत भी शरीर पर राख मलकर उनके साथ शामिल हो जाते थे। देहाती गांव वाले उनके पूजा-पाठ के लिए काफी पैसे न दें तो उनके घर के चौखट-दरवाजे तक वे उखाड़ लाते और धूनी में जला डालते थे।

दशपल्ला के किसी एक गांव में वैसा एक दल आ टपका। उस गांव में एक धनी रावत था। उसने साधु-सेवा के लिए पैसे देने से इनकार कर दिया तो साधुओं ने चौखट उखाड़ना शुरू कर दिया। रावत ने उन साधुओं में से दो को पकड़कर खूब पिटाई की। तब साधुओं ने आकर राजासाहब से फरियाद की। उस रावत के पास भैंस-गाय-गोरू काफी थे, रुपये-पैसे भी काफी थे। यह बात कुछ कर्मचारियों ने बताई तो श्रीछामु ने आदेश दिया–"उं.... क्या कहा ? उस ओछे रावत ने साधुओं को मारा ?" और पुलिस-दारोगा को हुक्म हुआ–"जाओ, उस रावत को, गाय-भैंस और रुपये-पैसे सब ले आओ।" उस समय राजा जैसा एक दारोगा भी था। सामान कुर्क होने पर उसकी जेब भरने की संभावना बनी रहती थी। उसके सिपाहियों के पहुंचने से पहले रावत मेरे पास आ पहुंचा और मेरे सामने साष्टांग लेटकर रोने लगा। मैंने कचहरी पहुंचकर कुर्कनामा खारिज कर दिया। तब दारोगा ने राजा को समझाया–"साधु दल इस तरह अपमानित होंगे तो आएंगे ही नहीं और राज्य से धर्म का लोप हो जाएगा।" मैंने उसे धमकाया और चुप रहने को कहा। मार खाने वाले दो साधु वहीं खड़े थे। मैंने कहा–"इस इलाके से कहीं और चले जाओ, नहीं तो जेल भिजवा दूंगा।" मेरी बात सुनकर वे फौरन चले गए। इसी तरह राजासाहब के साथ मेरा मतांतर धीरे-धीरे बढ़ने लगा।

सुपरिंटेंडेंट मेटक़ाफ साहब दशपल्ला के दफ्तरों की जांच करने आएंगे, कंधमहाल स्थान से मिली चिट्ठी से सूचना पाकर उनका स्वागत कर ले आने के लिए मैं दशपल्ला सीमांत पर स्थित कुलुर कुंफा गांव तक गया था। एक साथ हम दोनों दशपल्ला आए।

गढ़ में पहुंचकर साहब महोदय ने एक-एक सभी दफ्तरों की जांच की। अंतिम दिन राजा ने साहब से कहा–"इस दीवान के साथ हमारी पटेगी नहीं। आप कोई और दीवान मुकर्रर कर दें।" मैंने साहब से पूछा–"आपने मेरा कोई दोष देखा क्या ?" साहब ने कहा–"नहीं, कुछ भी नहीं। राजासाहब के साथ मतांतर है, यहां रहकर आप किस तरह काम कर सकेंगे ?" साहब महोदय ने मुझे मयूरभंज के बामुणघाटी सबडिविजन में नियुक्त किया और कमिशनर के दफ्तर के एक बाबू को दीवान के पद पर नियुक्त कर दिया।

मैं नए दीवान को चार्ज देकर कटक चला आया। बालेश्वर के नजदीक ही नौकरी लग गई, इससे आनंदित था। पर कटक में पहुंचते ही असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट नंदकिशोर बाबू ने बताया कि गवर्नमेंट ने स्वर्गीय कृष्णचंद्र देओ के छोटे भाई छोटराय बाबू को बामुणघाटी में नियुक्त कर दिया है। अतः कर्मशून्य होकर मुझे कटक में बैठा रहना पड़ा।

28. पाललहड़ा में दीवानी

कुछ दिन पहले पाललहड़ा की प्रजा ने राजा के विरुद्ध विद्रोह किया था। कुछेक विद्रोही पकड़े गए थे और सजा पाई थी। कुछेक लुक-छिप गए थे। फिर बगावत हो तो उन्हें पकड़कर दंड देने के लिए सुपरिंटेंडेंट साहब ने मुझे नियुक्त कर प्रथम श्रेणी मैजिस्ट्रेट के अधिकार देकर पाललहड़ा भेजा था। मैंने जाकर देखा, मुखिये और सरदारों के दंडित होने के कारण कुछ लोग छिन्न-भिन्न होकर घने जंगल-अरण्य में छिपे हुए थे। शेष प्रजा स्तब्ध थी। किसी भी तरह के मामले-मुकदमे नहीं थे और कचहरी सूनी-सूनी-सी लग रही थी। मेरे लिए कुछ भी काम नहीं था। सुबह का समय महाभारत के अनुवाद-कार्य में बीत जाता। संध्या समय राजासाहब के एक बिरादर, पुरोहित महापात्रजी और दो ब्राह्मण गुसाईं आते तो चौपाली खेली जाती। संध्या के बाद कोई घर से निकलता नहीं था। उस समय पाललहड़ा गहन जंगल से घिरा था। संध्या के बाद बाघ-भालू गांव की पगडंडी और गलियों में घूमते हुए नजर आते थे।

अपरान्ह के समय मैं कभी-कभी राजासाहब से मिलने जाता था। राजासाहब भद्र, बुद्धिमान, मिष्टभाषी थे, पर थे बड़े औघड़ दानी। उस दानवीरता के कारण वे अत्यंत ऋणग्रस्त हो गए थे। दूसरों से सुना कि उनकी तरह रानीसाहिबा, राज-भगिनियां भी धर्मात्मा और दानशीला थीं।

राजासाहब किस तरह खुले हाथ दान देने के कारण ऋणी हो गए थे, उसके बारे में कई बातें सुनी थीं। यहां दृष्टांत-स्वरूप एक ही घटना का उल्लेख करना चाहूंगा। कटक में एक दरिद्र काबलीवाला घूम रहा था। लोगों से भीख मांगकर खाता था। उसे लोगों ने पाललहड़ा के राजासाहब से कुछ पैसे लेकर व्यापार करने की सलाह दी। समस्या आई कि वह खाली हाथ राजासाहब से कैसे मिलने जाए ? कटक में सभी काबलियों ने चंदा कर तीन-चार रुपये इकट्ठे किए और उसी से उसके लिए एक विलायती कंबल खरीद कर दिया। उसी वाणिज्यद्रव्य को लेकर वह पाललहड़ा में उपस्थित हो गया। साथी सौदागरों के बताए अनुसार उस सौदागर ने राजासाहब के सामने कंबल रखकर सलाम किया और चला गया। राज्य की प्रथानुसार रोज उसे एक रुपये की खुराकी मिलती रही, पर वह राशन की व्यवस्था करने वाले से दाल-चावल मांग लेता और अपना काम चला लेता और रुपया रख लेता। मोलतोल कर कंबल खरीदने की फुरसत कहां थी राजा को ? राजासाहब निहायत बुद्धिमान थे, पर थे बड़े ही दानशील। उस सौदागर की अवस्था देखकर वे अच्छी तरह समझ गए थे कि वह कंगाल है, कुछ मांगने आया है। उस बीच तीन महीने बीत चुके थे। तब तक उसने अपनी कमर

में नब्बे रुपये खोंस लिए थे। जो कुछ वह कटक से पहनकर आया था वह सब कपड़े तार-तार हो चुके थे। पैसे देकर कपड़ा खरीदे तो व्यापार काहे से करेगा ?

सर्दी के दिनों में पाललहड़ा में पहाड़ी और जंगली इलाका होने के कारण भोर के समय खूब सर्दी पड़ती है। एक बड़ी-सी धूनी जलाकर उसके पास लगभग अर्धनग्न अवस्था में उसी सौदागर को ढेर सारी राख पर बैठे बदन सेंकते हुए राजासाहब ने देखा। वे भोर के समय घूमने निकले थे और अचानक उनकी नजर उस पर पड़ी तो वे काफी दुखी हुए। उसी से खरीदा गया कंबल उसी को ओढ़ा देने का आदेश हुआ भंडारी को। और कंबल की कीमत दस रुपये के साथ उसे आने-जाने का खर्चा देकर विदा किया गया। मयूरभंज के स्वर्गीय महाराजा आदरणीय यदुनाथ भंज भी उनकी तरह ही दाता थे। लेखक ने बचपन में उन्हें बालेश्वर आकर दानपुण्य करते देखा था।

सरकारी भंडार से रोज मेरे लिए सुबह राशन में मांस भी आता था। मछली पहुंचाने के लिए भी शायद एक केवट मुकर्रर था। पर वह केवट प्रति दिन मछली नहीं पहुंचाता। पूछने पर बताता कि सोना समेटने गया था। एक पहाड़ी नदी राजमहल से सटकर दक्षिण दिशा में बहती थी। कभी-कभी अत्यधिक बारिश होती तो पानी महल के अंदर घुस जाता और काफी नुकसान पहुंचाता। उस नदी के बालू में स्वर्ण-कण मिश्रित होते। मछली पहुंचाने वाला किसी-किसी दिन सोना ढूंढने चला जाता था। मैंने पता लगाया कि सारा दिन ढूंढने के बावजूद दो-तीन आने के सोने से अधिक नहीं पाता। मछली पकड़कर भी वह वही पाता था। तुम मछली पकड़ो या सोना, तुमने अपने पूर्व-जन्म में अर्जित संपत्ति का जितना विधाता के भंडार से जमा करवाया है उसी के हिसाब से तुम्हें मिलता रहेगा। अविवेकी निर्बोध लोग दूसरों का गला काटने बेकार दौड़ते हैं, पर कुछ भी हाथ नहीं लगता। कुछेक ले-देकर दूसरों की संपत्ति से घर भरते हैं,-सच ; समय आने पर उस भंडार के मुनीम सिपाही और हिसाब भेजकर ब्याज समेत मूल वसूल कर लेते हैं। उस पर हथकड़ी, कोड़े, अपमान और मनस्ताप ऊपर से उठाना पड़ता है।

पाललहड़ा में मेरे लिए एक ही बात असुविधाजनक थी। मुझे अधिक पान चबाने की लत थी। रोज पचास-साठ पान चबा जाता। उस समय पाललहड़ा में पान की दूकान नहीं थी। पाललहड़ा से अठारह कोस दूर तालचेर में दूकान थी। राजासाहब, रानीसाहिबा और राज-भगिनियों के अलग-अलग से पान ले आने के लिए हर हफ्ते एक आदमी तालचेर जाता था। मैं भी उसी को दो रुपये देता। एक रुपया उसकी मजदूरी और एक रुपया का पान लाता। अवश्य ही इतने पान की जरूरत मुझे नहीं होती। उसमें आधे से अधिक सड़ जाता। एक दिन सुबह मेरे डेरे में पान नहीं था। भात खाकर राजासाहब, रानीसाहिबा और बहनजी के पास पान के लिए आदमी भेजा। किसी

के महल में पान नहीं था। फिर से भेजा, पान नहीं तो पान का शुखुआ[1] लाने के लिए, पर 'नासते विद्यते भावः'। अभाव के समय सब ओर अभाव ही होता है। महल में भी किसी के पास पान या शुखुआ नहीं था। मैंने लंबी सांस ली और जोर से कहा, "हे ईश्वर ! आज तुमने पान ही नहीं खिलाया।"

इतना कहकर बाहर देखा कि एक आदमी पीठ पर एक बड़ी-सी गठरी लादे झुकता हुआ धीरे-धीरे जा रहा था। मैंने पूछा–"कौन हो जी ?" उत्तर मिला–"कटक पुलिस के बाबू केऊंझर जंगल में हैं। उन्हीं के घर से सामान लाकर उन्हीं के पास पहुंचाने जा रहा हूं।" "आओ, आओ, देखें," कहकर उसे पास बुलाया। उस से पान मिल जाएगा, यह आशा भी मेरे मन में उदित नहीं हुई थी। सिर्फ कटक के बारे में उससे पूछूंगा, इसलिए उसे पास बुलाया था। गठरी खोलते ही दो-तीन सौ पान की एक पुड़िया मेरे सामने गिरी। मैंने झटपट तीन-चार पान के पत्ते चबा डाले और ईश्वर की कृपा के लिए प्रणाम किया। क्षीण-विश्वासी, अज्ञानांध व्यक्ति ईश्वर का अस्तित्व अनुभव करने में अक्षम होते हैं और वे ईश्वर के कार्यकारी हाथ को देख नहीं पाते। मन से समर्पणपूर्वक ईश्वर पर भरोसा रखो, भक्तिपूर्ण सरल मन से प्रार्थना करो तो शांति, सांत्वना, स्वास्थ्य – सब कुछ ईश्वर से प्राप्त होंगे। मैं प्रत्येक मुहूर्त, हरेक घटना में प्रभु के हाथ को देखता हूं। मैं बचपन से पिता-माता-भ्राता-भग्नि–सभी से वंचित रहा हूं। एक मात्र प्रभु ही मेरे रखवाले रहे हैं। मेरा अपना कहने को कुछ भी नहीं है। सब कुछ प्रभु की देन है। अब उन्हीं के द्वारा प्रदत्त ज्ञान के जरिए अपना जीवनचरित लोगों को सुनाने बैठा हूं। आज पान पाया यह नहीं, एक बार और भी इसी तरह मिला था। सिर्फ पान नहीं, मैंने सैकड़ों बार करुणामय ईश्वर के प्रसारित हाथ का अनुभव किया है।

पाललहड़ा में उस समय मुझे कोई अभाव नहीं था। महाभारत की रचना और चौपाली खेल में समय अच्छा ही बीत जाया करता था। फिर भी वहां ज्यादा दिन रहने की इच्छा नहीं हुई। मूल कारण था, मेरे पास काम का न होना। कार्य के बिना बैठे रहना मनुष्य के लिए निहायत कष्टकर है। गीता में भगवान वासुदेव ने कहा है–

'न हि कश्चित क्षणमपि
जातु तिष्ठत्य कर्मकृत्।'

उस समय एक दिन सुबह एक बूढ़ी मेरे डेरे पर मछली बेचने आई। मेरे नौकर ने उससे कहा–"नहीं बूढ़ी मां, मछली नहीं चाहिए हमें।" बूढ़ी ने कहा–"ओ हो.. तुम लोग राजा के भंडार से खाते हो न ?" मैं पास खड़ा था। बूढ़ी की बातों से

---

1. पान के पत्ते को सुखाकर उसका चूरा बनाकर रखा जाता है। जब पान नहीं होता तो उसी में कत्था और चूना मिलाकर खाया जाता है।

अपमानित हुआ। सोचा, सच तो है—कुछ भी न करके बैठे-बैठे तनखाह लेता हूं, भंडार से खाता हूं, यह कैसी बात है ? नौकरी छोड़ दूं तो दुर्दशाग्रस्त होना निश्चित है, मुझ में यह ज्ञान नहीं रहा। काम छोड़ने की बात राजासाहब से कही। सुपरिंटेंडेंट साहब के पास भी लिख भेजा। थोड़े ही दिनों के बाद कटक से मंजूरी आ गई। मेरी तनखाह का हिसाब राजासाहब ने कर दिया। तनखाह के अलावा भी उन्होंने काफी रुपये, शाल, पाट जोड़े दिए। रानीसाहिबा और भगिनियों ने भी राह-खर्च आदि के लिए काफी रुपये-कपड़े आदि दिए। राजकर्मचारी और अन्य भद्र व्यक्तियों ने कहा कि वही पाललहड़ा की विधि है, मैं वह सब न लूं तो राजासाहब अपमानित होंगे। संकोच, पर खुशी मन से वह सब लेकर बालेश्वर चला आया।

29. केऊंझर में मैनेजरी

पाललहड़ा की नौकरी छोड़कर मेरे बालेश्वर चले आने के थोड़े ही दिन पश्चात अर्थाभावजनित कष्ट अनुभव करने लगा। रजवाड़ों में शांतालों की बस्ती के पास रहने वालों से एक गीत सुना था–

'पाचिला धान बाजिला चांगु
गालर उपरे गाल।
हेला चइत सरिला धान
येउंठि खाल सेइठिकि चाल।'

पूस के महीने में धान पकने पर शांताल लोग दोनों वक्त भात खाते हैं। जो धान बचता है उसी से हांडिया (एक प्रकार की शराब) बनाकर चांगु बजा-बजाकर सारी रात नाचते हैं। चैत में धान खत्म हो जाता है। भात और हांडिये से तब गाल फूले हुए होते यानी वे हट्टे-कट्टे होते और धान के खत्म हो जाने पर फिर देह सूखने लगती। तब आठ महीने के लिए आहार बनता टुंगा, कड़वा, मसिआ आदि जंगली आलू और महुआ, आम आदि फल। उस पर शिकार से पाया मांस। अब उनकी स्थिति में काफी उन्नति हो गई है। मैं भी उसी तरह एक अदूरदर्शी शांताल स्वभाव का आदमी हूं। अर्थोपार्जन के समय मुझमें भविष्य के लिए कोई चिंता ही नहीं रहती।

अब बालेश्वर में अर्थाभाव के कारण मेरी अस्थिरता देख मेरे एकमात्र हृदय-बंधु, सुख-दुख में परम सहायक, बालेश्वर नार्मल स्कूल के हेडमास्टर बाबू गोविंदचंद्र पटनायक मुझे पुनः-पुनः उपदेश देते थे, "परेशान होने की कोई बात नहीं है। प्रभु कहीं से भी देंगे। प्रार्थना करो !" गोविंद जैसे निष्कलंक चरित्र के थे वैसे ही ईश्वर-विश्वासी और प्रार्थनाशील भी थे।

उस समय केऊंझर में मैनेजर का पद खाली हुआ तो मैंने उस पद के लिए दरखास्त दी। मेरी योग्यता और चरित्र के संबंध में राजासाहब ने असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट राय नंदकिशोर बहादुर से पूछा था। महाराजा साहब से नियुक्ति-पत्र और नंदकिशोर बाबू से केऊंझर यथाशीघ्र पहुंचने के लिए उपदेश-पत्र एक साथ पाकर केऊंझर के लिए रवाना हो गया। उस समय खास केऊंझर निहायत अस्वास्थ्यकर था। आषाढ़ के आरंभ से क्या देशी, क्या विदेशी सभी को बुखार हो जाता था, सर्दी में छूट जाता। आनंदपुर पहुंचकर महाराजा साहब का समाचार प्राप्त हुआ। उन्होंने पत्र में लिखा था कि वे आनंदपुर पधारेंगे और मेरे लिए आदेश था कि केऊंझर न जाकर उनकी प्रतीक्षा मैं आनंदपुर ही में करूं। मेरे आनंदपुर पहुंचने के चार-पांच दिन बाद महाराज दल-बल सहित आनंदपुर पधारे।

हाथी से उतरने के पहले ही आपने 'मैनेजर बाबू ... मैनेजर बाबू' पुकारा और चिर-परिचित की भांति मुझ से बात करने लगे।

महाराज धनंजयनारायण भंज सभी मामलों में विलक्षण थे। केऊंझर करीब तीन हजार वर्ग मील का इलाका है जो उनके सामने नख-दर्पण में प्रतिभासित-सा था। इलाके भर में किस आदमी का स्वभाव क्या है, उसका उन्हें पता था। वे वाक्पटु और कर्मवीर थे। रुग्ण और क्षीण शरीर होते हुए भी प्रातःकाल से आधी रात तक काम में लगे रहते थे। राज्य-शासन से संबंधित सभी कार्य वे खुद देखते थे। राज्य में सभी क्षेत्रों में उन्नति के लिए उत्साही और इच्छुक थे, पर उपयुक्त कर्मचारियों के अभाव के कारण विशेष कुछ कर नहीं पाए।

आनंदपुर से छह मील दक्षिण की ओर देंगा नामक गांव में कुटलेश्वर महादेव का मंदिर है। वह मंदिर अति प्राचीन है। उत्कल के भूतपूर्व स्वाधीन राजा ययाति केशरी द्वारा उस मंदिर का निर्माण हुआ था। मंदिर के पास दक्षिण की ओर कुशभद्रा नदी बहती है। यह नदी ब्राह्मणी नदी की शाखा है। इसकी प्रचंड धारा ने उत्तरी तट को धंसाते हुए मंदिर ही को गर्भसात करना आरंभ कर दिया था। इसी उत्पात से मंदिर को बचाने के लिए स्वर्गीय महाराज धनंजयनारायण भंज ने नदी के उत्तरी तट पर पत्थर से विशाल सेतु का निर्माण कराया था। बहुदर्शी आर्किटेक्टों की सहायता लिए बिना स्वयं महाराज ने अपनी कल्पना और निगरानी में साधारण मिस्त्रियों के जरिये उस सेतु का निर्माण करवाया। यह महाराज की बुद्धिमता और शिल्पकला का परिचायक है। पास ही आसानी से पत्थर उपलब्ध था, कारीगर और मजदूर सस्ते में मिल जाते थे। फिर भी इसके निर्माण के लिए राज-कोष से डेढ़ लाख रुपये लगे थे। उत्कल में कटक की सीमा पर काठयोड़ी नदी के मर्कत केशरी महाराज द्वारा बनाए गए पत्थर के बांध की तरह यह कीर्ति भी युगयुगांतर तक महाराज के नाम की घोषणा करती रहेगी।

वैतरणी नदी के उद्गम-स्थल, गोनासिका नामक घने जंगली प्रदेश में एक विशाल मंदिर और खास केऊंझर में बलदेवजी का विशाल गुंडिचा मंदिर भी महाराज द्वारा बनवाया गया है। केऊंझर के रास्ते के समीप बुढ़ापत्थर नामक एक जगह पर नीलकंठेश्वर महादेव विराजित हैं। उन तक पहुंचने के लिए कोई सड़क नहीं थी। पुजारी और भक्तगण लोहे की जंजीर के सहारे पत्थरों के ऊपर चढ़कर जाते थे। महाराजा धनंजयनारायण भंज ने महादेवजी का मंदिर और दो सौ पचास हाथ ऊंची सीढ़ी बनवाई। भूयांपीठ के पास पाटणाण में विराजित पाटेश्वर महादेवजी का विशाल मंदिर भी महाराज के सत्कर्म का फल है।

मैंने महाराज द्वारा निर्मित अधिकांश स्थलों को स्वयं देखा है और उनके निर्माण के इतिहास तथा व्यय के हिसाब के बारे में सदर कचहरी में उस समय के पेशकार और असिस्टेंट मैनेजर बाबू बैकुंठनाथ दास महोदय से सुना है। राज-सरकार में नियुक्त प्राचीन कर्मचारियों में बैकुंठ बाबू विश्वासभाजन, कर्मठ राजभक्त और धर्मभीरु थे। महाराज का भी उनके

प्रति प्रगाढ़ विश्वास था। लोग उनका सम्मान करते थे। सभी कर्मचारियों में मैं सिर्फ उन पर विश्वास करता था। उस समय नियुक्ति पाए दूसरे कर्मचारियों की दुश्चरित्रता, अत्याचार और स्वार्थपरता के कारण महाराज धनंजयनारायण भंज ने अनेक परेशानियों का सामना किया था। 'भृत्योपराधे स्वामिन: दंडं' जैसी बात हुई थी।

मैंने पहले ही कहा है कि महाराज में प्रबल इच्छा के बावजूद सिर्फ कर्मचारियों के अभाव से वे अधिक कुछ कर नहीं पाए। महाराज बहुत अध्ययनशील थे। 'बंगवासी', 'संजीवनी दीपिका' आदि मननशीलता से पढ़ते। उनके पढ़ने के लिए अनेक बंगला और ओड़िआ पुस्तकें उनके निजी पुस्तकालय में संगृहीत थीं।

महाराज आनंदपुर में सिर्फ सात-आठ दिन ठहरे थे। गढ़ लौटते समय महाराज ने मुझे बुलाकर आज्ञा दी, "देखो मैनेजर बाबू, वर्षा का समय आने ही वाला है। गढ़ में प्रायः सभी को ज्वर होगा। तुम अगर आओगे तो तुम्हें भी बुखार होना निश्चित है। इसलिए तुम यहीं आनंदपुर ही में ठहर जाओ। यहां के हवा-पानी के आदी हो जाओ, तब अगली सर्दी में गढ़ आ जाना।" मेरी भी वही इच्छा थी, ईश्वर ने इच्छा पूरी की। महाराज गढ़ को लौट गए। मैं आनंदपुर में रह गया। आनंदपुर से गढ़ लगभग बावन मील की दूरी पर है।

आनंदपुर की कचहरी वैतरणी नदी के उत्तरी तट पर है। मनोहर स्थान था। कचहरी की उत्तर और पूर्व दिशाओं में आनंदपुर गांव था। पर वैतरणी के तट पर घना बांस का जंगल था। पश्चिमी ओर कचहरी तक घना जंगल था। कभी-कभार रात को कचहरी तक भालू आ जाते थे। कचहरी से नदी-घाट तक स्नान करने जाने के लिए भी रास्ता नहीं था, जिस पर छाता खोलकर चला जा सके। चलते समय भी जगह-जगह बांस के कांटों से कपड़ा उलझ जाता था। कार्यभार संभालने के थोड़े ही दिनों के बाद मैंने नदी का तटवर्ती जंगल कटवाया और जलाकर, साफ करवाकर जड़ से साफ कर दिया और बाग लगाना आरंभ कर दिया। जंगल में से कुछेक नाग-सांप निकले और मारे गए। एक दिन सुबह जब मजदूर जंगल काट रहे थे, तब एक अहिराज सांप ने एक खरगोश का पीछा किया। खरगोश जंगल में से भाग आया और मजदूरों के पास पहुंचा। सामने आदमी और पीछे सांप को देख खरगोश ठिठका तो सांप उसे पकड़कर जंगल के अंदर ले चला। जंगल साफ हो जाने के बाद मैंने कलकत्ते से कलम किए गए आम, लीची, जामुन, अमरूद, कटहल आदि के पौधे मंगाकर बगीचे का काम शुरू कर दिया। बगीचे के एक ओर गुलाब आदि फूलों के पौधों से एक सुंदर पुष्पोद्यान भी बन गया। गोभी, मटर, आलू, पोटल (परवल), केला, मूली आदि साग-सब्जियों से भी उद्यान भर गया था।

आनंदपुर की कचहरी का मकान दुमंजिला था। नदी-तट से वहां तक का दृश्य मनोहर लगता था। पर वह मकान आधा बनकर, खड़े-खड़े पुराना हो गया था। सदर कचहरी से अनुमति लेकर उसका निर्माण-कार्य आरंभ कर दिया। कचहरी के सामने का बरामदा

पांच-छह फीट ऊंचा था। असावधानी या रात के समय अनजाने में वहां से गिर पड़ने की संभावना थी। सुना भी था कि एक बार कोई गिरकर जख्मी हो गया था। मैंने कलकत्ते से रेलिंग मंगवाकर वहां लगवाई थी।

कचहरी के दफ्तर भी विशृंखलित अवस्था में थे। बाकायदा रजिस्टर-फाइलें आदि नहीं थीं। वे सब नए सिरे से बनवाईं। सम्मन-वारंट आदि के फार्म बालेश्वर से छपवाकर ले आया और उसी से काम चलाया। एक साल बाद महाराज से अनुमति लेकर आनंदपुर में प्रेस की स्थापना की। उसी प्रेस में सम्मन, इत्तलानामा आदि आनंदपुर और सदर कचहरी के लिए छापे गए और छोटी-छोटी पुस्तकें भी छापी गईं।

आनंदपुर में स्कूल के लिए एक पक्का मकान बनवाने का प्रस्ताव दिया था। उससे कर्मचारियों और मुख्तारों की सहानुभूति थी। उन लोगों की चेष्टा से चंदे के जरिये कुछ रुपये भी इकट्ठे हुए थे। पर मैं आनंदपुर छोड़कर चला आया।

मेरे मैनेजर के पद पर नियुक्त होने के थोड़े ही दिन पहले आनंदपुर इलाके में एक फौजदारी का मामला हुआ था। वादी केऊंझर इलाके का था और विपक्षी सुकिंदा का। सुकिंदा मोगलबंदी (खास ब्रिटिश शासन के अंतर्गत) में था। आनंदपुर के भारप्राप्त कर्मचारी ने आसामियों को कुछ दिन बंदी रखने के बाद महाराज बहादुर के आसामियों का वासस्थान मोगलबंदी में जानकर उस मामले पर विचार के लिए याजपुर के भारप्राप्त कर्मचारी के सुपुर्द कर दिया और आसामियों को फाइलों के साथ भेज दिया। इतने में मैं आनंदपुर पहुंचा। मामला रजवाड़े के इलाके में हुआ था, इसलिए उसका विचार आनंदपुर की अदालत में ही होता। जब महाराज बहादुर ने अपना भ्रम समझा तो पछताए। पर तब भ्रम-संशोधन का कोई उपाय नहीं था। याजपुर में रहकर उस मुकदमे को चलाने के लिए महाराज का आदेश-पत्र प्राप्त कर मैं याजपुर पहुंचा। कटक से दो वकीलों को बुलाकर मुकदमा चलाया। याजपुर की अदालत के निर्णय से सभी आसामी मुक्त हो गए। लेकिन आनंदपुर के कर्मचारीगण मोगलबंदी के लोगों को अन्यायपूर्वक रोक रखने के इल्जाम में अभियुक्त बने। मुकदमा धीरे-धीरे छोटी अदालत से हाईकोर्ट तक पहुंच गया। मैं कलकत्ता पहुंचकर चार वकीलों की सहायता से मुकदमा लड़ने लगा। सरकारी ओर से एक अंग्रेज बैरिस्टर मुकदमे की पैरवी कर रहे थे।

काफी दिनों तक हाईकोर्ट में मुकदमा चलने के बाद हाईकोर्ट ने केऊंझर के पक्ष में राय दी। हाईकोर्ट ने स्पष्ट रूप से अपनी राय में यह लिखा कि ब्रिटिश अदालतों में प्रचलित कोई भी कानून करद राज्यों पर लागू नहीं होंगे। मुकदमे का फैसला सुनकर महाराज काफी खुश हुए। उसी दिन से मेरी तनखाह में बीस रुपये बढ़े। दूसरे रजवाड़ों के अनेक प्रमुख व्यक्तियों से धन्यवाद सहित प्रशंसा प्राप्त हुई। करद राजाओं के लिए ब्रिटिश सरकार की अदालतों में प्रचलित कौन-कौन से कानून कहां तक मान्य हैं, इस विषय पर कहीं भी कोई स्पष्ट विधान नहीं था। अतः राज्य का अधिकारी वर्ग अंधेरे में था। इसके

बाद वे अपनी-अपनी क्षमताओं की सीमा के संबंध में जान सके। दफा सतरह नामक एक विधान में सरकार बहादुर का आदेश है कि गवर्नमेंट प्रतिष्ठित अदालतों में प्रचलित नियम-कानून को नजर-अंदाज करते हुए करद राजा-महाराजा अपने-अपने नियम बनाएंगे और राज्य-शासन करेंगे। पर इसका सही अर्थ अनेक राजाओं को पता नहीं था। प्राथमिक अवस्था में राजाओं को चरम दंड अर्थात प्राणदंड देने का अधिकार था। नरसिंहपुर के भूतपूर्व राजा ने किसी एक अपराधी का ढेंकी में कुटवाकर वध किया था जिससे न्यायपरायण ब्रिटिश सरकार ने उस अधिकार को रद्द कर दिया था। पर पश्चिमांचल के कई चीफ और मयूरभंज के महाराजा को आज भी वह अधिकार मिला हुआ है।

केऊंझर और छोटा नागपुर सीमा को लेकर काफी दिन से विवाद चलता आ रहा था। मेरी मैनेजरी के दूसरे साल उस झगड़े का फैसला कराने के लिए केऊंझर के महाराज ने वह काम मुझे सौंपा। केऊंझर की अनेक अपहृत जमीनों के वापस मिल जाने के कारण महाराज मुझसे बेहद संतुष्ट हुए थे।

30. केऊंझर में प्रजा-विद्रोह

केऊंझर में मेरी मैनेजरी के तीसरे साल प्रजा-विद्रोह आरंभ हो गया। प्रशासन के संबंध में केऊंझर दो भागों में बंटा है। पूर्वांचल आनंदपुर विभाग और पश्चिमांचल खास केऊंझर। आनंदपुर में केऊंझर के भूषण-स्वरूप धनी कृषक, व्यवसायी और साहूकारों का आवास था। मध्यभाग में वैतरणी प्रवाहित है, अतः भूमि उर्वर है। उस अंश में अपेक्षाकृत वन-पर्वत कम हैं। पश्चिमांचल में अधिकतर भूयां (एक आदिवासी जाति विशेष) हैं और कृषक अल्पसंख्या में हैं।

मैं आनंदपुर इलाके का भारप्राप्त कर्मचारी था। एक और असिस्टेंट मैनेजर भी थे। सभी साधनों से राज्य की आय अधिक थी। सन् 1891 ई. में प्रजा-विद्रोह हुआ था। इस विद्रोह के साथ आनंदपुर की प्रजा का कोई संबंध नहीं था। मैं देहातों के दौरे के सिलसिले में आनंदपुर कचहरी से पांच मील दूर वैतरणी के तटवर्ती नुआगढ़ के समीप एक अमराई में डेरा डाले ठहरा हुआ था। करीब ग्यारह बजे रात को आहारादि के बाद तंबू के बरामदे में आरामकुर्सी डाले शीतल वायु का सेवन कर रहा था कि केऊंझर से महाराज का एक गोपनीय पत्र लेकर दो आदमी मेरे पास दौड़ते हुए पहुंचे। केऊंझर में प्रजा-विद्रोह के बारे में उस पत्र में संक्षेप से लिखा था। उसी वक्त डेरा उठवाकर मैं आनंदपुर के लिए रवाना हो गया।

दूसरे दिन सुबह से रोज खास हलकारों के जरिए महाराज से दो-तीन चिट्ठियां मिलती रहीं। पत्रों में अन्य विषयों के साथ आनंदपुर से काफी सिपाही भिजवाने का निर्देश रहता। हर पल केऊंझर से समाचार पाना और सिपाही इकट्ठे कर केऊंझर भेजना ही एक तरह से मेरा काम बन गया था। केऊंझर सदर कचहरी से आनंदपुर कचहरी तक डाक की व्यवस्था बंद हो गई। विद्रोहियों ने एक दिन डाक की थैली लूट ली थी। रास्ते में जगह-जगह विद्रोहियों के पहरेदार थे। इस कारण जंगली गुप्त राह से सिपाहियों के जरिये पत्र भेजे जा रहे थे।

तीसरे दिन रात के लगभग नौ बजे जब मैं दैनिक कार्य समाप्त कर खाना खाने जा रहा था तब स्वयं महाराज साथ में असिस्टेंट मैनेजर विचित्रानंद दास और कुछेक विश्वासी लोगों को लेकर तीन हाथियों पर आनंदपुर कचहरी के पास पहुंचे। तीनों हाथी बड़ी भोर से केऊंझर से चलकर चार-चार आदमियों को पीठ पर लादे जंगलों में रास्ते-बेरास्ते तेज चलकर बावन मील रास्ता तय करके आए थे। वे थककर चूर हो गए थे। और सवारियों की अवस्था उनसे भी ज्यादा शोचनीय थी। गर्मियों के दिन, दिन-भर एक बूंद जल का स्पर्श तक नहीं, उस पर प्रचंड धूप और हाथियों की झूमती चाल के कारण मानो सवारों की हड्डी-पसलियां चूर-चूर हो गई थीं। महाराज के साथ सभी सवार हाथी पर से उतरकर

जमीन पर लेट गए। उन्हें पंखा कर सतेज करने में एक घंटे से अधिक लग गया। मेरे और दूसरों के आवास में भोजन बन चुका था। महाराज के साथ आए लोगों ने भोजन किया। महाराज के लिए तुरंत रसोई की व्यवस्था कर दी गई।

महाराज, मैं और दूसरे दो-तीन ने मिलकर कर्त्तव्य-निर्धारण के लिए सलाह-मशविरा किया। निश्चित हुआ कि महाराज आनंदपुर में रहेंगे और मैं कटक जाकर सुपरिंटेंडेंट साहब को प्रजा-विद्रोह के बारे में सूचित कर सरदारों को पकड़ने के लिए पुलिस की सहायता लूंगा। दूसरे दिन सुबह मैं हाथी पर सवार होकर कटक के लिए रवाना हो गया। उस दिन रात को मुझे केऊंझर जमींदारी के अंतर्गत कंटझरी की कचहरी में रह जाना पड़ा। दूसरे दिन, दिन के चार बजे ब्राह्मणी नदी के पास दुलिड़िहा से हाथी को विदा देकर तीसरे दिन सुबह नौ बजे कटक पहुंचा। पहले असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट राय नंदकिशोर दास बहादुर को पूरी स्थिति बताकर सुपरिंटेंडेंट टायनबी साहब से मिलने गया।

सुपरिंटेंडेंट साहब मुझसे सारा हाल सुनकर आग-बबूला हो गए। उन जैसे एक उच्च पदस्थ व्यक्ति कमरे के अंदर मानो बेकाबू-से दौड़ते हुए कह रहे थे–"ठीक हुआ, अच्छा ही हुआ। राजा जिस तरह सरकारी हुक्म मानते नहीं, जैसे अत्याचारी हैं, वैसे ही दंड भोगें। हम सहायना नहीं कर सकते।" मैं स्पष्ट रूप से समझ गया कि मेरे पहुंचने के पहले साहब को विद्रोह के बारे में जानकारी मिल चुकी थी। जब वे खुद कुर्सी छोड़-कर कमरे के अंदर चक्कर लगा रहे थे तो मैं किस तरह बैठता ? साहब कुछ शांत हुए तो मैंने उनसे धीरे-धीरे बड़े ही विनय से कहा–"हुजूर ! केऊंझर के महाराज सदा सरकार के आदेश का पालन करते हैं। यह बात सरकारी फाइलों में भी है। हुजूर अनुग्रह करके फाइलें देखेंगे तो मेरी बात की सत्यता का प्रमाण मिल जाएगा। और हुजूर, आपका कहना है कि राजा अत्याचारी हैं, पर मैं जोर देकर कह सकता हूं कि केऊंझर की प्रजा या बाहर का एक भी आदमी यह प्रमाणित करने में समर्थ नहीं होगा कि राजा अत्याचारी हैं। अब जो बगावत हुई है, इसमें सिर्फ भूयां जाति के लोग ही शामिल हैं। वे दुष्ट प्रकृति के हैं, बीच-बीच में विद्रोह करना उनका स्वभाव है। महाराज के अत्याचार के कारण विद्रोह हुआ होता तो सारी प्रजा एकत्रित हो जाती। अभी विद्रोहियों की संख्या कम है। महाराज उन्हें आसानी से काबू कर सकते हैं। पर महाराज आपको कर्त्ता मानते हैं, अतः हुजूर के आदेश और सहायता के बिना कुछ नहीं कर पा रहे हैं। इसलिए उन्होंने मुझे भेजा है। विशेषकर भूयां लोग जंगली और निहायत मूर्ख हैं, शराब पीने वाले। छोटी-सी बात के लिए तीर-तलवार चला सकते हैं। रक्तपात हो, यह महाराज की इच्छा नहीं। इसलिए महाराज चाहते हैं कि हुजूर से एक सौ कांस्टेबलों की सहायता मिले तो उन्हें देखकर वे जंगली लोग डर से भाग जाएंगे और आसानी से विद्रोह शांत हो जाएगा।"

शांत होकर कुर्सी पर बैठे सुपरिंटेंडेंट टायनबी साहब ने सोचा और कहा–"अच्छा, ठीक है, हम बालेश्वर के पुलिस सुपरिंटेंडेंट गायस साहब को लिखेंगे। एक सौ कांस्टेबलों

के साथ सहायता देने के लिए वे केऊंझर आएंगे। तुम अब जा सकते हो।"

मैंने आभार-प्रदर्शन करते हुए, सिर काफी झुकाकर कोर्निश की और विदा ली।

साहब के साथ जो कुछ बातचीत हुई और जैसी व्यवस्था हुई सब नंदकिशोर बाबू को बताकर मैं तत्काल कटक से चल पड़ा। दूसरे दिन शाम को कटक से आकर मैं टांगी पहुंचा। उसी समय महाराज भी कुछेक नौकरों के साथ आनंदपुर से टांगी पहुंचे थे। कटक के सारे समाचार मुझसे सुने। निश्चित हुआ कि जब इतनी दूर आ गए हैं, साहब से मिलकर जाना उचित होगा।

दूसरे दिन सवेरे हम लोग नंदकिशोर बाबू से मिले। तात्कालिक स्थिति के संबंध में काफी विचार-विमर्श के उपरांत यह निश्चित हुआ कि लेफ्टीनेंट-गवर्नर और चीफ सेक्रेटरी काटन साहब को विद्रोह के बारे में तार द्वारा सूचित कर दिया जाए और उनसे सशस्त्र पुलिस की सहायता के लिए प्रार्थना की जाए। उस तार में यही लिखा गया कि विद्रोह सामान्य है। सिर्फ अकारण खून-खराबा रोकने के लिए सैन्यबल की आवश्यकता है। उसके बाद सुपरिंटेंडेट साहब से मिलने की बात हुई। महाराज सिर्फ एक धोती और कमीज पहनकर कटक आ गए थे। साथ में कुछ भी नहीं लाए थे। उन्होंने कहा–"हम इसी तरह जाकर साहब से मिलेंगें। साहब देखें कि प्रजा ने हमें किस हालत में पहुंचाया है।" मैंने कहा–"नहीं, यह क्या कह रहे हैं आप ? साहब हुजूर को देखकर कहेंगे कि आप डरपोक हैं और भय से चले आए हैं। आपको साहब के साथ साहस से बात करनी है। मानो प्रजा-विद्रोह आपके लिए कोई खास बात नहीं, यही जताना है।" नंदकिशोर बाबू, महाराज और मैं तीनों एकांत में बैठकर विचार-विमर्श कर रहे थे। नंदकिशोर बाबू मेरी बात सुनकर मुस्करा रहे थे। महाराज साहब से मिलने जाएंगे। उपयुक्त पोशाक की आवश्यकता थी। नंदकिशोर बाबू ने अर्दली के जरिए दर्जी को बुलाकर उसकी व्यवस्था की। उसने नाप लिया और संध्या तक पोशाक तैयार कर देने का वायदा कर गया।

दर्जी के चले जाने के बाद हम तीनों नंदकिशोर बाबू के बैठकखाने में बात कर रहे थे, तब हमारे माननीय मधुसूदन दासजी पहुंचे। मधुसूदन बाबू को दूर से आते देख मैंने महाराज से धीरे-धीरे कहा–"अपने सलाह-मशविरे में मधुबाबू को शामिल करना उचित होगा। इसके बाद भी हमें कटक में अनेक काम करने होंगे, हमारे वकील की हैसियत से वह सारा काम करेंगे। विशेषकर मामलों-मुकदमों में उनकी सलाह की काफी जरूरत होगी।" नंदकिशोर बाबू ने भी महाराज से कहा-"हां, मैं भी वही कहना चाहता था, फकीरमोहन बाबू जैसा कहते हैं वैसा किया जाए।"

माननीय मधुसूदन बाबू केऊंझर की ओर से वकील नियुक्त हुए। विद्रोह के बारे में उन्हें सारा हाल सुनाया।

दूसरे दिन सुबह मैं और महाराजा साहब कमिशनर साहब से मिलने गए। साहब के खास बैठकखाने में हमें बुलाया गया। सलाम कर साहब के सामने कुर्सियों पर हमारे बैठते

ही साहब ने मानो तकलीफ से गुस्सा दबाते हुए कहा–

"राजासाहब, गढ़ में रानीसाहिबा, अन्य महिलाएं और बालक हैं। उन्हें निराश्रय स्थिति में विद्रोहियों के हाथ सौंपकर आप डर के मारे कटक चले आए हैं। यह कैसी बात है ?" महाराज के जवाब देने के पहले ही मैंने कहा-"नहीं हुजूर, गढ़ के लिए काफी पहरेदार हैं। गढ़ के चारों ओर विश्वासी प्रजा के गांव हैं। विद्रोही गढ़ की ओर आंख उठाकर भी देख नहीं सकते।" मेरी बात सुनकर साहब ने मुझे गुस्से से देखा।

बगावत के बारे में बातचीत हुई। इसी बीच गवर्नमेंट के चीफ सेक्रेटरी से तार पहुंच चुका था। अंत में निश्चित हुआ कि बालेश्वर के पुलिस सुपरिंटेंडेंट के प्रति केऊंझर के लिए रवाना होने का जो आदेश हुआ था उसे रद्द कर दिया जाएगा। दो सौ मिलेटरी पुलिस लेकर डाउसन साहब चाइंबासा होते हुए गढ़ की रक्षा के लिए जाएंगे।

कटक से विदा होकर मैं और महाराजा साहब आनंदपुर पहुंचे। आनंदपुर से सिपाहियों को एकत्रित करने में एक दिन लगा। शनिवार के प्रात:काल बारह बजे के करीब तीन सौ सिपाहियों के साथ महाराज केऊंझर के लिए रवाना हो गए। आनंदपुर से लगभग चार कोस की दूरी पर केऊंझर के रास्ते पर एक पहाड़ी नदी या नाला है। नाले के दोनों तरफ घना जंगल हे। उसके पास ही एक गांव है। पूर्व आदेश के अनुसार पहले से एक जगह जंगल साफ किया गया था, दो झोपड़ियां बनाई गई थीं। गांव वालों ने रसद जुटाई थी। वहीं महाराज ने भोजनादि किया। हम लोगों ने भी नहा-धोकर खाना खाया।

लगभग दो बजे वहीं दरबार लगा। पास वाले गांव से मुखिया, प्रमुख व्यक्ति और राजकर्मचारी पहुंचे थे। यथासंभव विद्रोहियों की गतिविधि और कार्यकलापों के बारे में तथ्य संगृहीत किए गए। उसके पश्चात राजासाहब ने आदेश दिया कि रसोई आदि संध्या के पूर्व समाप्त हो जाए। सिपाही और अन्य लोग दिन रहते भोजन कर लें। संध्या होते ही केऊंझर के लिए यात्रा आरंभ होगी।

मैंने निवेदन किया–"हुजूर, रात के समय चलना उचित नहीं होगा। सुनते हैं, विद्रोही भूयां तीर-तलवार लेकर दलों में जंगल के अंदर घूम रहे हैं। ऐसी स्थिति में अंधेरे में चलना उचित नहीं होगा। रात भर के लिए यात्रा रोक दी जाए, कल सुबह यात्रा करेंगे।" उन्हें गढ़ छोड़े काफी दिन हो चुके थे। स्थिति के बारे में कुछ जानते नहीं थे। इसलिए अतिशीघ्र गढ़ पहुंचने की इच्छा थी उनकी। अत: मेरा प्रस्ताव अस्वीकार हो गया। मैंने फिर कहा–"तब मैं राह की स्थिति का पता लगाते हुए कुछेक सिपाहियों को लेकर आगे-आगे चलता हूं। सिपाहियों के द्वारा आवश्यकतानुसार खबर भिजवाता रहूंगा और महाराज दो-तीन कोस पीछे चलें।" इस प्रस्ताव को महाराज ने मंजूर नहीं किया।

संध्या प्रदीप के जलते ही हमारी यात्रा आरंभ हो गई। सबसे आगे महाराज का हाथी चला। उसके पीछे मेरा। मेरे पीछे एक और हाथी पर दूसरे कुछेक कर्मचारी और पीछे-पीछे श्रेणीबद्ध होकर लगभग तीन सौ सिपाही चलने लगे।

अंधेरी रात ! रास्ता कई जगह उबड़-खाबड़ था। एक ही पैर टिकाने का स्थान मिलता था। उस पर जगह-जगह गहरे गड्ढे और झुक आई पेड़ों की शाखों के कारण सामने का कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था। उस जैसी राह पर दिन के उजाले में कोई चले और राह न देख पाए तो फिसलकर गिर जाए।

लगभग सभी सिपाही बूढ़े और बेजान थे। शायद ऐसे भी लोग थे जो आधी रात को कुछ भी नहीं देख सकते थे। वैसे भी राजा के लिए बेगार खटने को कोई दबंग जवान नहीं आता। बूढ़ा, बीमार, जो घर के कामधाम के लायक नहीं होता, उसी को भेजा जाता। उस पर आज उन्हें विद्रोह के दमन के लिए चलना था। बंदूक, तलवार से लैस चलने का हुक्मनामा मिला है। खून-खराबा होगा ही। घर का जवान बेटा, कमाऊ पूत मौत के मुंह में घुसने जाएगा क्या ? बूढ़े चलें। बूढ़े सिपाहियों के सिर पर दोहरे कपड़े या गमछे की पगड़ी, कंधे पर दस सेर की तीन हाथ लंबी बंदूक। कमर से झूलती तलवार, हाथ में लाठी और पीठ पर दस-पंद्रह दिन के लिए राशन और पकाने-खाने के लिए बर्तन समेत एक गठरी–इसी वेशभूषा के सिपाहियों की टोली अंधेरे में राह टटोलती चली जा रही थी। बीच में एक सिपाही किसी चीज से टकराकर गिर जाता तो उसके उठकर संभलने तक पीछे के लोग खड़े हो जाते थे। हाथी दो सौ हाथ आगे बढ़ गए तो कभी सिपाहियों की टोली पीछे रह गई। सिपाहियों को छोड़कर आगे जा नहीं सकते। तब हाथियों पर सवार हुए लोग पुकारते–"चलो रे, तेज चलो !" सिपाहियों को अड़ाते हुए ले चलने के लिए पांच-सात सरकारी कांस्टेबल थे। कोस भर की राह चलने के बीच ही हाथी चालीस-पचास जगह रुक चुके हैं। इस तरह चलें तो कब पहुचेंगे ? पीछे चलने वाले सिपाही को आगे बढ़ने को कहा जाए तो वह चले कैसे ? निश्चित हुआ कि हाथी पीछे-पीछे चलेंगे और आगे सिपाहियों की टोली चलेगी। वैसा ही हुआ। गठरी उठाए हुए सिपाही कछुओं की तरह झुक-झुक कर लगभग रास्ता रोककर आगे चलने लगे। हाथियों के लिए जगह कहां बनेगी ? पीछे वाले को तेज चलने को कहा जाए तो वह चले कैसे ? सामने वाला राह छोड़े, तब न! पीछे चलने वालों को तेज चलाने के लिए उन तक हाथियों को सटा लेने से वे त्रस्त होकर इस तरह बिफरने लगते कि एक-दूसरे से टकराकर कई गिर जाते थे। चलने के लिए इस नियम के जरिए भी कोई लाभ नहीं हुआ। अंत में यह तय हुआ कि राजा और कर्मचारियों के हाथी आगे चलेंगे और सब के पीछे मैनेजर का हाथी चलेगा। बीच में सिपाही चलेंगे। महाराज के हाथी के नजदीक चलने के लिए सामने के सिपाहियों से कहा गया। पीछे चलने वाले सिपाहियों पर निगरानी के लिए मैनेजर थे। यह व्यवस्था पहले से ठीक लगी। जो भी हो, इसके अलावा और कोई उपाय ही नहीं था। इस नवरंग गति से आधी रात तक हम लोग अहेरियों की एक बस्ती के पास पहुंचे। मैंने देखा, पैदल चलने वाले अधमरे-से हो गए हैं। राह चलने में अधिकांश असमर्थ हैं। उनका भी क्या दोष ? बूढ़े बेचारे दिन-भर लगभग पांच-सात कोस चल चुके थे। फिर शाम के बाद पेट भर भात खाकर पीठ पर

भारी गठरी लादे अंधेरे में अदृश्य पथ पर चल रहे थे। पत्थरों से टकराकर कइयों के पैर लहूलुहान हो चुके थे। महाराज से कहकर आधा घंटा आराम करने की अनुमति ली गई। आदेश पाकर जो जहां खड़ा था वहीं लेट गया, पीठ पर गठरी वैसी ही थी। कंधों से बंदूक उतार कर नीचे कांटे, कंकर या ओस भीगी घास की परवाह किये बगैर सब लेट गए। मैं भी क्लांत हो गया था। नींद आने लगी थी। हाथी पर से उतरकर ओस से भीगे एक ऊबड़-खाबड़ पत्थर पर लेट गया। उस पत्थर के नुकीले हिस्से पीठ, गर्दन और पैर से लगकर काफी पीड़ा दे रहे थे। राम, राम ! उस जैसे पत्थर पर नींद कहां से आती ! इधर-उधर कई बार करवट बदलकर उठ बैठा। अंधेरे में कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। पर चलती सांस की आवाज से अनुमान लगाया कि तब तक काफी सो चुके थे। मेरी प्रार्थना से महाराजा ने आधा घंटा विश्राम की अनुमति दी थी, पर उनकी इच्छा नहीं थी। वे चाहते थे कि किसी तरह भी क्यों न हो, शीघ्र गढ़ में पहुच जाएं। आधे घंटे के बाद महाराज ने हुक्म किया–"चलो, उठो !" पहले की व्यवस्था के अनुसार हाथी आगे-पीछे चले और बीच में सिपाही। रोज की तरह रात बीती और भोर हुआ। हमें लगा, मानो अंधकारमय, दुखद, कभी खत्म न होने वाली रात से हमें अचानक मुक्ति मिली और हम किसी सुखमय राज्य में पहुंच गए। पिछली शाम के यात्रारंभ के पश्चात किसी ने किसी का मुंह नहीं देखा था, या किसी के मुंह से बात नहीं निकाली थी। एक-दूसरे को देखकर परस्पर बातचीत करने के कारण सब के मन में मानो आशा जागी।

सन् 1891 ई., मई की 31 तारीख, रविवार के सुबह आठ बजे हम लोग घटग्राम नामक गांव में पहुंचे। केऊंझर के मार्ग पर यह एक खास जगह है। पास वाले हुजूरियों के साथ महाराज सरकारी बंगले में ठहरे। मैनेजर के लिए एक अलग घर में व्यवस्था हुई थी। सिपाही नजदीक की अमराई में लेट गए। पूर्व आदेश के अनुसार पास वाले गांव के मुखियों ने रसद की व्यवस्था की थी। थोड़ी देर आराम करने के बाद रसोई शुरू हो गई। महाराज की इच्छा थी–कितनी ही रात क्यों न हो जाए, आज गढ़ में जरूर पहुंचना है।

ग्यारह ही बजे थे। महाराज के लिए भोजन की व्यवस्था हो गई थी। महाराज अन्य एक कमरे से देवार्चन के बाद भोजन के लिए रसोईघर को पधारने को प्रस्तुत थे। वे बाहर निकले। मैं वहां खड़ा था। दोनों में बातचीत हो रही थी कि दो सैनिक दौड़ते हुए आए। वे जंगल-पहाड़, रास्ते-बेरास्ते रात भर दौड़ते हुए केऊंझर से महाराज के नाम पत्र लेकर आए थे। सैनिकों से पत्र लेकर मैंने पढ़कर सुनाया। पत्र का भावार्थ था–"मई 12 तारीख, सन् 1891 ई., गढ़ केऊंझर–आज सुबह छह घड़ी के समय लगभग पांच सौ भूयां विद्रोहियों ने आकर गढ़ को घेर लिया। गढ़ के अंदर घुसने की कोशिश की। हम लोगों ने गढ़ की दीवार पर से बंदूक चलाई। वे डर के मारे भाग गए और राइसुआं गांव में हैं।"

सुनते ही महाराज ने जोर से पुकारा–"महावत, हाथी तैयार करो ! हम अब फौरन चलेंगे।"

महाराज भोजन के लिए नहीं पधारे। वहीं से पोशाक पहनने चले गए, चल पड़ने को। मैं वहीं खड़ा था। महाराज तैयार होकर शीघ्र आ गए और मेरी ओर चकित दृष्टि से देखा। उस दृष्टि से मैंने सोचा मानो वे मुझसे पूछ रहे हैं–'तुम तैयार होने में देर किसलिए कर रहे हो ?' मैंने हाथ जोड़कर विनय के साथ कहा–"हम लोग तो भाग जाएंगे। गढ़ में रानीसाहिबा, राजकुमार, राजकुमारियों की इज्जत और प्राणरक्षा के लिए कौन है वहां ? हुजूर आनंदपुर जाएं और मैं गढ़ जा रहा हूं।" महाराज ने चंचल स्वर में कहा–"ठीक है, तुम वहां जाओ।" मैंने कहा–"आपने तो पत्र से सुना कि भूयां विद्रोहियों ने गढ़ को घेर लिया है। वे क्या मुझे आसानी से अंदर जाने देंगे ? मुझे आदेश दें–वे अगर मुझे मारने आएं तो मैं उनके साथ लड़ाई कर उन्हें मार सकता हूं।"

लिखित आदेश की आवश्यकता थी। पर कलम-दवात नहीं था। कागज भी नहीं। उन्होंने एक ताड़ के पत्ते पर लिख दिया। उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार था–'भूयां बागी अगर तुमसे लड़ने आएं तो तुम उनकी हत्या कर सकते हो।'

महाराज बहादुर बिना खाए-पीए आनंदपुर चले गए। सैनिकों के साथ मैं उसी घाटग्राम में रह गया। मेरे लिए अब संकट-काल उपस्थित। महाराज के गद्दीनशीन होने के समय वैसी एक बगावत हुई थी जिसमें केऊंझर के प्रमुख कर्मचारी दीवान साहब मारे गए थे। मैं अब केऊंझर का प्रमुख कर्मचारी हूं। मैं हाथ लगूं तो वे मेरी हत्या अवश्य करेंगे, यह बात निश्चित है। हो, मेरे साथ सैनिक हैं। मरूंगा तो लड़कर मरूंगा। घर-संसार में अपनी स्थिति से अनभिज्ञ अल्पवयस्का, निराश्रया पत्नी है, शिशु संतान है। उनका प्रतिपालक-रक्षक कोई नहीं। उस संबंध में मन में थोड़ी-सी चिंता तक नहीं जागी। एक-मात्र उद्देश्य था, किसी तरह राज-परिवार की रक्षा हो।

लड़ाई उपस्थित। सिपाहियों को समयोचित कार्यप्रणाली की शिक्षा देने और अस्त्र-शस्त्रों की जांच करने के लिए सभी को कतारों में खड़ा करवाया और देखा–संख्या लगभग तीन सौ है। उनके अस्त्र-शस्त्रों को देखा। हा दुर्भाग्य, तीन सौ में से करीब दो सौ बंदूकें टूटी-फूटी थीं––किसी में आधी नहीं तो किसी में चौथाई नहीं। दूसरी बंदूकों में भीतर-बाहर अंगुल-भर जंग लग चुकी थी और कइयों में जंग लगकर छिद्र ही बंद हो गया है। उस पर गोली-बारूद ! बारूददान याने नारियल से बने डिब्बे में, जो कमर से पीछे झूल रहा होता, दो या ज्यादा-से-ज्यादा चार बार चलाने का मसाला था। अंटी में दो-एक सीसे की गोलियां या पान के बटुए में एक आध और। रंजक का पलीता तक कइयों के पास नहीं था। लगभग सब की तलवार जंग-लगी। उनसे पूछने पर जवाब मिला–"जी, जल्दी आने का हुक्म मिला, बारूद बनाने का वक्त ही नहीं मिला हमें। गोली भी नहीं बना पाए।" पर सब में, जिस-जिस के बाप-दादा-परदादे ने वही बंदूक लेकर मराठों, पठानों से लड़ाई की थी और जीत भी उन्हीं की हुई थी, उसका गर्व भरा था। खून के गुण-अवगुण के कारण अधीनस्थ व्यक्ति भी अपना स्वभाव प्रकट कर देता है। कुछेक साहसी सिपाही अगुआ बनकर कहने लगे–"जी,

आप खड़े-खड़े आदेश देकर देखें, इसी टूटी बंदूक और तलवार से भूयों को ढेर कर देंगे।"

वास्तव में उनमें साहसी और चालाक सिपाही भी थे। उपयुक्त शिक्षा और अस्त्र-शस्त्र मिले तो वे युद्ध-क्षेत्र में अपना कमाल दिखा सकते हैं। सिपाहियों की बातें सुन मेरा भी किंचित साहस बढ़ा, हंसी आई। जो भी हो, आगे बढ़ना ही था, पर साथ वाले सिपाहियों के भरोसे निश्चिंत नहीं हो पा रहा था। गढ़ में अनेक सिपाही हैं, स्मरण किया। उनमें से एक टोली आकर बढ़ते हुए मुझे सहायता दे, इसी उद्देश्य से गढ़ के प्रभारी सिरश्तादार के नाम पत्र लिखा। उसी वक्त चार दौड़कर जाने वाले सिपाही-हलकारे पत्र लेकर गढ़ के लिए रवाना हो गए। अब मेरे लिए भूयों की संख्या, गतिविधि और प्रयासों के संबंध में जानना निहायत आवश्यक था। पता लगाया, वे राइसुआं गांद की ओर चले गए थे। दुर्भाग्य की बात तो यह कि.... सैन्य स्थिति इस प्रकार, उस पर सलाह-मशविरे के लिए साथ कोई भी नहीं था। जिन्हें जासूस के रूप में मुकर्रर किया था, वे प्रच्छन्न रूप से भूयों के हितैषी थे। मेरे कार्य के प्रति उनमें राई-भर सहानुभूति नहीं थी।

घाटग्राम से निकलकर संध्या के समय वसंतपुर गांव पहुंचा। वसंतपुर और केऊंझर गढ़ के बीच पर्वतश्रेणी है, बीच में घाटी थी। उसी स्थान से मुझे डर था। उस संकीर्ण पथ के दोनों ओर पर्वत पर दस-पंद्रह आदमी गुप्त रूप से रहें तो सौ आदमियों को आसानी से रोक सकते थे। उसी स्थान में वे छिपे हुए हैं, वैसी खबर मिली थी। अत: बिना जांच के बढ़ने का साहस नहीं हुआ। वसंतपुर गांव के मउडु (मुख्य) फौजदार को बुलाकर राह की स्थिति देखकर इत्तला देने का आदेश दिया। वह सरकारी नौकर है--मुझे क्या पता था कि वह भूयों के साथ मिला हुआ है! दो घंटे के बाद वह वापस आ गया और कहा कि 'रास्ता साफ है। एक भी भूयां नहीं है।'

रात हो गई थी। अंधेरे में घाटी के रास्ते से चलने की इच्छा नहीं हुई। उस पर सिपाही भी थक गए थे। उस समय गढ़ से पत्र का जवाब आया कि वे हमें सहायता नहीं दे पाएंगे। ठीक है, रास्ता तो साफ है, गढ़ भी दूर नहीं, सिर्फ पांच कोस का रास्ता। सुबह चलने का निश्चय कर विश्राम का आदेश दिया। वसंतपुर गांव की पश्चिमी ओर काणिजोर नाले के पास वाली अमराई में सिपाहियों ने रसोई की व्यवस्था की। एक बड़े आम के पेड़ तले मेरे विश्राम के लिए जगह बनाई गई।

वहीं मुझसे एक बड़ी भूल हो गई। बुद्धि की कमी के कारण दारुण कष्ट भोगा। उस समय घाटी पर भूयों के संतरी कम थे। मैं तब निकला होता तो आधी रात तक गढ़ में पहुंच गया होता। पर विपदा के समय बुद्धि विपरीत हो जाती है। मैं जीवन-काल में कई यातनाएं भोगकर अत्यंत अदूरदर्शी बन गया था।

सामने घाटी साफ है या नहीं, देख आने को वसंतपुर गांव के जिस फौजदार को भेजा था, वह जाकर भूयों के पहरेदार को मेरे साथी सिपाहियों की संख्या, उनके अस्त्र-शस्त्रों के विवरण और मैं कब चलने की तैयारी कर रहा हूं आदि समाचार दे आया था। वही

पहरेदार राइसुआं चलकर धरणी भूयां तक खबर पहुंचा आया था। राइसुआं गांव में और दूसरी जगहों में जो विद्रोही थे सभी को एकत्रित कर उसने मुझे पकड़ने के लिए भिजवाए। वे बंदूक, तीर, तलवार लेकर पर्वत के मूल से शिखर तक छिपे रहे। पहले से ही उस स्थान के प्रति मुझे डर था। क्योंकि शत्रु पेड़-पत्थर की आड़ में रहकर चलने वालों पर वार कर सकता था, पर नीचे चलने वाले अदृश्य शत्रुओं के खिलाफ अस्त्रों का प्रयोग कर ही नहीं सकते। उस पर मार्ग इतना संकीर्ण कि अधिक लोगों के लिए रहकर लड़ाई करना भी संभव नहीं था।

बड़ी भोर घाटी की फिर से जांच करने के लिए उसी फौजदार को भेजा। यात्रा के लिए तैयार होने का सिपाहियों को आदेश दिया। इतने लोगों को और हाथी को तैयार करने में लगभग एक घंटा लगा। सूर्योदय होकर धूप चढ़ने लगी। हम लोग काणिजोर नाला पार कर थोड़ी दूर आगे बढ़े थे कि वह फौजदार लौटा और खबर दी कि हम स्वच्छंद जा सकते हैं, कोई डर नहीं। इतना ही कहकर वह कहीं अंतर्धान हो गया। बाद में मिला नहीं। सहज ही हम बेफिक्र होकर चल रहे थे। काणिजोर से आधा कोस चलकर जब हम पर्वतों के पास पहुंचकर घाटी के रास्ते चलने लगे तब बंदूकों की आवाज और लोगों के गरजने के शोर से कुछ पल के लिए मानो पर्वत-श्रेणी कांप उठी। मैं जिस हाथी पर सवार था वह आगे-आगे चल रहा था। वह भी ठिठककर खड़ा हो गया। मुझे लगा जैसे आगे-पीछे और दोनों ओर पर्वत में छिपे हुए काफी लोग हैं। बाद में पता चला, जितनी बंदूकों की आवाज हुई थी, वास्तव में उतने लोग नहीं थे। पर्वत गह्वर से उत्पन्न प्रतिध्वनि ने मुझे भ्रमित कर दिया था। वहां एक गोली की आवाज दस गोलियों की आवाज-सी लगती है।

पल भर के लिए हाथी पर बैठे-बैठे सोचा, अब क्या किया जा सकता है ? सिपाहियों को उसी जगह खड़े रहने को कहकर दोनों ओर हाथी दौड़ाकर एक सही जगह ढूंढ़ने लगा। अभिप्राय था, कहीं ऊंचे पेड़ की आड़ मिले तो वहां सिपाहियों को रखकर आत्मरक्षा की बात सोची जा सकती है। समय बुरा हो तो कोई सुविधा ही नहीं जुटती, उस जगह संकीर्ण जंगल था। शत्रु हमें कहीं से भी अच्छी तरह देख सकता है। और कोई चारा नहीं था। मैं पूर्ण रूप से निराश हो गया। शताधिक बंदूकें गोली-बारूद से लैस थीं। कहीं मैं ही बंदूक चलाने का हुक्म न दे दूं, तब पराजय सुनिश्चित। और, अकारण रक्तपात भी क्यों हो ? मैंने सभी बंदूकों को खलास करने का आदेश दिया। उन्हीं सौ बंदूकों की आवाज से जब शत-सहस्र बंदूकों की आवाज पैदा हुई तब मुझे अपने भ्रम का पता चला। तब तो भूयों के पास इतनी बंदूकें नहीं—अकारण मैंने प्रतिध्वनि सुनकर भय किया। व्यर्थ चिंता की।

मैं हाथी दौड़ाकर आराम से आनंदपुर भाग सकता था। पर सिपाहियों को शत्रुओं के हाथ छोड़कर जाना लज्जाकर समझा। पीछे हटकर हम सब वसंतपुर की उसी अमराई में आ गए। सिपाहियों को श्रेणीबद्ध कर मैं आत्मरक्षा की व्यवस्था कर ही रहा था कि चारों ओर से हमें विद्रोहियों ने घेर लिया। घेरने वाले भूयों की संख्या काफी कम थी—आसानी

से उन्हें मार भगा सकता था, पर थोड़ी दूर पर काफी संख्या में और भूयां थे, इसलिए साहस नहीं हुआ।

केऊंझर का प्रजाविद्रोह (शेषांश)

भूयों ने आकर मुझसे कहा कि मुझे धरणीधर बाबू के पास चलना होगा। कोई बहस किए बिना हाथी पर सवार हो दलबल सहित मैं उनके साथ हो लिया। वसंतपुर के पश्चिमी ओर उसी बराराशि पर्वत के पास उन लोगों का एक मुख्य अड्डा था। धरणीधर का बड़ा भाई गोपालिया वहां का रक्षक था। उस पर वह भूयों का सेनापति था। इसके छह महीने पहले मैंने उसे केऊंझर जेल में बेड़ियां पहने हुए देखा था। पैरों में मोटी जंजीर थी और वह 'हरिकाठ'[1] में जकड़ा हुआ था। गोपालिया दबंग जवान था, विशाल शरीर, स्थूल और भयानक मांसपेशियां, मानो लकड़ी की बनीं, चौड़ी छाती, विकृताकार चपटा मुंह, जलती हुई छोटी-छोटी आंखें; भैंसे की तरह बलवान था वह। वह जैसा मूर्ख था, वैसा ही अत्याचारी और नृशंस था। कई लंबी तलवारें और तीर-कमान रखकर वह एक पत्थर पर बैठा था। कई भूये उसे घेरकर तलवार, तीर-कमानों से लैस उसके हुक्म के इंतजार में खड़े थे। मेरे पहुंचते ही उसने मुझे जलती निगाह से देखा। मैं भी उसके सामने बंदी की तरह खड़े-खड़े उसकी भीषण आकृति को देख रहा था। थोड़ी देर बाद हुक्म हुआ–"चलो राइसुआं, धरणीबाबू के पास।" मैं हाथी पर चला। वह दोनों हाथों में दो नंगी तलवारें लेकर मेरे पास बैठा और मुझसे पूछा–"तेरे पास पिस्तौलें हैं क्या रे ?" मैंने जवाब दिया–"ना।" तब उसने कहा–"देख, अगर भागने की कोशिश की तो कत्ल कर दूंगा।" कमर में फरसा, तलवार झुलाए, तीर-कमान लेकर चालीस-पचास पहरेदार हमें घेरकर चलने लगे। हमारे चलते समय कई लोग राइसुआं की तरफ से आ भी रहे थे। किसी को आते देखता तो पहरेदार चीख पड़ता था, 'होशियार !' सामने वाला अगर 'होशियार' कह जवाब दे तो समझ लिया जाता था कि आदमी अपना है, नहीं तो उसे हुक्म होता–'तफात्' 'तफात्', यानी रास्ते से हट जाओ। होशियार का जवाब होशियार में देने वाले अपने लोग और चुप रहने वाले पराए।

हमारी यात्रा के बीचोंबीच सामने से धनुषबाण लिए आकर एक भयानक आदमी मेरी ओर निशाना साधे चीखा–"तुमने मुझे सुबह से शाम तक भूखे रखकर बेगार खटाया था न ? आज तुम्हें जरूर मारूंगा।" और मुझ पर निशाना साधे धनुष की प्रत्यंचा खींचने लगा। पल भर की देरी थी। मैंने समझ लिया कि मृत्यु निश्चित है। पर उस समय पता

---

[1] बदमाश और दुर्दांत कैदियों को काबू में रखने के लिए बनाया गया लकड़ी का फर्मा।

नहीं कौन पीछे से आया और धनुष की मुट्ठी पकड़ ली।

समय अंदाजन तीन बजा होगा जब हम राइसुआं पहुंचे। मेरे हाथी पर से उतरते ही धरणी भूयां मेरे पास दौड़ आया और हुक्म देने के लहजे में चीखने लगा–"पैर पड़ो, पैर पड़ो।" मैं निश्चल खड़ा था। सोच रहा था, यही आदमी मेरी दया के आसरे सर्वे का काम करता था, आज इसके पैर पड़ूं ? मेरा रसोइया तब मेरे पास आया और रोते-रोते मुझे पैर पड़ने की प्रार्थना करने लगा। मैंने मन-ही-मन सोचा, धरणी हुक्म दे तो गोपालिया पल भर में कत्ल कर डालेगा। मुझे उस की चिंता नहीं थी। पर मेरे आदमियों को वह कष्ट पहुंचाएगा। मैं पैर नहीं पड़ा, पर अवनत मस्तक हो नमस्कार किया तो धरणी मुझे हाथ पकड़कर ले गया और अपने बिछौने के पास बिठाया।

दिन ढलने लगा। तब मुझे स्नानाहारादि के लिए अनुमति मिली। धरणी के दरबार से थोड़ी दूर पर मेरे रात्रिवास के लिए एक बारहदरीनुमा घर मिला। वह बारहदरी पांच-सात हाथ लंबी-चौड़ी थी। उसे चारों ओर से शाल के शाख-पत्तों से घेर लिया गया था। ऊपर भी वही शाख-पत्ते ही बिछाए गए थे, जिससे अंदर बैठे-बैठे रात को तारे दिखाई पड़ते थे। दो-एक दिन पहले बारिश हुई थी। नीचे जमीन गीली थी। उस बारहदरी के सामने पांच-सात भूयें नंगी तलवार लेकर पहरा दे रहे थे। पीछे की ओर भी पहरेदार थे। मैं बहुत थक गया था। नौकर ने उसी जमीन पर बिछौना कर दिया। संध्या के पश्चात मैं निढाल होकर सो गया। थोड़ी देर बाद ही दल-के-दल काली चींटियां मुझ पर चढ़ने लगीं। अंदर चींटियों की धार थी, मुझे मालूम नहीं था। क्या सोता ? सारे शरीर में आग लगने की तरह जल रहा था। शरीर को सहलाते-सहलाते और बिछौने पर से चींटियों को भगाते-भगाते रात बीती। सुबह धरणीधर का दरबार लगा। चारों ओर से भूयों की टोली आने लगीं। आज भूयां-पीठ में भरपूर आनंद था कि मैनेजर पकड़ा गया है। पाठकों की जानकारी के लिए यहां धरणीधर का संक्षिप्त ब्योरा देना चाहूंगा।

धरणी एक भूयां लड़का था। महाराज धनंजयनारायण भंज ने उसे कटक भेजकर सर्वे की शिक्षा दिलाई थी। महाराज के पैसे से कटक-स्थित केऊंझर आवास में रहकर वह सर्वे स्कूल में पढ़ता था। स्कूल से पास कर आने के बाद कुछ दिन के लिए काम करके प्रचार करने लगा कि महाराज प्रजापीड़क और अत्याचारी हैं। वह कटक से महारानी का धर्मपुत्र बनकर आया है, राज्य में न्याय-विचार करेगा। भूयें कई कारणों से महाराज के प्रति असंतुष्ट थे। धरणी की इस बात से लोग उसके पीछे हो गए और राजशक्ति को अमान्य करने लगे। धरणी के आदेश का उल्लंघन करने वाले अन्य जाति के लोगों की और राज-भंडार की लूट होने लगी। उसने पुलिस के कुछेक कर्मचारियों को भी कैद कर रखा था। सिंहभूम से आया महापात्र नामक एक और भूयां भी उससे आ मिला था। वह बुद्धिमान और मामलों-मुकदमों के बारे में थोड़ा-बहुत जानकार था। विद्रोह का रुख देख महाराज

केऊंझर छोड़कर आनंदपुर में रहने लगे थे।

सुबह 'महारानी-पुत्र' धरणीधर बाबू दरबार लगाए बैठे थे। केऊंझर की भूयां-पीठ के कई प्रमुख व्यक्ति भी आ पहुंचे थे। मुझे बुलाया गया। धरणी ने मुझे पास बुलाया और पूछा–"फकीरमोहन बाबू, तुम्हें अब क्या कहना है ?" मैंने तत्काल उत्तर दिया–"मैं क्या कहूं ? मैं तो यहां का आदमी नहीं हूं ! बालेश्वर से नौकरी करने आया हूं। महाराज ने मुझे मैनेजर बनाकर रखा था। अब तो वे चले गए हैं। अब आप इस देश के राजा हैं। और वास्तव में यह भूयों का राज्य है भी। मुझे मैनेजर बनाकर रखने की सोच रहे हैं तो रहूंगा, नहीं तो चला जाऊंगा। और मैं क्या कहूं ?" इस पर धरणी ने कहा–"ठीक है, ठीक है। तुमने सच-सच कह दिया। हम तुम्हें मैनेजर बनाएंगे।" भूयों की ओर देखकर धरणी ने पूछा–"आप लोगों की क्या राय है ?" सबने एक साथ चीखकर कहा–"नहीं, नहीं, यह राजा का आदमी है। इसे मैनेजर नहीं बनाया जाएगा।" उस पर धरणी ने कहा–"महाराज ! क्या कहते हो ! हम 'महारानी-पुत्र' हैं। हम महाराज हैं और यह हमारा मैनेजर है।" मैंने पहले से कह दिया था न कि वास्तव में यह राज्य भूयों का है, उस से काफी लोग खुश हो चुके थे। भूयों में एक अंधविश्वास था कि केऊंझर उन्हीं का राज्य है। वे लोग चाहें तो पुराने राजा को हटाकर नया राजा नियुक्त कर सकते हैं। यह उनका अधिकार है। इस भ्रांतिपूर्ण और मूर्ख धारणा के कारण उन्होंने इसके पहले भी बगावत की थी। इस विश्वास का ऐतिहासिक कारण था।

पहले मयूरभंज और केऊंझर दोनों एक राज्य में शामिल थे। राजधानी मयूरभंज जाकर गुहार-फरियाद करना अत्यंत दूरवर्ती भूयों के लिए कठिन तथा असुविधाजनक था। अतः उन्होंने मयूरभंज राजवंश के एक लड़के का अपहरण किया और उसे केऊंझर में गद्दीनशीन कराया। उसके गद्दीनशीन होने के समय भूयों के पास हाथी-घोड़े नहीं थे। दो आदमी हाथी और घोड़ा बने। मयूरभंज से अपहृत शिशु-राजा उन पर सवार होकर राज-सिंहासन पर बैठने चले। गद्दीनशीन होने के बाद एक झूठ-मूठ का अपराधी भूयां सिंहासन के सामने साष्टांग लेट गया। राजासाहब ने गद्दी पर बैठकर उस की गर्दन पर एक नंगी तलवार रख दी। इस का अर्थ यह हुआ कि 'अपराधी भूयों की हत्या करने का अधिकार भी राजासाहब को मिल गया'। अब तक केऊंझर में गद्दी पर बैठने के अवसर पर उसी तरह का अभिनय किया जाता है।

अब विद्रोह का कारण था– 'माछकांदणा जोर'। केऊंझर के एक ओर एक नीची पर्वतश्रेणी के बीचोंबीच यह नाला बहता है। उसका पानी उत्तर की ओर जाकर वैतरणी नदी में मिलता है। केऊंझर से पर्वतीय इलाके को जो सड़क जोड़ती है, उसी पर पर्वत की तलहटी से थोड़ी-सी दूरी पर है 'माछकांदणा नाला'। केऊंझर ही पर्वतीय उपत्यका में बसा है। सड़क से सटे हुए पहाड़ के एक छोटे-से हिस्से को तोड़ दिया जाए और पूर्वी ओर की मिट्टी काटकर पानी के लिए रास्ता-भर बना देने से नाले से पानी उत्तर की

ओर न जाकर पूर्व की ओर बहेगा, जिससे केऊंझर की लगभग सभी जमीनों की सिंचाई होगी। जब वहां मिट्टी का काम हो रहा था, तब मैं उसी 'माछकांदणा' को देखने गया था। नाले को देखकर मैं आनंदित हुआ था। अनुमान किया कि यह नाला केऊंझर के लिए आयप्रद और स्वास्थ्यप्रद सिद्ध होगा। पर जैसी कल्पना कर कार्यारंभ हुआ था उससे उस लाभ की संभावना नहीं थी। अनुमान किया कि नाले के दोनों ओर ऊंचे पर्वत हैं। उत्तरी ओर स्रोत को रोकने के लिए एक बांध बन जाए तो वहां झील जैसा पानी जमा रहेगा। पूर्व की ओर नाला खोदकर किवाड़ लगा देने से जब मर्जी तब जमीनों की सिंचाई करना आसान होगा। इससे अनावृष्टि के समय भी फसल को हानि नहीं होगी। सिर्फ यही नहीं, पर्वत के पिछले क्षेत्र से पूर्वी ओर केऊंझर को दो भागों में विभक्त कर एक स्वाभाविक नहरनुमा नाला भी है। वर्षा के समय उसमें पानी रहता है, पर अन्य समय सूखा पड़ा रहता है। वह अगर जल से भरा रहे तो केऊंझरवासियों के स्नान और पीने के लिए जल उपलब्ध होगा तथा साग-सब्जियों की सिंचाई का काम सहज होगा और उपकारी भी होगा। केऊंझर के निवासियों के लिए ज्वर भोगना एक आम बात थी। उन्हें स्वच्छ पानी मिले तो यह बला भी दूर हो जाए। इस कार्य के लिए लगभग दस हजार रुपये की जरूरत थी। केऊंझर के असिस्टेंट मैनेजर बाबू विचित्रानंद दास मेरे साथ थे। मैंने उन्हें अपना अभिप्राय बताया।

नाला देखकर लौटे तो महाराज ने विचित्रानंद बाबू से पूछा—"नाला देखकर मैनेजर बाबू ने क्या कहा ?" विचित्रानंद बाबू ने सिर्फ यही कहा कि—"नाला खुदवाएं तो दस हजार लगेंगे।" महाराज थोड़ा विरक्त हुए। उन्होंने कहा—"मैनेजर बाबू हर काम के लिए धन खर्चना चाहते हैं।" महाराज ने मुझसे कुछ नहीं पूछा, मैंने भी कुछ नहीं कहा। महाराज से आदेश पाकर कटक से मोटे-मोटे कंधे तक ऊंचे सब्बल ले आया। माछकांदणा नाले में खुदवाई और पत्थर तोड़ने का काम शुरू हो गया। उसके लिए इंजिनीयर बने असिस्टेंट मैनेजर बाबू विचित्रानंद दास। भूयों को पकड़ लाए और उनसे बेगार ली गई।

असिस्टेंट मैनेजर बाबू आनंदपुर में पेशकार थे। आदमी काफी परिश्रमी थे। स्नानाहार तक किये बिना सुबह से शाम तक काम में जुटे रहते। उनकी कर्मठता देख महाराज खुश हुए और उन्हें केऊंझर का असिस्टेंट मैनेजर बना दिया। विचित्रानंद बाबू की इच्छा थी कि वे खुद जिस तरह परिश्रमी थे, मजदूर भी वैसे हों। भूयां मजदूर बेगारी कर रहे थे। दस-पंद्रह सेर वजनी सब्बल और हथौड़ों से सुबह से शाम तक पत्थर तोड़ना कोई आसान काम नहीं था। बीच में बारह बजे दो घंटे की छुट्टी मिलती थी। काम में ढील हो तो मजदूर को मार भी पड़ती थी। जो घर से चावल आदि ले आता वह पकाए-खाए, पर जिस कंगाल के घर कुछ नहीं था—चावल वगैरह नहीं लाता, वह भूखा रहता। बेगार खटने वाले को चावल क्यों दिया जाए ?

नितांत दुखी होकर विरक्ति से सब भूयां मजदूर विद्रोही बने थे। उनसे बन पड़ता

तो असिस्टेंट मैनेजर को कत्ल कर देते और महाराज को गद्दी से हटा देते। विचित्रानंद बाबू मिल गए होते तो अवश्य ही मारे गए होते। वे भाग गए और बच गए।

उसी समय धरणीधर भूंया कटक से लौटकर अपने को 'महारानी-पुत्र' के रूप में परिचित कराने के कारण महाराज बनाया गया था। भूयों में विश्वास था कि राजा को हटाकर किसी और को गद्दी पर बिठाने का पूरा अधिकार है उन्हें। प्रसंगत: दूरवर्ती घटनाओं का वर्णन कर काफी कुछ लिख डाला। अब वर्तमान घटनाओं के बारे में कहा जाए।

उस दिन मेरी मैनेजरी के बारे में कोई फैसला नहीं हो पाया। अन्यान्य विषयों पर विचार के पश्चात दरबार-कार्य समाप्त हुआ। उस दिन रात को भी मेरे लिए उसी बारहदरी में सोने की व्यवस्था हुई थी जहां चींटियों का उत्पात था, निद्रा का अभाव था। दूसरे दिन दरबार के आरंभ में मैनेजरी को लेकर बात उठाई गई। अधिकांश सरदारों ने मेरी नियुक्ति को लेकर आपत्ति की। पर ' महारानी-पुत्र' धरणीधर ने कहा–"एक बुद्धिमान और योग्य आदमी मेरे पास न हो तो इतना बड़ा राज्य कैसे चला पाऊंगा ? अच्छा ठीक है, तुम लोग इतने लोग हो, इसे खड़ा करो.... इस जैसा रूपवंत और गुणवंत एक आदमी दिखाओ जिसे मैं मंत्री बना सकूं ! फिर फकीरमोहन बाबू को बाहर कर दूंगा।" उस समय भूयांपीठ के सभी लोग धरणीधर को देवता का अवतार मानते थे। मंत्री-पद पर मेरी नियुक्ति हो गई।

भूयें निहायत जंगली आदमी हैं। अपने देश, वन-पर्वत को छोड़कर किसी अन्य प्रदेश को जाने की इच्छा ही नहीं रखते। निहायत मूर्ख, अत: अन्य प्रदेशों की स्थिति और अस्तित्व के बारे में उनमें कोई ज्ञान नहीं था। भूयों को पता था कि एक महारानी हैं, वे धरती के सभी राजाओं की अधीश्वरी हैं। उनकी राजधानी कटक में है। केऊंझर के महाराज ने अन्याय किया जिससे खफा होकर महारानी ने धरणीधर को पोष्यपुत्र के रूप में स्वीकार किया है। इसलिए उस 'महारानी-पुत्र' धरणीधर की किसी भी आज्ञा को न मानने की शक्ति किसी में नहीं थी। पर पूर्वलिखित महापात्र भूयां सभी सरदारों को गुप्त रूप से समझा रहा था कि 'फकीरमोहन महाराज का पक्षपाती है, उसे अगर मंत्री बनाया गया तो प्रजा का अमंगल होगा। उसे मंत्री बनाना उचित नहीं।' पर खुले रूप से मेरे विरुद्ध कुछ नहीं कहता था। धरणीधर की इच्छा के विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं था उसमें। कई सरदारों की इच्छा नहीं थी, पर उसके बावजूद धरणीधर ने मुझे नियुक्त कर दिया। नियुक्ति-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए–'महारानी-पुत्र धरणीधर भूयां'। सभी कागजों पर वैसे ही हस्ताक्षर किए जा रहे थे।

मैंने मंत्री-पद पर नियुक्त होने के पश्चात तनखाह के बारे में कहा तो धरणीधर ने आज्ञा दी–"किसी भी कर्मचारी को तनखाह नहीं मिलेगी। हम केऊंझर में न्याय-विचार करने आए हैं। कोई लगान भी नहीं देगा।" पर मैं जिद करने लगा। विनय से कहता रहा–"बालेश्वर में मेरे कुटुंब में कई लोग हैं। तनखाह न मिले तो उनका निर्वाह किस तरह होगा ?" देर तक उसी विषय को लेकर तकरार चलती रही। मैंने दृढ़ता से कहा–"मुझे

तनखाह न मिली तो मैं नौकरी कर नहीं सकूंगा।" मुझमें नौकरी करने की बड़ी इच्छा है–भूयों को इस बात की सूचना देना, धरणी और अन्य भूयां सरदारों को बातों में लगाकर समय काटना ही मेरा उद्देश्य था। इसलिए समय-समय पर मैं बेकार बात तक उठा देता और उस तरह की चर्चा में काफी समय अपने-आप बीत जाता था। काफी विनय-अनुनय और वाद-विवाद के पश्चात निश्चित हुआ कि मुझे तनखाह के रूप में सात माण जमीन मिलेगी जिसके लिए कोई कर नहीं देना पड़ेगा।

राइसुआं में मेरी तीसरी रात थी। पिछली रातों में सोना नसीब नहीं हुआ था। काफी कोशिश और प्रार्थना करने पर राइसुआं के मुखिया ने मेरे लिए एक टूटी चारपाई ला दी। नौकर ने उस पर अच्छी तरह से बिस्तर बिछा दिया था। आहारादि समाप्त कर उस पर आराम से बैठ गया। मन खुश था। वह टूटी चारपाई मेरे लिए तब पलंग से अधिक थी। पिछली दो रात मुझे नींद ही नहीं आई थी। आज अच्छी तरह सोऊंगा। चाकर को बुलाकर हुक्का भरकर चिलम लाने को कहा। वह ढेर सारे हुक्के और अंगारे भर लाया। इच्छा थी कि कसकर चिलम खींचकर आराम से रात भर सो जाऊंगा। उसने फूंक मारी तो अंगारे दहकने लगे। उसने मेरी ओर हुक्का बढ़ाया। पर हाय रे दुर्भाग्य! मैंने हुक्के को दायें हाथ से पकड़ा और उठाकर नली में मुंह लगाने वाला ही था कि पता नहीं कैसे ऊपर की कुप्पी खुल गई और मेरे सिर पर दहकते अंगारे आ गिरे। मैं हड़बड़ा कर तेजी से उठा और तन-बदन से अंगारों की चिनगारियां झाड़ने लगा। अंगारों पर काबू करके बिछौने पर बैठ गया और बदन सहलाने लगा तो पता चला कि झुलस जाने के कारण कई फफोले पड़ गए थे। जहां कहीं फफोले नहीं थे वहां जलन काफी थी। उस दारुण यंत्रणा के समय भी हंसी आई मुझे। सोचा, विपदा भी इसी तरह अचानक आती है।

मैं 'महारानी-पुत्र' धरणीधर का मंत्री हूं, इस बात का प्रचार तब तक हो चुका था। धरणीधर को भी मुझ पर काफी विश्वास था। राजकार्य निभाने के बारे में मेरी राय मानता था। धरणीधर अब उस इलाके भर में देवता-तुल्य पूज्य बन गया है। रोज विभिन्न इलाकों की महिलाएं शंख बजाकर उसकी पूजा के लिए आती थीं। धरणीधर पैर बढ़ा देता। महिलाएं हल्दी-पानी में उसके पैर धोकर फूल चढ़ाकर पूजा कर जातीं। धरणीधर की पूजा के पश्चात मेरे पूजन के लिए आतीं। मैं मंत्री था न, इसलिए मेरी पूजा भी आवश्यक थी। पर मैं हाथ जोड़ते हुए उनसे कहता–"तुम लोग मेरी मां हो, मेरे पैर मत छूना। मैं तो सिर्फ एक चाकर ही हूं। मेरी पूजा क्यों करेंगी ?" धरणी मेरी बात सुनता। मेरे लिए निर्धारित बारहदरी में आकर मेरे साथ पान खाता। यह बात गोपाल और महापात्र को असह्य थी। गोपाल इसके पहले किसी जुर्म में बंदी बनकर केऊंझर जेलखाने में बंद था। कष्ट भी भोगा है उसने हरिकाठ में, इसलिए राजा पर, राजा के मैनेजर की हैसियत से मुझ पर उसका गुस्सा बहुत था। मौका पाता तो सर धड़ से उड़ा देता। कई बार उसने मुझे जलती आंखों से देखा–'इसकी गर्दन इतनी लंबी है कि उड़ा दूं।' मुझे पहाड़ी पर भूयां ग्राम के अंदर

बंदी बनाकर रखने की इच्छा थी महापात्र की। पर धरणी के डर से वे कुछ नहीं कर पाते थे। अंत में उन्होंने धरणी की अनुपस्थिति में मुझे पकड़कर जंगल में ले चलने का षड्यंत्र किया। सचमुच एक दिन महापात्र और अन्य कुछेक लोगों ने मुझे घेर लिया। पर ऐन मौके पर कहीं से खबर पाकर धरणी आ टपका और मुझे उनसे छुड़ाया।

मैं मंत्री था। पर मेरी बारहदरी के चारों ओर फरसा, कुल्हाड़ी, तीर, तलवार लेकर कई पहरेदार होते थे। मैं रात के समय कई बार बाहर आता था। उस समय वे सभी ऊंघते होते तो मैं उन्हें जोर से धमकाकर कहता–"क्यों बे, पहरा देने में ढील कर रहे हो ? एक यहां खड़ा हो जाए.... एक वहां।" उस तरह धमकाकर कहने का तात्पर्य था कि 'मैं हाकिम हूं, मंत्री। कोई बंदी नहीं। और वे लोग हाकिम के लिए पहरा दे रहे हैं।' फिर भी मन से डर नहीं जाता, कहीं इसी से नाराज होकर कत्ल ही न कर डालें। पर वे मेरी धमकी सुन डर-सहम जाते और बताए मुताबिक खड़े हो जाते थे।

राजमहल में लाखों रुपये थे। उन रुपयों को ले आना तथा राज-परिवार के लोगों को बंदी बनाकर लाना ही भूयों का मुख्य उद्देश्य था। पर मुझे पकड़ने, बाद में मुझे मंत्री बनाने आदि विषयों में उलझे रहे, अतः राजमहल लूटने के बारे में कोई निश्चय नहीं किया था, न उसके लिए तैयारियां हुई थीं। अब वह सब काम करने का समय आ गया था। राजरानी, राजकन्या और अन्य परिवार के सदस्यों के लिए पहाड़ी से सटकर कतारों में झोंपड़ियां बनने लगीं। पहले से घर नहीं बनाएं तो उन्हें पकड़कर कहां रखेंगे ? तब तक तकलीफ के जावजूद मुझ में धैर्य था। रानी और राजकन्याओं को वे पकड़ लाएंगे, यह बात सुनते ही मेरी अकल गुम होने लगी थी। कोई उपाय स्थिर नहीं कर पा रहा था।

आज एक बड़ा दरबार लगा। भूयांपीठ के सभी सरबराहकार, प्रमुख व्यक्ति, खुद महापात्रऔर दलपति गोपाल भी उपस्थित थे। दरबार में निश्चित हुआ कि कुल्हाड़ी-तलवार कमर से लटका, धनुष-बाण लेकर लगभग पांच हजार बंदूकधारी हमलावर चलेंगे। फलां दिन, फलां समय वे यहीं उपस्थित होंगे और सब एक साथ राजमहल को घेर लेंगे। दीवार तोड़कर अंदर घुसेंगे और राज-परिवार के लोगों को पकड़ लाएंगे।

मैं बारहदरी में बैठे-बैठे सब सुन रहा था। सब निश्चित हो जाने पर महारानी-पुत्र धरणीधर ने कहा–"अच्छी बात है, सब तो तय हो गया। अब मंत्रीजी से पूछा जाए। देखें वे क्या परामर्श देंगे ?" मैं दरबार में उपस्थित होकर महारानी-पुत्र के पास बैठ गया। सब मेरी ओर ध्यान से देख रहे थे। धरणी ने मुझे सब बताकर पूछा–"तुम्हारी क्या राय है ? क्या करना होगा ?"

मैं कई मिनटों के लिए आंखे मूंदकर गंभीर मुद्रा में बैठा रहा। यह एक कौशल था, यानी मैं उन्हें दिखा रहा था, मानो बहुत सोच-विचार कर रहा हूं। अंत में जोर-जोर से कहा–"देखिए.... राजकोष में कई लाख रुपये हैं। सब ले आना होगा। नहीं तो यहां कार्य

चलेगा कैसे ?" इतना सुनकर सबने एक साथ मेरी बातों का समर्थन करते हुए कहा–"सच कहा, सच कहा.... ।" मैंने जवाब में कहा–"सुनिए ! बाघ के बच्चे को पकड़कर लाना है। और जो लोग बच्चे को पकड़ने जाएंगे, उन्हें कहीं बाघ ही न दबोच ले। अगर बाघ ही पकड़कर गर्दन मरोड़ दे.... तब तो पकड़ ही नहीं पाओगे उसे ! और पकड़ लाने से भी फायदा क्या होगा ! मैंने यह बात क्यों कही, पता है ? गढ़ के अंदर दीवार से सटकर दो-तीन सौ बंदूकधारी संतरी खड़े हैं। वे अगर एक साथ बंदूक चलाएं तो पल भर में तीन-चार सौ उड़ जाएंगे। तब क्या होगा ? ये जो सरदार लोग बैठे हुए हैं यही सबके आगे-आगे रहेंगे। क्योंकि ये लोग आगे-आगे न चलें तो पीछे और लोग नहीं चलेंगे। और गढ़ के अंदर से गोली चलेगी तो यही सबसे पहले मारे जाएंगे। ये ही देश के सिरमौर हैं, भूयांपीठ के रखवाले हैं। ये लोग चले जाएं तो हम किन को लेकर शासन चलाएंगे ? ये चले जाएं तो हम कैसे गढ़ से रुपये लाएंगे ? और ले भी आएं तो क्या होगा उन रुपयों से ? रुपया बड़ा है या लोग ?" बुद्धिमान मंत्री ने ये सारे उपदेश एक साथ उंडेल दिए। भूयों के सभी सरदार चुपचाप सुन रहे थे। अंत में सबने गहरी सांस ली और लगभग एक साथ बोल पड़े–"तब क्या किया जाए ?" मंत्री महाशय भी गहन सोच की मुद्रा में चुपचाप बैठ गए और अंत में एक युक्ति निकाली–"ठीक है, एक उपाय है। गढ़ के खजाने से हम सब कुछ लूटकर ले आएंगे, और हमारे लोगों को ढेला तक नहीं लगेगा। पर चार-पांच दिन विलंब होगा।"

भूयों ने कहा–"ठीक है, ठीक है, देर हो, कोई बात नही।"

मंत्री–"उपाय क्या है, जानते हैं ? बम, डाइनामाइट लाएंगे।"

भूयें–"बम-डाइनामाइट क्या चीज है ?"

मंत्री–"बम डाइनामाइट है–हम गढ़ के पिछवाड़े छोटे पर्वत पर छिपकर रहेंगे और ऊपर से बम-डाइनामाइट गढ़ पर फेंकेंगे। एक-एक बम से दीवार उड़कर धूल बन जाएगी। दीवार के नीचे जो सिपाही बैठे हुए होंगे वे टुकड़े-टुकड़े हो जाएंगे। महारानी-पुत्र को साहबों के घर की सब बातें मालूम है, उनसे पूछो। यह बात सच है या झूठ, उन्हें पता है। वह सब चीजें यहां नहीं मिलती। कलकत्ते की दूकानों में मिलती हैं। हम आदमी भेजकर ज्यादा-से-ज्यादा लगभग सौ ले आएंगे। मिट्टी की दीवार कौन-सी बड़ी चीज है, सौ बम से तो यह पर्वत भी धूल बनकर उड़ जाएगा। पूछ लो महारानी-पुत्र से, साहब लोग बम से पर्वत तोड़ते हैं या नहीं ?"

निश्चित हुआ कि एक आदमी कलकत्ता जाकर सौ बम खरीद लाएगा। उसके लिए एक हजार रुपये की जरूरत होगी। रुपये दाखिल करने के लिए सभी बड़े-बड़े व्यक्तियों के नाम परवाने भिजवाये। दो व्यक्ति लिखने बैठ गए। हजारों आदेश लिखे गए। सभी पर महारानी-पुत्र धरणीधर भूंया के दस्तखत होंगे। यह क्या एक-आध दिन का काम था ? दिन-रात लगकर कर्मचारी परवाने लिख रहे थे और मंत्रीजी कार्य की निगरानी कर रहे थे।

केऊंझर गढ़ की रक्षा के लिए सेना आने की बात थी। गवर्नमेंट से भी आदेश हो चुका था। पर अब तक फौज आई नहीं। कब तक भूयों को रोके रहूं ? एक दिन अगर ये लोग गढ़ के अंदर घुस जाएं, तब राजवंश की संपत्ति और संभ्रम सब का विनाश हो जाएगा। महाराज को इस स्थान की खबर पहुंचानी चाहिए, पर कैसे पहुंचाऊं ? एक उपाय सूझा। बालेश्वर के निवासी बाबू भोलानाथ दे आनंदपुर दफ्तर में सर्वेयर थे। उन तक खबर पहुंच जाए तो, महाराज कहीं भी हों, वे उन तक खबर जरूर पहुंचा देंगे। मैंने पहले ही बताया है कि धरणी की पान खाने में रुचि थी। वह आकर मेरे डेरे में पान खाता था। मैंने उससे कहा–"जी, जितना पान लाया था, सब खत्म हो गया। यहां तो पान नहीं मिलेगा। भद्रख में मेरा एक कोठारी है, भोलानाथ दे। चिट्ठी लिखेंगे तो वह पान-सुपारी भेज देगा। आदेश हो तो उसे लिखूं।" आदेश हुआ–"अभी लिखो.... शीघ्र।" चिट्ठी में पान के बारे में लिखकर पूछा–"जी, मैंने भद्रख में गन्ने की खेती की थी। मैं तो चला आया। पानी के बिना खेती उजड़ती होगी। आदेश हो तो उसे सिंचाई करने को भी लिख दूं!" –"हां, हां, लिख दो।" मैंने जो चिट्ठी लिखी थी उसका मजमून इस प्रकार था–

(मई 16, सन् 1891
मुकाम–राइसुआं)

भोलानाथ कोठारी को मालूम हो–

महारानी-पुत्र के लिए अत्यंत आवश्यक है। शीघ्र ही सौ ही क्यों न हों पान, दो सौ सुपारी भेजना। पश्चिमी ओर[1] से नाले खोदकर गन्ने के खेत में पानी छोड़ना। नहीं तो गन्ने का नाश हो जाएगा, जानना। इति॥

फकीरमोहर सेनापति

महारानी-पुत्र के आगे चिट्ठी पढ़ी गई। अनुमति-पत्र पर महारानी-पुत्र के दस्तखत हुए। केऊंझर गढ़ से आनंदपुर सड़क पर विद्रोहियों की तीन-चार चौकियां थीं। महारानी-पुत्र से अनुमति-पत्र लिए बिना कोई आ-जा नहीं सकता था। चौकियों में बटोहियों के कपड़े-लत्ते टटोलकर जांच की जाती थी। चार गबरू जवान सिपाहियों के हाथ चिट्ठी भेजी गई। एक खंडायत फौजी के जनेऊ में तीन तार बांध दिए। आनंदपुर पहुंचकर चिट्ठी और उन तीन टुकड़े तारों को शीघ्र ही भोलानाथ बाबू को दे देने को कहा। वे सिपाही बंदियों जैसे थे, उन्हें घर को भी जाना था, अत: दिन-रात एक करके आनंदपुर की ओर भागे। तब महाराज आनंदपुर में थे। सिपाहियों ने उन्हें तीनों तार दिए, चिट्ठी दी। महाराज धनंजयनारायण भंजदेव अत्यंत बुद्धिमान व्यक्ति थे। चिट्ठी पढ़कर और तीनों तारों को देखकर वे तुरंत समझ गए। उन्होंने सबके सामने अर्थ समझाया। तीन तारों का अर्थ था–'गवर्नमेंट, कटक

---

[1] मैंने पश्चिम लिख दिया था। उत्तरी ओर चाइंबासा है। इससे सही अर्थ लगाने में महाराज को कठिनाई हुई थी।

के सुपरिंटेंडेंट साहब और तीसरे तार का या तो नंदकिशोर बाबू या मधुबाबू को तार देकर आगाह कर देने की बात मैनेजर ने कही है। पान का अर्थ है फौजी और सुपारी का अर्थ है गोली–मतलब बंदूकधारी सिपाही.... गन्ने की क्यारी यानी गढ़।' कुल मिलाकर उन्होंने अर्थ बनाया–"सौ के करीब बंदूकधारी सिपाही पश्चिमी ओर से गढ़ की रक्षा के लिए न पहुंचे तो गढ़ की लूट और नाश हो जाएगा।" पर सिपाहियों को उत्तरी ओर से चाइंबासा से आना था–पश्चिम क्यों लिखा है ?

उधर मैं फौजियों की राह ताकते हुए बैठा था। महारानी-पुत्र धरणीधर मेरे काबू में आ चुका था–कई सरदार भी ठीक रास्ते पर आ गए थे। उन्हें पास बिठाकर हंसते हुए राज्य की बात, घर के सुख-दुख की बातें करता। पर महापात्र को तब तक नहीं हथिया पाया था। वह सदैव मेरे रंग-ढंग और बातचीत पर ध्यान रखता था। पर मैं उसे संदेही आंखों से देखता था, इस भेद को कभी भी खुलने न दिया। मन-ही-मन सोचता था–अब मंत्री की बुद्धि और भूयां-बुद्धि में होड़ है, देखें जीत किसकी होती है ? गोपाल मुझे देखते ही दांत चबाता था। मेरी लंबी गर्दन काट डालने की इच्छा थी उसकी।

भूयों के जासूस चारों और घूम रहे थे। मेरे कैद होने के आठवें दिन सुबह सरकारी फौज की जयंतिगढ़ तक पहुंचने की खबर आई। शाम को फौज के तत्कालीन कप्तान डाइस साहब की चिट्ठी लेकर सिंहभूम-निवासी एक सिपाही महारानी-पुत्र धरणीधर के पास पहुंचा। अति बुद्धिमान मंत्री ने उस पत्र को पढ़कर सुनाया–"धरणीधर भूयां के लिए उचित होगा कि वह खुद जाकर साहब से मिले।" महारानी-पुत्र ने तलवार की नोक से उस पत्र के टुकड़े-टुकड़े कर दिए और घृणित भाव से फेंक दिया। मंत्री ने भी जोर से हंसकर कहा–"साहब भी कैसा मूर्ख है, वह खुद आकर आपको सलाम कर जाता। लिखा है, आप मिलने जाएं।" पत्र लाने वाले को आदर से पास बिठाकर सरकारी फौज की संख्या, कप्तान साहब की इच्छा, राइसुआं पहुंचने के लिए कौन-सा समय तय हुआ है आदि बातें मालूम कर लीं। उसे संक्षेप में राइसुआं की स्थिति के बारे में आगाह कर दिया। इस घटना के कुछेक घंटे बाद आनंदपुर सड़क के पास वाले घटगांव मौजे से बालेश्वर के डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेंडेंट साहब से महारानी-पुत्र के नाम पत्र पहुंचा। उस पत्र में भी हाजिर होने का आदेश था। उस पत्र की भी खिल्ली उड़ाई गई और फाड़ दिया गया। डाइस साहब के साथ स्वयं महाराज और सौ सशस्त्र सिपाही थे। महाराज को साथ न लाने के लिए डाइस साहब के पास गुप्त रूप से खबर भिजवाई। बसाधर चौकी पर कई भूयें अस्त्र-शस्त्रों से लैस हो तैयार थे। वह उनकी प्रमुख चौकियों में से एक थी। गोपाल वहां सेनापति था। कहीं जंगल के अंदर छिपकर कोई भूयां महाराज पर तीर न चला दे, वही मेरा एक मात्र डर था।

नवें दिन सुबह चार साहब कई सशस्त्र सिपाहियों के साथ राइसुआं की ओर बढ़ते हुए आने की खबर डाकिया-सिपाही ने पहुंचाई। महारानी-पुत्र ने अपने मंत्री को बुलाकर पूछा–"क्या बात है ? अब क्या करना होगा ?" मंत्री महाशय ने कहा–"जी, बहुत ही अच्छा

हुआ। आप ठहरे महारानी के पुत्र और जो साहब लोग आ रहे हैं वे महारानी के नौकर हैं। आपको सलाम करने आ रहे हैं। आप के लिए उचित होगा कि महारानी की मर्यादा रखने के लिए आप उन लोगों को स्वागत कर ले आएं।"

अब डर था, कहीं धरणी और महापात्र दोनों भागकर जंगलों में न छिप जाएं। फिर उन्हें ढूंढ़ निकालना मुश्किल हो जाएगा। अत: सतर्क रहकर महापात्र और अन्य भूयों को धरणी से मिलने नहीं देता था।

महारानी-पुत्र साहबों के स्वागत के लिए तैयार हो गए। एक लाल धोती पहनकर, सिर पर कीमती जरीदार टोपी चढ़ा ली। वह कीमती टोपी किसी पश्चिम-वासी सौदागर को लूटकर मिली थी। हाथ में नंगी तलवार, टांगिआ और धनुष आदि आयुधों से सज-धजकर, साथ में आठ-दस भूयों को पार्षद के रूप में लेकर चलने लगे। तब बुद्धिमान मंत्री ने टोका–"अरे, अरे, यह क्या कर रहे हो ? साहब लोग घोड़े पर सवार होकर आएंगे, ऊपर रहेंगे और आप नीचे; यह असम्मान होगा।" घोड़ा लाने का आदेश हुआ। राइसुआं के मुखिया का एक बूढ़ा मरियल घोड़ा था। मैदान में चर रहा था। उसे पकड़ा गया। उस पर एक कंबल बिछाया गया। सण की एक रस्सी से पेटी कसी गई, लगाम बनाई गई। महारानी-पुत्र तलवार को कंधे पर टिकाकर बैठ गए। किस तरह तलवार उठाकर साहबों को सलाम करना होगा, मर्यादा-सिद्ध बुद्धिमान मंत्री ने बताया, सिखाया।

हाय, महापात्र को रोक नहीं पाया। वह कुछ बुद्धिमान और अत्याचारी था। उस पर मेरा गुस्सा अधिक था। धरणी मेरे साथ था, इसलिए वह साथ नहीं जा पाया और अकेला जंगल में जा छिपा।

मैं जयंतिगढ़ की राह पर खड़ा हुआ दूर तक देखता रहा। तब तक मुझे मिलाकर करीब दो सौ सिपाहियों को बंदी बनाकर धरणी ने रखा हुआ था। उन्हें गढ़ की ओर चलने की तैयारी करने को कह दिया। लगभग घंटा-भर बीता होगा कि देखा–धरणी को पांच-छह सशस्त्र सिपाही घेरे हुए हैं, हाथ में तलवार नहीं, घोड़ा नहीं, आगे-पीछे चार अश्वारोही मिलिटरी वर्दी वाले साहब हैं और पीछे श्रेणीबद्ध फौजियों को दूर से आते हुए देखा। राइसुआं की अमराई में पहुंचकर साहबों ने धरणी की बनाई बारहदरियों में आग लगा दी। हाथी पहले से तैयार थे। बंदियों को लेकर फौजियों के साथ साहब लोग गढ़ की ओर रवाना हो गए। गढ़ में उपस्थित होने के एक घंटा बाद बसाघर चौकी की तरफ से बंदूकों की आवाज आई। विद्रोहियों ने डाइस साहब को रोका था, इसलिए लड़ाई भी हो गई। कुछेक भूयें मारे गए, कुछ घायल हुए। डाइस साहब महाराज के साथ पहुंचे।

मुजरिमों पर कानूनी कार्रवाई के लिए रजवाड़ों के सुपरिंटेंडेंट टायनबी साहब कटक से स्टीमर में चांदबाली होते हुए कलकत्ता पहुंचकर रेल से चक्रधरपुर और वहां से हाथी पर सवार हो केऊंझर पहुंचे। उनके साथ सिर्फ एक खानसामा था।

धरणी के साथ और चार सरदार भी पकड़े गए थे। उनके खिलाफ निम्न अभियोग थे

एक—गवर्नमेंट के मित्र-राज्य के साथ लड़ाई करने की कोशिश।

दो—केऊंझर राज्य के प्रमुख कर्मचारी को गैरकानूनी रूप से रोके रखना।

साहब के साथ अन्य कर्मचारी नहीं आए थे। मैं साहब का पेशकार बना, उस पर केऊंझर की ओर से राजकीय अभियोक्ता और मुकदमे के जवाब-सवाल, गवाहों के बयान आदि लिखने का काम भी मेरे हिस्से ही आया।

क्यों और किसके द्वारा विद्रोह का आरंभ हुआ, साहब ने इस सवाल का जवाब तलब किया। कचहरी के सिरिश्तादार ने साग्रह प्रार्थना कर उसके लिए जवाब लिखने की अनुमति पाई। मुझे उससे अति आनंद मिला, क्योंकि सुबह पतलून-कोट चढ़ाकर घर से निकलता था, तो रात के दस, कभी ग्यारह-बारह बजे कचहरी की वर्दियों से पिंड छुड़ा पाता था। सुबह से लेकर दस तक हाकिम, पलटन तथा अन्य आगंतुकों के लिए रसद की व्यवस्था करनी पड़ती। उस समय आगंतुक अतिथियों के कारण केऊंझर लोकारण्य हो गया था। विपदा के समय सहायता देने के हेतु मित्र-राज्य ढेंकानाल, बामड़ा, सिंहभूम आदि से हाथी, सिपाही और अन्य कार्यकर्त्ता भी आए हुए थे। दिन के दस बजे से संध्या तक साहब के दफ्तर में पेशकारी, संध्या से रात दस-ग्यारह तक राजा साहब की मैनेजरी—इन सब कार्यों के पश्चात अपने जिम्मे और काम लादना नहीं चाहता था। और बेकार के काम जितने न आएं, आनंद उतना ही अधिक होगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल सिरिश्तादार बाबू ने एक पूरी फाइल महाराज के सामने कर मेरी ओर ताककर गर्व से कहा—"मैनेजर बाबू, कल न मैंने खाया है न रात भर सोना नसीब हुआ। सारी रात यही लिखता रहा।" मैंने देखा भी कि कोई रात भर न खटे तो चार पन्नों के हिसाब से छह-सात कागज लिखना संभव नहीं है। महाराज के आदेश से मैंने पढ़ना आरंभ कर दिया। काफी धैर्य से आधा पढ़ पाया। हाय रे भाग्य! उसमें चाणक्य, भागवत, रामायण आदि से ढेर सारे उद्धरण थे। भूगोल, इतिहास के दृष्टांतों की भी कमी नहीं थी। मैंने महाराज की ओर देखकर कहा—"नहीं, नहीं, इससे काम नहीं चलेगा। मैं खुद लिख देता हूं।" महाराज ने भी कहा, "ठीक है, लिखो।" देखा, सिरिश्तादार की आंखें क्रोध से लाल हो चुकी थीं और वे थरथर कांप रहे थे, उत्तेजना से। और समय नहीं था। नौ बज चुके थे। दस तक रिपोर्ट तैयार कर कचहरी पहुंचना था। मैंने वहीं बैठे-बैठे जवाब लिख दिया। धरणी के पागलपन और भूयों के स्वभाव के कारण उन्होंने अकारण विद्रोह का सूत्रपात किया है। उस संबंध में अकाट्य प्रमाण थे। महाराज ने सुनकर हस्ताक्षर कर दिए। लिखावट में कहीं-कहीं कांट-छांट थी, पर प्रतिलिपि बनाने का समय नहीं था। रपट लिखी है राजा के मैनेजर ने और कचहरी में साहब का पेशकार पढ़कर सुनाएगा, अतः प्रतिलिपि बनाने की आवश्यकता भी नहीं थी। तब तक सिरिश्तादार महाशय मेरा अनिष्ट करने को प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे।

कचहरी में पहुंचते ही रपट की मांग हुई। हाकिम के हुक्म के मुताबिक मेरे पढ़ते

ही साहब क्रोध से कांपने लगे। चीख़ते हुए उन्होंने कहा–"यह रपट अवश्य ही तुमने लिखी है। यह तुम्हारी चाल है। मैं तुम्हें जेल भिजवा दूंगा।" क्या करूं ? तब स्थिति जैसी थी क्रोध करना या कार्य छोड़कर जाना संभव नहीं था। (शायद टायनबी साहब का अभिप्राय था, यदि विद्रोह को लेकर महाराज की अयोग्यता प्रमाणित हो जाए तब उन्हें शासन-कार्य से हटाकर मेरी जगह अपने दोस्त उआली साहब को मैनेजर बनाकर भेजेंगे।)[1] मैंने महाराज को निर्दोष साबित करने की चेष्टा की थी, अतः मुझ पर साहब का गुस्सा था। जो भी हो, धरणी आदि मुजरिमों के खिलाफ अभियोग की जांच के समय गवाहों ने भूयों के अपराधों के कारण विद्रोह छिड़ने की बात कही थी। साहब की उद्देश्य-पूर्ति में सफलता की कोई संभावना दिखाई नहीं दी।

सुपरिंटेंडेंट साहब केऊंझर से मुजरिमों को लेकर कटक के लिए रवाना हो गए। आनंदपुर में एक दिन के लिए रुककर धरणी आदि के मामलों के फैसले सुनाए। धरणी को पांच साल के लिए सश्रम कारावास की सजा हुई और दूसरे मुजरिमों को दो-दो साल की।

---

1. यह अंश मूल 'उत्कल साहित्य' में नहीं है। 'आत्म-जीवनचरित' के प्रथम संस्करण से लिया गया है।

31. विद्रोह के बाद की स्थिति

टायनबी साहब मुझे साथ लेकर भद्रख पहुंचे। हमारे आगमन के तीसरे दिन दार्जिलिंग से लाट साहब का हुक्म पहुंचा। उआली साहब के सामने टायनबी साहब ने मुझे आदेश दिया–"हमारी ओर से महाराज को पत्र लिखो कि पत्र पाते ही गढ़ छोड़कर आएं। न आएं तो पुलिस ले आएगी।" मैंने चिट्ठी लिखी और उस पर साहब ने हस्ताक्षर कर दिए। मुझे आदेश मिला–"उआली साहब मयूरभंज जा रहे हैं। वहां से केऊंझर पहुंचने में उन्हें देर होगी। उनके पहुंचने तक गढ़ की जिम्मेवारी आप पर रहेगी।" मैंने आदेश स्वीकार किया। महाराज शीघ्र गढ़ से न आए तो पुलिस ले आएगी, उस तरह की अपमानसूचक चिट्ठी मैंने लिखी थी, अत: महाराज मुझ से असंतुष्ट हुए थे। उन्होंने नंदकिशोर बाबू और अन्य अनेक भद्र व्यक्तियों को पत्र दिखाया और उस के संबंध में कटक में चीफ सेक्रेटरी से भी कहा था। महाराज की अनुपस्थिति में मेरा कार्यभार ग्रहण कर लेना महाराज को बुरा लगा था। मैंने जब टायनबी साहब के आदेश की स्वीकृति दी तब इस संबंध में सोचा तक नहीं था। दूसरे दिन टायनबी साहब कटक और उआली साहब बालेश्वर चले गए। मैं केऊंझर आ गया।

उस समय केऊंझर में रथयात्रा का उत्सव आडंबरपूर्ण होता था। रथयात्रा-पर्व समाप्त होने तक महाराज केऊंझर में रह सकेंगे, यह अनुमति मैंने टायनबी साहब से प्राप्त कर ली थी। पर्व का उत्सव शुरू हुआ। भूयें, भूंयिनें, और अन्य देहाती लोगों की भीड़ आ जुटी। भूयों की जवान छोकरियां बिच्छि-पत्ते में लपेटकर कंकर लातीं, जिसे भूयां युवाओं पर फेंका करती थीं। लड़के बिच्छी की यंत्रणा से बचने के लिए खूब तेल लगाकर आते। यह उन लोगों के लिए बहुत ही आनंद और आमोद की बात होती।

रथयात्रा समाप्त हुई। प्रत्यावर्त्तन उत्सव भी समाप्त हुआ। महाराज बहादुर मुझे समयोपयोगी उपदेश देकर कटक चले आए। महाराजा के कटक जाने के लगभग पंद्रह दिन के बाद उआली साहब बारिपदा से आकर केऊंझर पहुंचे। मैं उनके हाथों कार्यभार और खजाना सौंपकर आनंदपुर चला आया।

उत्कल के सर्वप्रमुख वकील बाबू मधुसूदन दास ने केऊंझर के महाराज की ओर से कलकत्ता जाकर लेफटीनेंट-गवर्नर के इलजास में महाराज के विरुद्ध टायनबी साहब के द्वारा लगाए गए आरोपों का खंडन किया और महाराज को निर्दोष प्रमाणित कर दिया। खुद लेफटीनेंट-गवर्नर केऊंझर पहुंचकर समस्या की जांच करेंगे, ऐसा आदेश जारी हुआ। पर उन्होंने महाराज को केऊंझर न जाकर कटक ही में केऊंझर के विद्रोह संबंधी मामलों का फैसला कर अपनी राजधानी को लौटने का आदेश दिया। उस समय लेफटीनेंट-गवर्नर

थे–सर चार्ल्स अल्फ्रेड इलियट, के.सी.एस.आई.।

मद्रास जाकर लेफटीनेंट-गवर्नर साहब से मिलने के लिए सुपरिंटेंडेंट साहब से पत्र आया। मैं उनसे भद्रख के डाक-बंगले में मिला। मेरे सलाम करते ही उन्होंने पूछा–"क्यों, कब आए ? ठीक हो ?" सिर्फ इतनी-सी बात कही और जेल देखने के लिए चले गए। उनके पीछे चीफ सेक्रेटरी काटन साहव (सर हेरी काटन) खड़े थे। सिर्फ उन्होंने केऊंझर के बारे में, भूयों के बारे में और मुझे बंदी बनाकर रखने के संबंध में पूछताछ की। लगभग पांच-छह मिनट की बातचीत के पश्चात उन्होंने मुझे विदा दी।

सब साहब कार्य समाप्त कर अपने-अपने कार्य-क्षेत्रों को चले गए। उआली साहब ने अपनी चीजों को लेजाने के लिए केऊंझर से उन्नीस हाथी लिए थे। उन हाथियों को मेरे जिम्मे छोड़ मयूरभंज लौटे।

मैं भद्रख से आनंदपुर वापस आ रहा था। उस समय कई तरह की दुश्चिंताएं मन को आंदोलित कर रही थीं। हठात् विचार उठा, अब उत्कल में जितने साहित्यकार और प्रमुख व्यक्ति हैं, साहित्य में सभी के नामों का उल्लेख होना चाहिए। फिर सोचा, केवल नामों की एक सूची बनाकर जोड़ देने से पढ़ने वाले रस नहीं लेंगे, अत: नामों के साथ-साथ साहित्यकारों का विवरण भी देने की इच्छा जागी। हाथी पर बैठा था। जेब से नोटबुक और पेंसिल निकालकर पद्य लिखना आरंभ कर दिया। आनंदपुर पहुंचने तक लगभग आधी रचना हो गई। हाथी पर से उतरते ही कंपोजिटर को बुलाकर कंपोज करने के लिए दे दिया। थोड़ी देर आराम कर फिर से लिखना आरंभ कर दिया। एक-एक पन्ना लिख लेता तो कंपोजिंग के लिए कंपोजिटर ले लेता था। रात नौ-दस बजे तक रचना समाप्त हो गई। महाराज बहादुर की आनंदपुर में उपस्थिति या आनंदपुर से मेरी रवानगी के लिए हाथ में सिर्फ दो ही दिन थे। उसी अवधि में पुस्तक का मुद्रण-कार्य समाप्त हो जाना चाहिए। मैं भी उनके पीछे लगा था। दूसरे दिन शाम तक पुस्तक का मुद्रण-कार्य समाप्त हो गया। यही मेरा 'उत्कल भ्रमण' का पहला संस्करण था।

महाराज के साथ मेरा मतांतर और मेरे आनंदपुर छोड़कर आने के बारे में यहां संक्षेप में लिखना आवश्यक है। जब वे राज्यच्युत हुए तब मैं उआली साहब के अधीन कार्य कर रहा था, यह बात उन्हें अप्रीतिकर लगी थी। आनंदपुर विभाग में दो प्रमुख कर्मचारी थे–एक मैं और दूसरा, असिस्टेंट मैनेजर। वह असिस्टेंट मैनेजर वहीं का रहने वाला था और पुराने दीवान का बेटा था। दीवान नंदघल महाराज के गद्दीनशीन होने के समय विद्रोही भूयों के द्वारा मारे गए थे। अत: घल-वंश के प्रति महाराज की विशेष सहानुभूति थी। इसी कारण असिस्टेंट मैनेजर भी महाराज का प्रियपात्र था। हम दोनों आनंदपुर में उआली साहब के पास काम करते थे। उआली साहब के आने के दो महीने बाद असिस्टेंट मैनेजर से असंतुष्ट होकर साहब ने उसे पदच्युत कर दिया जिससे वह मेरा विरोधी बन गया। उसे पदच्युत कराने में मेरा गुप्त हाथ था, ऐसी धारणा पता नहीं किसके कारण उसके

मन में घर कर बैठी थी। महाराज ने यह बात कटक में सुनी तो मुझ पर काफी नाराज हुए। मैं ही उसके बरखास्त होने की जड़ हूं, यह बात मेरे प्रमुख विरोधी सिरिश्तादार ने महाराज को समझाई थी। मेरे प्रति महाराज का पूर्व स्नेह क्रमशः कम होने लगा। गुरुतर राजकार्य के समय वे मुझसे पूछा करते, पर अब 'स हि नो दिवसा गता'। आफ्त के समय मित्र शत्रु और शत्रु मित्र-सा प्रतीत होता है। उस समय मुझे भी बार-बार बुखार आने लगा। मेरा एक सुंदर और प्रिय कुत्ता था, वह भी मर गया। मेरी पत्नी और शिशुपुत्र बालेश्वर में अशुभचिंतक परिवारजनों के बीच रहकर कष्ट भोग रहे थे। मैं भूयों के द्वारा पकड़ा गया था और उस समय उन्होंने मेरी हत्या की है—यह झूठी खबर बालेश्वर-भर में फैल चुकी थी। उत्कल-भर में भी उसका प्रचार हो चुका था। मेरी काल्पनिक मृत्यु की खबर पाकर पत्नी ने खाना-पीना छोड़ दिया था।

महाराज के साथ मन-मुटाव का दूसरा कारण था—उस समय अनेक प्रजाजनों द्वारा आनंदपुर से डाक के जरिये महाराज के विरुद्ध लेफटीनेंट-गवर्नर के पास दरखास्तें भेजी जा रही थीं। उन अभियोग-पत्रों के साथ मेरा गुप्त संबंध था, राजासाहब ऐसा विश्वास कर रहे थे। मैं समझ चुका था कि आनंदपुर में अब नौकरी करने की कोई आशा नहीं रही। महाराज मुझे पदच्युत न करें, फिर भी वहां रहना मेरे लिए मंगलकर और निरापद नहीं था। अतः महाराज के आनंदपुर पहुंचते ही नौकरी से इस्तीफा देकर बालेश्वर चले जाने की तैयारी कर रहा था। बाद में यह भी सुना कि महाराज मेरी जगह किसी और को नियुक्त करके साथ ला रहे हैं।

लेफटीनेंट-गवर्नर ने राय नंदकिशोर दासजी को केऊंझर के पालिटिकल एजेंट के पद पर नियुक्त किया था। महाराजा साहब मधुसूदन दास और पलिटिकल एजेंट को साथ लेकर आनंदपुर में उपस्थित हुए। महाराज के पहुंचने के दूसरे दिन (सन् 1892 में) पोलिटिकल एजेंट के सामने दफ्तर और खजाने का चार्ज देकर आनंदपुर से आधी रात के समय निकल आया था।

आनंदपुर में सभी मेरा आदर करते थे। महाराज के भय से मुझे विदा देने को एक भी नहीं आया। पर दूर देहात से लोग सड़क के किनारे अंधेरी रात में मेरी प्रतीक्षा में जगह-जगह बैठे थे। मेरा हाथी जब पहुंचता, लोग सड़क पर आ जाते, नमस्कार करते पर कुछ कहते नहीं, सिर्फ लंबी सांस लेकर मेरी ओर अपलक देखते रह जाते थे। उस समय की घटनाएं मेरे मन में आज भी चित्रित हैं। उनका स्नेह और सहानुभूति जीवन-भर नहीं भूलूंगा। दशपल्ला छोड़कर आते समय भी कई लोग मुझे विदा देने अंधेरी रात में मेरे पीछे-पीछे आए थे। आनंदपुर की गरीब विधवाओं पर 'चुल्हा कर' नाम का एक अप्रिय कर लगाया गया था। बड़ी चेष्टा और प्रार्थना से मैंने उसे हटाया था। उस कारण वे मुझे पिता-तुल्य सम्मान देती थीं। कभी-कभी दलबद्ध होकर जुहार कर जाती थीं। अंतिम रात को केऊंझर की सीमा पर स्थित वसंतिया गांव में मुझे उतार राजा का हाथी वापस

चला गया। वहां तक पहुंचा देने का आदेश दिया था राजासाहब ने। वसंतिया गांव के सरबराहकार गौरी मइकाफ ने मेरे लिए पालकी की व्यवस्था कर रखी थी। यह कार्य उनके लिए काफी साहसिक था। केऊंझर इलाके में उनका आबकारी का ठेका था। अत: अनिष्ट होने की संभावना थी। पर राजासाहब ने कुछ नहीं किया।

आनंदपुर छोड़ते समय केवल दो बातों के लिए मुझे कष्ट हुआ था। वैतरणी नदी के दूरवर्ती गांवों में गर्मियों के दिनों में पानी की काफी तकलीफ होती थी। सर्दी के दिनों में मैंने देहाती गांवों का दौरा कर पुराने तालाबों को साफ करवाया था। धीरे-धीरे केऊंझर के सभी तालाबों की खुदाई और सफाई करवाने की इच्छा थी। वह इच्छा पूरी नहीं हुई। दूसरी बात–मेरी बड़ी इच्छा थी, आनंदपुर स्कूल के लिए एक पक्की इमारत बनाने की। काफी पैसों का जुगाड़ भी कर लिया था, पर वह कार्य भी संपन्न न हो सका।

जब मैं आनंदपुर में था तब मेरे चचेरे भाई नित्यानंद सेनापति ने सपत्नीक तीर्थ-यात्रा की थी और तब उनका अयोध्या के स्वर्गद्वार में स्वर्गवास हुआ था। उनकी विधवा पत्नी घर लौट आईं। उनकी अलग रहने की इच्छा थी। हमारा संयुक्त परिवार अब तीन परिवारों में बंट गया। मेरे बड़े भाई (ताऊ के लड़के) राधामोहन सेनापति और भाई के पुत्र लालमोहन सेनापति मुझसे अलग हो गए। हमारी संपत्ति भी बंट गयी। हमारे मकान का भी तीन भागों में बंटवारा हो गया।

32. डोमपड़ा में दूसरी बार दीवानी

सन् 1894 के प्रथमार्ध में डोमपड़ा के महाराज ब्रजेंद्रकुमार मानसिंह भ्रमरवर रायजी से तार पाकर स्टीमर से चांदबाली होकर कटक पहुंचा। राजासाहब ने मुझे 120 रुपये मासिक वेतन पर दीवान के पद पर नियुक्त किया था। आप अंग्रेजी और संस्कृत भाषा के ज्ञाता थे। पर, गद्दीनशीन होने के दिन से साहित्य-चर्चा छोड़कर सिर्फ डाक्टरी चर्चा में लगे रहते थे। वे अत्यंत सरल प्रकृति, निर्मल चरित्र वाले व्यक्ति थे, पर उनका कोई स्वतंत्र मत नहीं था। सदा दूसरों की राय पर चलते और इतने आलसी कि राज्य की समस्याओं पर विचार तक नहीं करते। राजधानी में रहने की अनिच्छा थी उनमें, अत: प्राय: वे कटक ही में रहते थे। इससे खर्च भी अधिक होता था। उनके स्वर्गीय पिता ने असुविधावश लगभग साठ हजार का कर्जा लिया था, पर उन्होंने अपनी जिंदगी में ही काफी कर्ज चुका दिया था। केवल कुछ ही बाकी था। डोमपड़ा पहुंचकर मैंने देखा, राजासाहब के कारण पैतृक ऋण बढ़कर पचीस हजार पहुंच चुका है।

मेरे पहुंचने के कुछेक महीने बाद राजासाहब की विधवा माता परलोक सिधार गईं। राजासाहब ने बड़ी धूमधाम से अंत्येष्टि की। मातृ-वियोग के थोड़े दिन पश्चात ही रानीसाहिबा का देहावसान हुआ। राजमाता के देहांत के कुछेक महीने पश्चात उनकी माता अर्थात राजासाहब की नानी टिक्काली अधीश्वरी राधिका पाटमहादेई की परलोक-यात्रा का समाचार पहुंचा। राधिका महादेई अन्य दो कन्याओं के साथ पुरी आकर स्वर्ग सिधारी थीं। स्वर्गीय राधिका पाटमहादेई की अंत्येष्टि क्रिया में डोमपड़ा की ओर से सम्मिलित होने के लिए टिक्काली गया था। वहां मुझे छह महीने रहना पड़ा तो एक शिक्षक रखकर तेलुगु सीखने लगा।

रानीसाहिबा की मृत्यु के समय मुझे हिंदू ज्योतिषशास्त्र की सत्यता के संबंध में एक प्रत्यक्ष और अकाट्य प्रमाण मिला था। रानीसाहिबा गर्भवती थीं। सही समय गर्भ-पीड़ा होने लगी। उस गर्भ से जन्म लेने वाली संतान पुत्र होगा या पुत्री, जानने के लिए और जन्मपत्री बनाने के लिए खोरधा से एक ज्योतिषी को बुलाया था। वे ज्योतिष विद्या में पारंगत थे और रजवाड़ों में उनकी विशेष ख्याति थी। ज्योतिषी जी के पहुंचते ही मैंने वही प्रश्न किया। वे मेरे सामने बैठकर, रानीसाहिबा की जन्मपत्री लेकर भूमि पर कुछेक रेखांकन के पश्चात गणना करने लगे। मैं सामने बैठकर देख रहा था। और कोई नहीं था। गणना समाप्त कर म्लान मुख से खड़िये को रखते हुए उत्तर दिया—"मृत्यु है, रानीसाहिबा बचेंगी नहीं।" मैंने कहा—"वैसे तो कोई पीड़ा नहीं है, स्वाभाविक गर्भवेदना ही है।" पर उन्होंने कहा—"तो क्या हुआ ? आठ-आठ ग्रह मारक ग्रहों के रूप में हैं। सिर्फ एक ही ग्रह क्या उनकी रक्षा

कर सकता है ?" ज्योतिषीजी विदा लेकर अपने डेरे को चले गए। रात को लगभग नौ-दस बजे मैंने फिर उनसे पूछा–"अब क्या स्थिति है ?" उन्होंने कहा–"आज रात्रि के अंत तक मारक ग्रहों का प्रभाव है। किसी तरह रात बीत जाए तो रानीसाहिबा बच जाएंगी–पर वैसा नहीं होगा।" उस दिन एक और विचित्र बात देखी–सुबह से एक सियार जंगल से निकलकर बाहर आ जाता और सिंहद्वार के पास ऊपर देखते हुए जोर-जोर से रोने लगता। सिंहद्वार से भगा देने पर अमराई तक चला जाता और चीखने लगता, वहां से भगाने पर फिर सिंहद्वार के पास पहुंच जाता। 'उत्पाद सागर' नामक एक ग्रंथ में इसे एक भयानक अमंगल-सूचक बतलाया गया है। रात का अंतिम प्रहर–वन्य कुक्कुटों ने बांग देना आरंभ ही किया था कि आर्त्त-क्रंदन स्वर सुन मैं राजमहल की ओर दौड़ा। जच्चाघर की चौखट के बाहर रहकर अंदर झांककर देखा–कमरा रक्तमय हो गया था। रानीसाहिबा की अंतिम दशा उपस्थित हो गई थी। सद्य-प्रसूता कन्या जीवित थी। दस-पंद्रह दिन पश्चात वह भी माता के मार्ग पर चली गई। दाई की नाभिच्छेदन की अक्षमता के कारण नाभि सूजकर वहां घाव बन गया था और उसी से कन्या की मृत्यु हुई।

पूर्वोक्त घटना के कई महीने बाद मेरे जीवन में एक निहायत शोचनीय घटना घटी। ज्योतिषियों ने गणना करके बताया था कि मेरी पत्नी कृष्णाकुमारी की जन्मपत्री में निधनाधिपति बलवान होकर केंद्रीभूत हैं, अत: परमायु केवल चौंतीस साल की है। वास्तव में उनकी चौंतीस साल की उम्र में उदर रोग आरंभ हुआ। नानादि उपचारों के बावजूद कोई लाभ नहीं था। अंत में उन्होंने बिस्तर पकड़ लिया। सन् 1894 ई., शकाब्द 1816 की भाद्र शुक्ला दशमी के दिन अपरान्ह चार बजे सब समाप्त हो गया।

मेरी शैशवावस्था में माता-पिता चल बसे थे। मेरी जीवनधारिणी, रक्षक ठाकुर मां चली गई थीं। मेरे कुटुंबी और बंधुओं में मेरे लिए सहानुभूति नहीं थी। मेरी दूसरी शादी के समय मेरी उम्र तीस साल की थी और कृष्णाकुमारी बारह की थीं। उस छोटी उम्र से वे तन-मन से मेरी मंगल-कामना और मंगल-साधना करती आ रही थीं। उनकी पुण्य स्मृति अब भी मेरे हृदय में सजीव है। आज से चौबीस साल पहले मुझे पत्नी-वियोग हुआ था। अब लग रहा है कि मेरा हृदय शून्य से भरा है। मनोवेदना जताने को इस जगत में मेरा कोई भी नहीं है। हृदय वेदनातुर हो उठता है तो मैं उद्यान में बनी उनकी समाधि के पास बैठ जाता हूं और उसी से मुझे सांत्वना मिलती है।

मैं कविता लिखता हूं, उसका अन्यतम कारण है–मेरी पत्नी। वे मेरी कविता बड़े चाव से सुनती थीं। प्रथमत: मैं उनके मनोरंजन के लिए कविता लिखता था। उनकी मृत्यु के पश्चात मन की व्याकुलता-निवारण के लिए कविता लिखता हूं। मेरी अधिकांश कविताएं दारुण पीड़ा, विपदा और मानसिक अस्थिरता के समय लिखी गई हैं। रोज स्नान कर कृष्णाकुमारी मेरे द्वारा रचित महाभारत का आदि पर्व और रामायण के कुछ अंश का पाठ किया करती थीं।

मेरी पत्नी की मृत्यु के समय मेरे पहले पुत्र की आयु तेरह साल की थी और कन्या थी ग्यारह साल की। बालेश्वर में विपक्षियों के पास उन्हें छोड़ आने का साहस नहीं हुआ। उन्हें अगर साथ डोमपड़ा ले जाता तो उनकी पढ़ाई की कोई सुविधा नहीं होती। इसलिए उन्हें कटक में रखने की सोचकर स्टीमर में चांदबाली से कटक आया। मेरे परम सुहृद, परम धार्मिक मधुसूदन राउ ने दोनों बच्चों को अपने पास रखने की इच्छा प्रकट की। उस समय मधु बाबू कटक नार्मल स्कूल के सुपरिंटेंडेंट थे। स्कूल के अहाते में उनका सरकारी आवास था। बच्चों के खर्चे के लिए मासिक पैंतीस रुपये के हिसाब से तीन महीने के लिए एक सौ रुपये उनके हाथों में थमाकर मैं डोमपड़ा चला आया। बच्चे मधु बाबू के घर में एक साल रहे। बाद में एक स्वतंत्र बंगला लेकर उनकी रहने की व्यवस्था कर दी।

डोमपड़ा की महारानी साहिबा की अंत्येष्टि क्रिया के थोड़े दिन बाद राजासाहब के लिए विवाह का प्रस्ताव लेकर कई जगहों से पत्र आने लगे। स्वर्गीया रानी पारिकुद राजकन्या थीं। उनकी एक अनूढ़ा कनिष्ठा बहन थीं। उन्हीं के साथ विवाह का प्रस्ताव लेकर राजासाहब और मेरे नाम पत्र लेकर एक प्रतिनिधि पहुंचा। कुछ दिन पश्चात खल्लिकोट से भी मध्यस्थ पहुंचा। खल्लिकोट के महाराज की एक अविवाहिता बहन थीं। डोमपड़ा के राजासाहब की इच्छा थी कि अपने कुटुंब का अर्थात भाइयों के पुत्रों का संबंध उस घराने से हो, क्योंकि वंश से और कुल मर्यादादि में खल्लिकोट श्रेष्ठ थे। "बान्धव: कुल मिच्छन्ति।" मैं खल्लिकोट जाकर एक तरह से रिश्ता पक्का कर आया। मैं कटक में था। एक दिन सुबह कनिका के मैनेजर भूतपूर्व राजासाहब श्री नृपेंद्रनारायण भंजदेव को साथ लेकर उपस्थित हुए। इस घटना के दो दिन पश्चात मैनेजर बाबू आए और मुझे कटक-स्थित कनिका-आवास को ले चले। कनिका की वृद्धा रानी-मां ने कहा कि मैं उनकी कन्या के साथ डोमपड़ा के राजासाहब का रिश्ता पक्का करवा दूं तो वे मुझे खुश कर देंगी। मैंने कहा—"यह कार्य कर सकूं तो मुझे भी खुशी होगी।" बाद में मुझे मैनेजर भी मिले थे। उन्होंने बताया था—"राजासाहब पर लगभग पच्चीस हजार का कर्जा है, कनिका में संबंध हो जाए तो वे सारा कर्जा चुका देंगे।" कनिका वाली बात मैंने राजासाहब से कही थी। जवाब मिला—"आप जैसी व्यवस्था करेंगे उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है।" कनिका में इस रिश्ते के बारे में सुनकर डोमपड़ा के राज-परिवार के अन्य सदस्य उत्तेजित हो उठे। उन्हें खबर मिली थी कि कनिका-कन्या राजवंश-संभूता नहीं हैं—पुरी जिले के किसी अनजान खंडायत की वंशजा हैं तथा माननीया कनिका की महारानी साहिबा की पालिता कन्या हैं। डोमपड़ा के महाराज क्षत्रिय थे, अत: इस रिश्ते के कारण डोमपड़ा के राजासाहब की वंशमर्यादा की हानि की आशंका होने लगी। मैंने सभी आपत्तियों को अग्राह्य कर रिश्ता पक्का कर दिया।

विवाह के एक दिन पहले सुबह राजासाहब डोमपड़ा राजप्रासाद में नांदीमुखि श्राद्धादि कर भगिपुर अमराई में ठहरे। विवाह के दिन दोपहर के बाद बारात कटक से दो कोस

की दूरी पर स्थित गोड़िसाहि गांव तक पहुंची ही थी कि तूफान के साथ वर्षा आरंभ हो गई। काठयोड़ि नदी के बालू पर हम सब पहुंचे थे, तब प्रबल वर्षा होने लगी। बाजा, रोशनी, सजावट आदि सब तितर-बितर हो गया। राजा जिस पालकी में थे, तूफान से वह टूटकर गिर पड़ी। उसके बाद राजासाहब एक सामान्य पालकी पर सवार होकर चले। काठयोड़ी के उत्तरी तट पर पहुंचते ही तूफान और वर्षा बंद हो गई। बारात जैसे-तैसे कनिका राजमहल तक पहुंची। वैवाहिक मंगल कार्यारंभ हुआ। विवाह-कार्य संपन्न होने के पश्चात कनिका के मैनेजर ने राजासाहब का सभी कर्ज चुका देने का वायदा किया। मैं डोमपड़ा से नौकरी छोड़कर आ गया, तब पता चला कि मैनेजर ने वायदा पूरा नहीं किया और साहूकारों को ऋण के हिसाब में निहायत कम रकम दी गई।

उस समय मेरे दक्षिण बाहु-मूल में एक फोड़ा निकला। उस पर एक अनाड़ी डाक्टर ने आपरेशन किया तो उसी की पीड़ा से मुझे ज्वर हो गया। मैं बिस्तर पर पड़ गया। आपरेशन से जन्मे घाव ने भयानक रूप धारण किया। घाव का मुंह अत्यंत छोटा था, पर अंदर से सूज कर बाहु-मूल से कोहनी तक पीप भर गया था। आयुर्वेदिक, होमियोपैथी और एलोपैथी की दवाइयां बेकार साबित हुईं। डाक्टरों के मुझे परित्याग कर चले जाने के पश्चात दूसरे दिन डोमपड़ा से राज-परिवार के एक मित्र मुझे देखने आए थे। उन्हीं की सलाह से पदम और पलास के पत्ते पर घी लगाकर उसे गरम करके घाव पर बांध दिया। छह रोज तक नियमित वैसा करने के पश्चात देखा, घाव पूर्ण रूप से सूख गया है। विषम संकट से मुझे छुटकारा मिला और मेरी जान बची।

मेरी पीड़ा के समय राजासाहब ने कनिका के मैनेजर के परामर्श के अनुसार और कनिका-कन्या तथा डोमपड़ा की रानीसाहिबा के अनुरोध से मुझे पदच्युत किया था। मैंने पहले ही कहा है कि राजासाहब दुर्बलमना व्यक्ति थे। लोगों ने जब उन्हें समझाया कि मेरे दोष के कारण उन पर कर्ज चढ़ा है, तब उन्होंने मुझे पदच्युत किया था। पर वास्तव में दोष मेरा नहीं, दोष राजासाहब का था। राजासाहब के विवाह के पूर्व तीन वर्षों में नित्य के खर्चों के अलावा विशेष अवसरों पर किया गया व्यय इस प्रकार था–

राजमाता की अंत्येष्टि क्रिया में	9,500 रुपये
रानीसाहिबा की अंत्येष्टि क्रिया में	3,500 रुपये
राजमहल बनवाने में	5,000 रुपये
बंदोबस्त कार्य में	3,000 रुपये
राजमातामही राधिका पाटमहादेई के क्रियाकर्म के समय	500 रुपये
योग	21,5000 रुपये

इस इक्कीस हजार पांच सौ रुपयों के खर्चे के लिए एक भी रुपये का ऋण नहीं लिया गया था। जो भी हो, सभी बाधाओं को अग्राह्य कर मैंने जो कनिका-कन्या के साथ संबंध

स्थापित करवाया था, उसी का सही पुरस्कार मुझे मिला, जिस कर्मफल को मुझे भोगना ही होगा।

पूर्व राजासाहब के समय मैंने जो बंदोबस्त कार्य करवाया था, तब से अब तक और बहुत सारी बियाबान जमीन आबाद हो चुकी थी जिससे राज-सरकार को कोई आय नहीं होती थी। मैंने उन जमीनों की माप-जोख के लिए कर्मचारियों को नियुक्त किया था। मेरे इस दुबारा बंदोबस्त के कारण डोमपड़ा के राजस्व में सालाना तीन हजार रुपये की वृद्धि हुई थी। डोमपड़ा में कोई प्रवासी भद्र व्यक्ति पहुंचे तो उनके रहने के लिए कोई उचित आवास नहीं था, न पास में पानी की कोई व्यवस्था थी। उसी अभाव को दूर करने के लिए सिंहद्वार के सामने एक बंगला बनवाया था, कुआं खुदवाकर पत्थर लगवाए थे। लोग अब भी उस बंगले को 'फकीरमोहन बंगला' कहते हैं। राजमहल के अंदर पुराने मकानों को तुड़वाकर नए मकान तथा एक बंगला भी बनवाया था। वहां कुआं या तालाब नहीं था, जिससे लोग गर्मियों के दिनों में पानी लाने के लिए रण नदी तक जाते थे। दूरी के कारण कार्य कष्टप्रद था। अपनी दिवंगता पत्नी की स्मृति में गांव के बाहर कुआं खुदवाया था। उसी कुएं के ऊपर पत्थर पर–'श्रीमती कृष्णाकुमारी देवी, बालेश्वर' खुदा हुआ है। मैंने वह कुंआ अपने खर्चे से बनवाया था। डोमपड़ा से उत्तरी ओर पाथपुर की निकटवर्ती बांकि सड़क तक कोई सड़क नहीं थी। लोग पाथपुर से कुशपंगी गांव तक निविड़ कंटीले बांस के जंगल से होकर डोमपड़ा पहुंचते थे। आषाढ़ से कार्तिक तक महानदी में बाढ़ के कारण खेतों में पानी भर जाता था और वह पथ भी अगम्य बन जाता था। डोमपड़ा के पूर्वांचल के अधिवासी अत्यंत आवश्यकता के समय जंगलों में से घूम-फिरकर, पहाड़ चढ़कर पाथपुर तक पहुंचते थे। स्वयं राजासाहब या कोई विशिष्ट राज-कर्मचारी जरूरी काम से हाथी पर सवार होकर आते-जाते थे। पर खेतों में कहीं-कहीं हाथी गद्दी तक डूब जाता था। बटोहियों की सुविधा के कारण डोमपड़ा से पाथपुर तक सड़क बनवाने की इच्छा की थी। पर वह इच्छा पूरी नहीं हुई। डोमपड़ा में स्कूल की इमारत बनाने का काम आरंभ कर दिया था। सन् 1896 ई. में मेरे डोमपड़ा छोड़ते समय उस स्कूल की दीवारें ही बनी थीं।

मेरी पीड़ितावस्था में जब मुझे राजासाहब से पदच्युति का पत्र मिला, तब मैं पालकी पर काफी तकलीफ से सवार होकर राजासाहब से मिलने गया था, पर उनके साथ मुलाकात नहीं हो पाई। कनिका राजभवन को गया था। युवा राजा नृपेंद्रनारायण भंजजी से मिला। उन्होंने पहले की भांति मुझसे हाथ मिलाया और पास बिठाया।

पहले की भांति प्रेम से हंस-हंस कर बात की। राजकुमार की उस समय की मोहिनी मूर्ति अब भी मेरे हृदय में चित्रित है। वे तब नाबालिग थे। उनकी कोई क्षमता नहीं थी। मैंने उन्हें तब की स्थिति के संबंध में कुछ भी नहीं बताया और विदा लेकर चला आया। उनसे वही मेरी अंतिम भेंट थी। उस घटना के पांचवें या छठे दिन प्रात:काल लगभग नौ बजे मैं तंद्रावस्था में था। अचानक उठ बैठा और चीखने लगा, "हाय राम ! कनिका

के राजासाहब चल बसे।" तब मेरे पास मेरी बारह वर्षीया कन्या थी। उसने कातर हो मुझसे पूछा–"पिताजी, कौन-से राजा चल बसे ?" तब मैं प्रकृतिस्थ बना और कहा–"नहीं, नहीं, वह मेरा प्रलाप था।" इस घटना के दो घंटे बाद मैंने राजासाहब की मृत्यु की खबर सुनी। हिसाब लगाकर देखा, मेरे प्रलाप के समय ही राजासाहब के प्राण-पखेरू उड़ गए थे।

मैंने आरोग्य-लाभ किया, पर तब अर्थाभाव से पीड़ित था। एक दिन मुझे डोमपड़ा के राजासाहब ने बुलाया और महीने में सौ रुपये की सहायता देने को कहा। पर जब मैंने कुछ भी न करके इतने रुपये लेने से इनकार कर दिया, तब उन्होंने मुझे महीने में चालीस रुपये देकर मुझे कटक में अपना एजेंट नियुक्त कर दिया। राजासाहब की गाड़ी और घोड़े मेरे घर पर थे और मैं उनकी देख-भाल करता था। मेरे लिए दूसरा काम था रोज सुबह राजासाहब के पास जाना और उनसे बातचीत करना। कुछ महीनों के बाद मैंने वह काम छोड़ दिया।

मेरे डोमपड़ा के साथ संबंध टूटने के बाद सुना कि राजासाहब पर कर्जा बढ़कर सत्तर हजार तक पहुंच गया था। वे कनिका का नाम भी सुनते तो क्रोधित होते। ऋण अदा करने के लिए वे चिंतित हो उठे थे। साहूकारों ने भी उन पर मुकदमा चलाने की सारी तैयारियां कर ली थीं। कटक के प्रख्यात वकील मधुसूदनदासजी ने राजासाहब को साहूकारों के जुल्म से बचाने के लिए केऊंझर के राजासाहब से कम ब्याज पर रकम दिलवाई और कर्जे का बोझ उतारा।

कर्जे की मुसीबत से मुक्त तो हो गए, पर अब उनमें एक मानसिक विकार बढ़ने लगा। वे सदा चिंतित रहते थे और पलंग पर पड़े रहते थे। अंत में राजमहल से भी संबंध तोड़ लिए और नाना क्षेत्रों में भ्रमण करने लगे। उनका वह सुगठित सुंदर शरीर धीरे-धीरे सूखने लगा। कई स्थानों का भ्रमण कर अंत में वे कलकत्ता पहुंचे। उस महानगरी में पतितपावनी गंगातट पर उनका देहावसान हुआ।

33. कटक में स्थायी आवास

काफी दिनों से कटक में एक आवास बनाने की मेरी इच्छा थी। घर बनाने के लिए एक अच्छी जगह की तलाश में था। अचानक मिल जाने के कारण बक्षी बाजार के पास एक बंगला खरीद लिया। बाद में देखा कि मुझ जैसे कम आय वाले आदमी के लिए उस जैसे बड़े मकान में रहना और उसका रख-रखाव करना अंसभव था। उस बंगले में कई कमरे थे। चारों ओर बगीचा था, सरोवर था और चारों ओर पक्की चारदीवारी के अंदर खुला मैदान था—साहबों के रहने लायक।

असुविधा तो थी ही, वहां देशी और भद्र निवासियों का भी अभाव था। स्कूल, कचहरी और अन्य आत्मीय स्वजनों के घर दूर-दूर थे। उस घर को लेकर अच्छे-खासे झमेले में फंस गया। मैं तो नित्य प्रवास में रहूंगा, घर को किराये पर कौन उठाता और उसकी देख-भाल कर मरम्मत कौन करवाता ? घर का आधा हिस्सा बेचकर एक पड़ोसी जुटाया। घर के किराये से महीने में चालीस रुपये मिलते थे। बाद में फिर अभाव के कारण मैंने अपने हिस्से को मधुसूदनदास महोदय के हाथ बेच दिया।

स्कूल, कचहरी आदि के पास घर बनाने के लिए जगह की तलाश में था। एक दिन संध्या के समय बाखराबाद धुआंपतरिया गली में एक जगह देखी। पंद्रह-सोलह डेसिमिल पक्की दीवार से घिरी एक खुली जगह थी। सुना, वहां उत्कल के प्रख्यात जमींदार भगवान राय सिंह का आवास था। उनकी आर्थिक स्थिति खराब थी, अतः वे उसे बेच देना चाहते थे। जगह निस्फिबाजाब्त थी। उस पर सालाना डेढ़ रुपये का लगान था। उस जगह को काफी सस्ते दाम में खरीद लिया। वहां मकान बनाकर सन् 1896 ई. से रहने लगा। उस समय फिर से अर्थाभाव के कारण लकड़ी को खरीदकर उससे किवाड़-चौखट वगैरह बनवाकर बेचता। उसी को आय का जरिया बनाया।

सन् 1898 ई. के दिसंबर में क्रिसमस की छुट्टियों में मद्रास में भारतीय कांग्रेस और एकेश्वरवादी महासभा के अधिवेशन होना निश्चित हुए। तब स्वर्गीय आनंदमोहन बोस कांग्रेस के सभापति थे। बालेश्वर की नेशनल सोसाइटी ने मुझे कांग्रेसी डेलिगेट चुना और बालेश्वर के ब्राह्म समाज के द्वारा एकेश्वरवादी सभा के लिए सदस्य चुने जाने के बाद मैंने मद्रास के कार्यकर्ताओं को पत्र लिखा। मैंने बारंग से मद्रास तक की यात्रा रेल से की। मद्रास में यही मेरा प्रथम और अंतिम कांग्रेस-दर्शन था। सभा में चर्चा के अधिकांश विषय राजनैतिक थे। यद्यपि हमारी राजनैतिक आकांक्षाओं के सफल होने की कोई निकट संभावना नहीं थी, फिर भी हमारी स्थिति तथा अभियोग को प्रकट न करके, चुप रहना हमारे लिए उचित नहीं होगा। कांग्रेस भारत के विभिन्न प्रांतों के सुशिक्षित, स्वदेश-वत्सल, मातृभूमि की

दुर्दशामोचन-कामी सुसंतानों को एकता-सूत्र से गूंथ रही थी। एकता का अभाव ही भारत के पतन का मुख्य कारण था।

एक रोज जब मैं मद्रास का अजायबघर देखने जा रहा था, तब रास्ते में बालगंगाधर तिलक को कुछेक लोगों के साथ बातें करते हुए देखा। मैंने भी उनके साथ वार्तालाप किया। वार्तालाप कर उनसे विदा लेते समय मैंने जब उन्हें नमस्कार किया तब उन्होंने मेरे हाथ पकड़ लिए और कहा–"अरे, अरे यह आप क्या कर रहे हैं! मेरे साथ ऐसा व्यवहार न करें।" एक रोज मैं मद्रास बंदरगाह देखने गया। जहाजों को लहरों से बचाने के लिए सरकार बहादुर ने उसका निर्माण कराया है। पत्थरों से बना बांध किनारे से क्रमश: सूक्ष्म होते हुए समुद्र के काफी अंदर तक गया है। उसके अगले भाग एक-दूसरे से पृथक हैं। उसी मुहाने से या रास्ते से जहाज समुद्र से बंदरगाह के अंदर प्रवेश करता है। समुद्र की उत्ताल तरंगें बांध से टकराकर रह जातीं, बंदरगाह के अंदर घुस नहीं पातीं। बंदरगाह के किनारे सुंदर जेटि बनी है। उसी जेटि पर उसके इलाके में रेल-लाइन बिछी हुई है। रेलगाड़ी जेटि के अंतिम भाग तक जाती है। क्रेन की सहायता से जहाज से माल उठाकर रेलगाड़ी पर लादकर उसे शहर तक ले जाया जाता। मद्रास में एक और दर्शनीय क्षेत्र है 'पेचापा कालेज'। महात्मा पेचापा एक स्वनामधन्य व्यक्ति थे। उनका जन्म सन् 1754 ई. में कांचिपुर में हुआ था। जन्म के कुछ ही महीने पूर्व उनके पिता विश्वनाथ मुदलियर परलोक सिधारे तो उनकी माता ने आत्मरक्षा हेतु मद्रास आकर श्री नारायण पिल्लै नामक एक धनी व्यक्ति का आश्रय ग्रहण किया था। दयालु हृदय पिल्लैजी ने पेचापा को अंग्रेजी भाषा में शिक्षित कर व्यापार में लगाया। अंत में ईस्ट इंडिया कंपनी में एक विशेष पद पर नियुक्त होकर उन्होंने काफी पैसा कमाया। उनकी कोई पुत्र-संतान नहीं थी। उनके वसीयतनामे के अनुसार उनकी लाखों की संपत्ति कई लोकहित के कार्यों में लगाई गई। पेचापा कालेज उन्हीं के द्वारा प्रदत्त धन से स्थापित और अब तक उसी से परिचालित होता आ रहा है। मद्रास में मैंने महारानी विक्टोरिया की संगमरमर से बनी मूर्ति देखी।

मैं सेतुबांध रामेश्वरम देखने के लिए कांचिपुरम तक गया था। कांचिपुरम स्टेशन पर उतरकर मैंने शिव-कांचि और विष्णु-कांचि तीर्थों को देखा। उस जगह का सही नाम है कांचिपुरम। अंग्रेज उसे कांजिवारम कहते हैं। वहां से सेतुबांध रामेश्वरम सात-आठ घंटों के सफर की दूरी पर है। पर मेरा साथी चाकर और अधिक यात्रा के लिए राजी नहीं हुआ। मुझे लौटना पड़ा। कांचिपुरम से बेजवाड़ा के लिए टिकट लिया। बेजवाड़ा में रेल से उतरकर कृष्णा नदी में स्नान किया। कृष्णा नदी पर जो लोहे का पुल बना है उस जैसा सुंदर पुल मैंने नहीं देखा है। मार्ग में इलोर स्टेशन पर उतरा था। उसके पश्चात कटक।

सन् 1899 ई. में केंद्रपड़ा के जमींदार लक्ष्मीनारायण जगदेवजी से तार पाकर स्टीमर से केंद्रपड़ा पहुंचा। मैं 27 अक्तूबर, शुक्रवार रात के आठ बजे वहां पहुंचा। राधाश्याम नरेंद्र और गौरीश्याम नरेंद्र दोनों सहोदर भाई थे। निम्न वंशलता के अनुसार अब तक निम्न

जमींदार हुए हैं–

राधाश्याम नरेंद्र
↓
जगन्नाथ भ्रमरवर राय
↓
बलराम भ्रमरवर राय
श्यामसुंदर नरेंद्र
व्रजसुंदर मर्दराज
वृंदावनचंद्र हरिचंदन
गोकुलचंद्र श्रीचंदन
(पांच भाई)

गौरीश्याम नरेंद्र
↓
रामगोविंद जगदेव
↓
लक्ष्मीनारायण जगदेव

मैंने वहां पहुंचकर देखा, केंद्रपड़ा के जमींदार लोग नासिकाग्र तक ऋण-सागर में डूबे हुए थे। अत्यधिक देव और अतिथि-सेवा के कारण उनका यह भाग्य-विपर्यय हुआ था।

देव-सेवा के विषय को लेकर दोनों जमींदार-परिवारों में मुकाबला होता था। फागुन पूर्णिमा के उत्सव के समय पर किसी ने आकर खबर दी–"हुजूर, बड़े बाबू ने आज ही आदेश दिया है, दोलोत्सव के लिए पांच दल गोटिपुअ[1] नाच वाले आएंगे।" इसका उत्तर इस प्रकार होता–"क्या कहा, तब अपने लिए सात लाए जाएंगे।" तब उस आदमी का कहना था–"जी, उनके आदमी पहले जाकर अच्छे-अच्छे दलों के साथ बात कर लेंगे। पेशगी की व्यवस्था हो। मैं इसी रास्ते से दौड़ता हुआ पहले पहुंचूंगा और पेशगी देकर बात पक्की कर आऊंगा। इससे उन्हें अच्छे-अच्छे दल मिलेंगे नहीं।" यही कहकर वही आदमी पेशगी की रकम लेकर निकलता। खर्च क्या हुआ–यह समझने-जाननेवाला कौन था ?

एक दिन एक ब्रजवासी साधु आ धमका। साधु-दर्शन होते ही सामंत जमींदार ने साष्टांग प्रणाम किया। तब और लोग कैसे रह पाते ? सभी भक्ति और प्रेम से चरणों में लोट गए। संध्या-समय देवता के समक्ष कीर्तन हुआ। कीर्तन समाप्त होने के पश्चात साधु ने बताया, "देखिए, प्रभु का श्रीमुख कैसा उज्ज्वल दिखता है !" सभी भक्तों ने कहा–"हां, सचमुच उज्ज्वल दिखाई पड़ रहा है।" पास ही मेरा डेरा था। समाचार पाकर मैं भी वहां पहुंचा, पर वहां कोई ज्योति नहीं देखी। साधु ने कहा, "वृंदाबनधाम में गोचारण के समय प्रभु के श्रीमुख से वैसी ही ज्योति फूट रही थी।" निश्चित हुआ, अगले दिन प्रभु का गोचारण-लीला-उत्सव संपन्न होगा। दूसरे दिन मिट्टी के कई गाय-बछड़े लाए गए। कृष्ण-मूर्ति और ग्वाल-बालों की लकड़ी की मूर्तियां लाई गईं। इस उत्सव के लिए लगभग साठ-सत्तर रुपये लगे। खजाना तो खाली था ही। काफी ऊंचा ब्याज देकर उधार लाया गया। वहां स्थिति इस प्रकार की थी।

---

1. वह नाच जिसमें स्त्री की वेशभूषा पहनकर सुंदर-सुंदर किशोर नाचा करते हैं। यह नृत्य और संगीत विशुद्ध शास्त्रीय ओडिसी होता था। अब इसमें आधुनिकता की मिलावट दिखाई देने लगी

केंद्रपड़ा के इस प्रख्यात राजवंश पर विपत्ति का प्रमुख कारण था–चातुर्मास के समय साधु-सत्कार। इसके लिए उनकी प्रसिद्धि भारत भर में थी, अत: भारत भर के जितने भांड, दुष्ट, आलसी और ढोंगी असाधु थे, साधु बनकर केंद्रपड़ा पहुंच जाते थे। साधु बनना कोई कठिन काम नहीं है। बरगद के गोंद से बाल चिपकाकर जटा बना लेने के पश्चात शरीर पर कर्दम-भस्म लेप लेने भर से आदमी साधु बन जाता है। उन जैसे लोगों के लिए बित्ते-भर के कपड़े का कोपीन बना लेना आसान काम है। आषाढ़ के प्रथम दिवस से पुण्यमास कार्तिक तक साधुओं के लिए विश्राम का समय होता था। उनकी सेवा-व्यवस्था इस प्रकार की थी–भात, दाल, रोटी और सब्जी-तरकारी आदेश मात्र से पहुंच जाना चाहिए। उसके अलावा देवताओं के लिए पूड़ी, मालपुए और लड्डू की व्यवस्था जरूरी थी। गांजा, भांग, हुक्का, तंबाकू आदि तो साधुओं की नित्य सेव्य वस्तुएं थीं। उस पर केंद्रपड़ा से चलने वाले साधु-महात्मा तीर्थ-यात्रा पर रवाना होते थे। राह-खर्च और कपड़े, कंबल आदि की व्यवस्था तो नितांत आवश्यक थी ही।

जमींदार की साधु-सेवा से कुछेक साधु तो साहूकार बन गए थे। जमींदार के घर से चावल, दाल, मैदा, चीनी, घी भेजने का प्रबंध था। दाल-चावल से पेट भर जाता था। घी-मैदे को बाजार में बेचकर पैसे हथिया लेते। इसी उपाय से पैसे जुटा-जुटा कर, उसी को जमा-पूंजी बनाकर जमींदार ही को रुपये उधार देते थे। जब मैं केंद्रपड़ा में था तब वैसे दो साधु-साहूकार उपस्थित हुए। उन दोनों ने जमींदार-सामंत को पांच-पांच सौ रुपये उधार दिए थे। उन्होंने बताया कि वे किसी साधु-दल के साथ आए हुए हैं और वह दल कटक में टिका हुआ है। उन्हें मूल और ब्याज मिल जाने पर वे चले जाएंगे। देर होगी तो कटक में रुके हुए साधु-महात्मा भी केंद्रपड़ा चले आएंगे। उस दल में लगभग साठ साधु थे, हाथी-घोड़े और ऊंट भी थे। अब बड़ी विपदा आ पड़ी। वह साधु-दल अगर केंद्रपड़ा आ पहुंचे तो रोज उनके लिए कम-से-कम सौ रुपये लगेंगे। खजाना तो खाली था। काफी प्रयास से जैसे-तैसे कर्ज-उधार लेकर ब्याज भर दिया और मूल रकम के लिए एक नया तमस्सुक लिखवाया। सुना, ये दोनों साधु-साहूकार पिछले दस-बारह सालों से नियमित आ कर चातुर्मास अतिथियों के रूप में ठहरते थे और वहीं से उपार्जित धन से अब साहूकार बने हुए हैं। तीन साल पहले मैंने एक सरकारी विवरण पढ़ा था, जिसमें यह बताया गया था कि भारत भर में उनतालीस लाख साधु हैं।

मैंने केंद्रपड़ा में रहकर जमींदारी के आय-व्यय के हिसाब और लेन-देन के बारे में तहकीकात की। उससे पता चला कि आय से साहूकारों से लिए गए कर्ज चुकाने पर ब्याज के पश्चात थोड़ी-सी रकम बच जाती थी। जमींदारी के बिकने पर ही मूल रकम अदा होगी, इसके अलावा और कोई उपाय नहीं था। उस पर लगभग एक लाख रुपये के लिए मुकदमा अदालत में था। मैंने सोचा, साहूकारों को ब्याज भर देकर बाकी रकम से काम चलाने को जमींदार साहब राजी हो जाएं, तब जमींदारी का कुछ भाग बेचकर, डिक्री की रकम

चुका देंगे और बाकी जमींदारी कलकत्ते के किसी साहूकार के पास गिरवी रखकर कम ब्याज पर पैसे लेकर धीरे-धीरे दूसरे कर्ज चुका देंगे। मैंने अच्छी तरह हिसाब लगा कर देखा कि सिर्फ इसी उपाय से आधी जमींदारी बचाई जा सकती थी। पर मेरी सुझाई व्यवस्था के अनुसार कार्य न कर, जमींदार साहब पहले की भांति सब काम करते रहे। मुझे उन्होंने साफ-साफ सुना दिया कि वे किसी भी तरह देव-सेवा पर खर्च कम नहीं कर सकेंगे। मैं केंद्रपड़ा में सिर्फ नौ महीने रहा। जमींदारी की रक्षा करने का कोई उपाय न देख, काम छोड़कर कटक चला आया।

केंद्रपड़ा से आते समय मेरी उम्र 57 साल की थी। इसके पश्चात मैंने और कहीं भी नौकरी नहीं की। अब आकर अपने कटक के बाखराबाद वाले मकान में रहने लगा। काफी तलाश और कोशिश से मुझे बाखराबाद वाली वह जगह मिली थी। उस पर बड़ी तकलीफ़ से मकान बनवाया था। घर के चारों ओर अनेक पुष्प और फलदार वृक्ष लगवाए थे जिससे वे कुंज-से प्रतीत होते थे। उन कुंजों के कारण वह क्षुद्र मकान बड़ा मनोहर लगता था। उसी मकान में मेरे अंतिम जीवन की अनेक कविताएं लिखीं गई थीं। कभी रजनीगंधा, कभी गुलाब पर नजर पड़ी तो उन पर कविता लिखने बैठ जाता। कई महीनों तक ध्यान से देखा कि सुबह ठीक नौ बजे कहीं से दो हलदी-बसंत आते और क्रीड़ारत रहते। उन चिड़ियों की जोड़ी पर भी मैंने कविता लिखी। दो कपोत आकाश में कैसे एक-दूसरे से सटकर उड़ गए, उस पर एक कविता लिखी; संध्या के समय काठयोड़ी पत्थर के बांध पर बैठे हुए मन में जो भावनाएं जागीं, उसी को लिपिबद्ध कर दिया कविता में। मैंने उन कविताओं को संगृहीत कर 'अवसर वासरे' नामक कविता-संग्रह प्रकाशित किया था।

बालेश्वर में शिक्षक-रूप में कार्य करते समय मुझमें कविता लिखने की प्रवृत्ति थी। वहां के प्रेस से एक मासिक पत्र निकलता था। मैं उसी में मनोरंजक कविताएं लिखता था। उसी बोधदायिनी पत्रिका में मैंने एक कहानी लिखी थी। उसका नाम था 'लछमनियां'। शायद वही ओड़िआ में प्रथम मुद्रित कहानी है। लोगों ने उसे शौक से पढ़ा। पर कितनों ने ! मैं बालेश्वर से आकर जब रजवाड़ों में काम करने चला गया, तब मेरी साहित्य-रचना बंद हो गई। लिखना लगभग आठ-दस साल बंद रहा। जब ढेंकानाल में था तब मेरे प्रथम पुत्र के मर जाने के कारण, अपनी पत्नी को सांत्वना देने के लिए रामायण का अनुवाद-कार्य आरंभ किया था। द्वितीय पुत्र के जन्म के समय अर्थात सन् 1881 ई. में मैंने महाभारत का अनुवाद-कार्य आरंभ किया। सन् 1902 में उसने बी.ए. पास किया। उसी वर्ष अठारह पर्वों के अनुवाद समाप्त हुए। मेरे डोमपड़ा में दूसरी बार काम करते समय मेरी पत्नी कृष्णाकुमारी की मृत्यु हुई। उस समय की मानसिक यातनाओं को मैंने 'पुष्पमाला' और 'उपहार'—इन दोनों पुस्तकों में प्रकाशित किया है। कटक में निवास के समय मैं उपनिषद पढ़ता था और उसका ओड़िआ पद्यानुवाद करता था। पैर दुखने की बीमारी मेरी चिर-सहचरी है। बालेश्वर के एक प्रख्यात जमींदार का पुत्र पूर्णचंद्र दास मेरे साथ कटक में रहकर

एफ.ए. में पढ़ता था। मेरे पैर में तकलीफ और सूजन होने पर उसने मेरी बड़ी सेवा की थी। उपनिषदों के अनुवाद के समय भी उसने मेरी बड़ी सहायता की। मैं रोग-शैया पर पड़े-पड़े अनुवाद करता। मैं कविता कहता जाता और वह लिपिबद्ध करता जाता था। उस समय पूर्णचंद्र ने मदद न की होती तो उपनिषदों के अनुवाद के प्रकाशित होने की संभावना ही नहीं रहती।

कटक में रहते समय मैंने उपन्यास लिखना आरंभ किया। मैंने पहले 'रेवती' नामक एक कहानी लिखी। 'उत्कल साहित्य' में प्रकाशित करने के लिए संपादक को दे दी। उस समय मैं जो भी कहानी-उपन्यास लिखता था वह सब मेरे अपने नाम से प्रकाशित न हो कर 'धूर्जटी' नाम से प्रकाशित होते थे। यह उपनाम मेरे प्रिय बंधु मधुसूदन राव ने चुना था। उसके पश्चात मैंने 'छमाण आठ गुंठ' नामक एक कहानी लिखना आरंभ किया। वही कहानी बढ़ते-बढ़ते उपन्यास बन गई। इसके बाद 'अपूर्व मिलन' नामक एक उपन्यास लिखना आरंभ किया था। वह उसी नाम से 'उत्कल साहित्य' में प्रकाशित होता था। उस उपन्यास के स्वतंत्र पुस्तक रूप में छपते समय उसका नाम 'लछमा' रखा। मेरी कहानी और उपन्यासों को पढ़कर पाठकगण विशेष प्रसन्न हुए थे। 'छमाण आठ गुंठ' को वे विशेष आग्रह से पढ़ते थे। उसके पात्र रामचंद्र मंगराज संबंधी मुकदमे का विवरण जब 'उत्कल साहित्य' में प्रकाशित होता था, तब देहातों से कई लोग अदालत में मुकदमे की पैरवी देखने-सुनने के लिए कटक आए थे।

सन् 1905 ई. में मेरा पुत्र सब-डिप्टी बनकर बालेश्वर गया। उस समय मैं भी कटक छोड़कर बालेश्वर चला गया।

34. बालेश्वर–निवास

मैं 1905 में बालेश्वर आया। 13 साल तक यहीं रहा। मेरी पत्नी कृष्णाकुमारी काफी दिन हुए मुझे छोड़कर चली गईं। मेरा पुत्र कार्योपलक्ष से अन्यत्र रहता था। मेरी पुत्र-वधू मेरे बालेश्वर-निवास के अधिकांश समय प्रवास में रही। बंधु-परिजनों से दूर दीर्घ 13 सालों से मैं लगभग अकेला हूं। सदैव अकेले रहना मेरे भाग्य में लिपिबद्ध है। बचपन में पितृ-मातृहीन था, यौवन काल में पत्नी से अलग दूर प्रवास में रहा। अब वार्धक्य में भी संतानों से विच्छिन्न होकर निर्जन निवास कर रहा हूं। अकेले रहने के कारण चिंतन के लिए काफी समय पाता हूं। मैं सदा से रुग्ण रहा हूं, अत: कर्म-पटु नहीं हूं। पर व्याधि और विपदा के समय मेरी रचना अच्छी होती है। मेरे उद्यान के बीच कृष्णाकुमारी समाधि मंदिर और घर के समीपवर्ती 'शांतिकानन' नामक उपवन ने मेरे निर्जन वास के समय मुझे काफी शांति दी है। इसी शांति और निर्जनता की गोद में मैंने अपने अंतिम ग्रंथों की रचना की। 'मामु', 'प्रायश्चित', 'बौद्धावतार काव्य' और मेरा यह 'आत्म-जीवनचरित' रचनाएं उसी समय की हैं।

मेरे इस एकांतवास के समय कवि नंदकिशोर बल बालेश्वर जिला स्कूल के प्रधानाध्यापक के रूप में आए। दोनों साथ-साथ रहने लगे। गर्मियों के दिनों में घर के आंगन में कुर्सियां डालकर संध्या से रात के नौ-दस बजे तक बतियाते रहते थे। अधिकतर हमारी बातचीत का विषय उत्कल साहित्य ही होता। हमारे एक साथ रहते समय अनेक कहानी और कविताएं लिखी गई थीं। किंतु उनका साथ थोड़े समय ही रहा, क्योंकि कुछ समय बाद वे अन्यत्र चले गए। उस प्रकार का पवित्र और सुखमय समय मेरे जीवन में फिर नहीं जुटेगा। दोनों साहित्य-चर्चा में लगे रहते थे। दोनों की इच्छा मातृभाषा की उन्नति थी। फिर दोनों 'मन्द: कवि यशप्रार्थी'। मेरे लिए वह अच्छा समय सौभाग्य से ही मिला था।

सन् 1909 की जुलाई में मैं बीमार पड़ गया। मेरे गुमाश्ता श्रीकंठ पट्टनायक ने औषध-विश्वास से जल के साथ अमिश्रित गंधक का अम्ल (अनडाइल्यूटेड सल्फ्यूरिक एसिड) पीने को दिया। यह एक जीवनघाती अग्निमय पदार्थ है। जल के साथ मिलाने से यह दवा का कार्य करता है। पर जल और इसका रंग समान होने के कारण अम्ल को देखकर कोई यह नहीं बता सकता कि इसके साथ जल मिलाया गया है या यह अमिश्रित या विशुद्ध अवस्था में है। इसलिए उस विष का पान करते समय मुझे सही स्थिति का पता नहीं था। उसे पीते ही जीभ से पेट तक जल उठा। असिस्टेंट सर्जन ने मेरे जीवन की आशा छोड़ दी थी। उस समय मुझे होश तो था, पर अंग-संचालन की शक्ति नहीं थी मुझ में। मैं भी जीवन की आशा छोड़कर पड़ा रहा था। स्थिर भाव से ईश्वर पर ध्यान लगाए था। अपनी

पुत्र-वधू की सेवा-शुश्रूषा के फलस्वरूप मैं बच गया।

उस घटना के ठीक दो वर्ष पश्चात मुझे पृष्ठव्रण (कार्बंकल) की पीड़ा हुई। पृष्ठव्रण अति भीषण व्याधि है। पर पीड़ा के पूर्व-लक्षणों के पता चलते ही इलाज आरंभ हो जाने के कारण वह घातक और यंत्रणादायक नहीं बन पाई। चिकित्सा चल रही थी। उस समय एक दिन सुबह महाराज बैकुंठनाथ दे बहादुर दो पत्ते लेकर मेरे पास पहुंचे। उन्होंने कहा–"फकीरमोहन बाबू, यह 'गुहालिआ पत्र' है। इसे आप व्रण पर लगाएं, जरूर अच्छा हो जाएगा।" मैंने भी उसे लगाने की स्वीकृति दी। महाराज ने मेरे साथ देर तक बातें कीं और विदा लेकर चलते समय उन्होंने कहा–"फकीरमोहन बाबू, मैं कलकत्ता जा रहा हूं। लौटने पर मुलाकात होगी।" हाय, बालेश्वर के लिए कैसी दुर्भाग्य की बात है ! वे फिर लौटे नहीं। वहां से जाते ही वह बीमार पड़ गए और उनका निधन हो गया। मैंने यह खबर रोग-शैया पर पड़े-पड़े सुनी। महाराज की तरह परोपकारी व्यक्ति बहुत कम हैं। मेरी पीड़ा या विपदा के बारे में सुनते ही वे दौड़े आते थे। सिर्फ मेरी बात नहीं, शहर में किसी भी भद्र व्यक्ति के बारे में सुनते ही वे दौड़ते-से जाते और सहायता करने को तैयार रहते। बालेश्वर में शिक्षा-विस्तार, उत्कल भाषा की उन्नति, साधारण जनहितकर कार्यों में महाराज अग्रगण्य थे।

महाराज के साथ बातचीत के दूसरे दिन ही 'प्रवासी' नामक बंगला मासिक पत्र में आयुर्वेदिक चिकित्सा संबंधी एक सुंदर निबंध देखा। उसी में एक जगह लिखा था–'गुहालिआ नामक लता के पत्र-प्रलेप से पृष्ठव्रण ठीक हो जाता है, यह प्राचीन ऋषियों को पता था।' मैंने गुहालिआ लता ढूंढ़ने की व्यवस्था की थी। तब मेदिनीपुर-निवासी जमींदार द्वारकानाथ माइति मुझे देखने आए। उन्होंने बताया कि ' पानी शिउली' पत्र से उनकी किसी आत्मीया का पृष्ठव्रण ठीक हुआ था। मेरे ही तालाब में शैवाल-जाति की वह लता थी। लाकर उसी का प्रलेप लगवाकर बांध दिया। थोड़े ही दिनों में क्षत स्थान पर कुछेक छिद्र रहे। उन्हीं छिद्रों के रास्ते पीप निकल आता था। भगवान की दया से मैं धीरे-धीरे ठीक हो गया।

मैं सदा ही किसी-न-किसी रोग से घिरा रहा। सुख भोग करना मेरे भाग्य में कहां ? पृष्ठव्रण से मुक्ति पाई ही थी कि दस-बारह महीने बाद 'ऊरुस्तंभ' से आक्रांत हुआ। मेरे बाईं जांघ के कुछ अंश सूज गए और वहां से पीप निकलने लगा। काफी दिन बिस्तर पर पड़ा रहा। मेरी उस व्याधि के समय अनेक व्यक्तियों ने मेरी सहायता की। महाराज बैकुंठनाथ दे के उत्तराधिकारी कुमार मन्मथनाथ दे मुझे देखने और मेरी खोज-खबर लेने रोज सुबह आते थे और दवाखाने से दवाई ले आते थे। एक दिन मौलवी अशरफ अली काव्यरत्न मेरे लिए कलकत्ता से मेवा लेकर पहुंचे। पहले जब मैं विष पीकर बिस्तर पर पड़ा था, तब उत्कल के प्रख्यात युवा लेखक और मेरे मित्र मृत्युंजय काव्यतीर्थ वाणीभूषण मुझे देखने कटक से आए थे। इस बार भी इस भीषण व्याधि से मुझे छुटकारा मिला।

सन् 1915 ई. में निःस्वार्थ उत्कल-हितैषी उत्कल के परम सेवक, बिहार-उत्कल

साधारण परिषद के अन्यतम सदस्य गोपबंधु दासजी कलकत्ता से लौटते समय मेरे घर पर दो दिन के लिए ठहरे थे। सुबह मुझसे विदा लेते समय देखा कि वे स्थिर भाव से खड़े हैं और मुझे ध्यान लगा कर देख रहे हैं। उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी। कुछ समय पश्चात संभलकर उन्होंने धीरे-धीरे मुझसे कहा–"मैंने दो दिन के लिए यहां रहकर स्थिति देखी। आप अत्यंत दुर्बल हो गए हैं। निःसहाय और अकेले हैं। नौकरों की सेवा आपके लिए पर्याप्त नहीं है। आपकी सेवा और सहायता के लिए किसी आत्मीय व्यक्ति का पास रहना जरूरी है।" देशवासियों की इसी तरह की सहानुभूति ही मेरे अंतिम जीवन में मुझे सांत्वना प्रदान करती रही।

मेरे अंतिम समय में देश ने मेरी अकिंचन साहित्य-सेवा और देश-सेवा के लिए मुझे पर्याप्त रूप से पुरस्कृत किया है। 1916 ई. में मुझे बामंडा से 'सरस्वती' उपाधि मिली। सुरतरंगिणी सारस्वत समिति ने मुझे उस उपाधि से भूषित किया। राजा सच्चिदानंद त्रिभुवनदेव उस सभा के सभापति थे। सन् 1917 ई. के अंतिम भाग में कटक में उत्कल भाषा-भाषियों का जो सम्मेलन हुआ था, उसके लिए मुझ जैसे अधम व्यक्ति को सभापति बनाकर देशवासियों ने मुझे अत्यंत अनुगृहीत किया है। भक्ति-भाव से प्रणत होकर मैं अपने पाठक-पाठिकाओं से और हितैषी देशवासियों से विदा ले रहा हूं।

(मृत्यु : 14 जून, 1918)

मुद्रक : प्रिंटसमैन, १८/११, डोरीवालान, न्यू रोहतक रोड, दिल्ली-११०००५